प्रसिद्धवक्ता श्रद्धेय श्री ज्ञानमुनिजी महाराज

लेखन-कार्य करते हुए

दानवीर सेठ मानसिंह जी जैन देहली

• वन्दे वीरम् •

ज्ञान का अमृत

[आठ कर्मों का संक्षिप्त विवेचन]

लेखक—

जैन-धर्म-दिवाकर, आचार्य-सम्राट् परम श्रद्धेय गुरुदेव

पूज्य श्री आत्माराम जी महाराज

के सुशिष्य

प्रसिद्धवक्ता श्री ज्ञानमुनि जी महाराज

प्रकाशक—

आचार्य आत्माराम जैन मॉडल स्कूल

२९-डी, कमला नगर

देहली-७

किस को ?

जिन की अध्यात्म साधना

तथा आदर्श ज्ञान-आराधना

के अनुपम प्रकाश को पाकर

मैं अपनी जीवनयात्रा में

चलता चला आ रहा हूं

उन

परम श्रद्धेय जैन-धर्म-दिवाकर, आचार्य-सम्राट्

गुरुदेव पूज्य श्री आत्माराम जी महाराज

के पवित्र स्मृति-चरणों में

स वि न य

स भ क्ति

स म र्पि त

—ज्ञान मुनि

अपनी बात

विक्रम सम्वत् २०२५ में हमारा चातुर्मास खरड़ में था। वहां पर चातुर्मास-काल में-"ज्ञान का अमृत" नामक पुस्तक उर्दू-भाषा में तैयार की गई थी। इस में ज्ञानावरणीय आदि आठ कर्मों का संक्षेप में विवेचन किया गया था। इस को ऊर्दू-भाषा में लिखने का कार्य हमारे परमस्नेही श्रावक मान्य मास्टर पन्नालाल जी जैन ने सम्पन्न किया था। मास्टर जी खरड़ जैन-समाज के प्रमुख कार्य-कर्त्ताओं में से एक जाने-माने और समाज-सेवी कार्यकर्त्ता हैं। खरड़ जैन-समाज के २० वर्ष तक आप प्रधानमंत्री रहे हैं, जैन-धर्म के परम श्रद्धालु तथा सन्तजनों के परमभक्त श्रावकों में आप का एक विशिष्ट स्थान है। "ज्ञान का अमृत" को उर्दू-भाषा में अनुवाद करने का आप को ही श्रेय प्राप्त है। इस पुस्तक के प्रकाशक सेठ दानवीर गंगाराम जैन सराफ थे। सेठ जी स्वभाव से मिलनसार और बड़े उदारचेता हैं। खरड़ जैन-समाज के प्रतिष्ठित और सम्मानास्पद व्यक्ति है। सामाजिक उन्नति में आप अपने धन का सदा सदुपयोग करते रहते हैं। जैन-स्थानक खरड़ की बरसाती भी आपने ही बनवाई थी? "ज्ञान का अमृत" उर्दू का प्रकाशन भी आपने ही करवाया था। मेरे मन में इस पुस्तक को लिखने का कोई संकल्प नहीं था परन्तु यह सब कार्य हमारे दानवीर सेठ गंगाराम जी जैन की सत्प्रेरणा से ही सम्पन्न हुआ था।

विक्रम संम्वत् २०२८ का चातुर्मास दिल्ली सदर बाज़ार में हो गया है। व्याख्यान में कर्मवाद सुनाया जा रहा था। वैसे तो दिल्ली सदर बाज़ार के सभी श्रावक कर्मवाद के व्याख्यान में रस ले रहे थे किन्तु हमारे धर्मप्रेमी सुश्रावक सेठ मानसिंह जी जैन देखने में अत्यधिक प्रभावित प्रतीत हुए। सेठ मानसिंह जी जैन प्रोपराइटर मानसिंह नरेन्द्र कुमार जैन, कटरा लेशवान, चान्दनी चौक, दिल्ली-६, से मैं सर्वथा अपरिचित था परन्तु जब इन से एक बार वार्तालाप करने का अवसर मिला तो मुझे इन को निकट से देखने का मौका मिला। उसी आधार पर मैं यह बिना किसी संकोच से कह सकता हूँ कि सेठ मानसिंह

जो बड़े निष्ठावान और श्रद्धावान श्रावक हैं। जीवन धार्मिकता के रंग से रंगा हुआ है। धार्मिक प्रभावना की ओर इनका विशेष झुकाव है। दान-धर्म की आराधना में भी किसी से पीछे नहीं हैं। समय-समय पर हज़ारों का दान देते रहे हैं, वह भी गुप्त रूप से, जहाँ तक इनका वश चलता है अपने दान को प्रकट नहीं होने देते। वार्तालाप के समय इन्होंने मुझ से एक आशा व्यक्त की। आप बोले—व्याख्यान में कर्मवाद को लेकर जो विवेचन चल रहा है, उसे मैं एक पुस्तक के रूप में देखना चाहता हूँ। सेठ मानसिंह जी की बात सुनकर मैंने कहा—खरड़-चातुर्मास में दानवीर सेठ गंगाराम जी जैन सराफ ने "ज्ञान का अमृत" यह पुस्तक प्रकाशित की थी। इसमें कर्मवाद का ही संक्षेप में विवेचन किया गया था परन्तु अब यह पुस्तक समाप्त हो गई है। यदि कोई चाहे तो यह पुस्तक दूसरी बार छप सकती है। मेरी यह बात सुनने की देर थी, इन्होंने कहा कि यह सेवा मैं कर दूंगा। मेरे-"सेठ साहिब! सोच लें, हज़ारों का खर्च है" ऐसा कहने पर आप तत्काल बोले-खर्च की कोई चिन्ता नहीं है। यह सेवक हर तरह से तैयार है। सेठ मानसिंह जी की उदारतापूर्ण यह बात सुनकर मैंने कहा-यदि आपकी इतनी ऊँची भावना है तो आपकी भावना को साकार बनाने का प्रयास किया जाएगा। परिणामस्वरूप पुस्तक का लेखन-कार्य आरम्भ कर दिया गया। लगभग तीन महीनों में पुस्तक तैयार हो गई। इतनी जल्दी पुस्तक के तैयार हो जाने की कोई आशा नहीं थी किन्तु मैं तो इसे अपने परम आराध्य, जैन-धर्मदिवाकर, साहित्यरत्न, जैनागम-रत्नाकर, चारित्र-चूड़ामणि, आचार्य-सम्राट् परमश्रद्धेय गुरुदेव पूज्य श्री आत्माराम जी महाराज का कृपाकटाक्ष ही मानता हूँ। गुरुदेव के प्रताप से ही इतनी जल्दी यह पुस्तक लिखी जा सकी है। पहले यह पुस्तक उर्दू-भाषा में थी। और काफी संक्षिप्त थी किन्तु अब इसकी रचना हिन्दी में की गई है और पूर्वापेक्षया इसे काफी सम्वर्धित कर दिया गया है।

पुस्तक की रचना में जिन-जिन ग्रन्थों का उपयोग कर रखा है, यथास्थान उनके नाम का निर्देश करने का प्रयास किया गया है। तथापि बीकानेर से प्रकाशित श्री जैन-सिद्धान्त-बोलसंग्रह [सात भाग], पण्डित श्री सुखलाल जी द्वारा अनूदित श्री तत्त्वार्थ सूत्र तथा आगरा से प्रकाशित कर्म-ग्रन्थ से विशेष

रूप से सहायता ली गई है। कहीं-कहीं तो इन पुस्तकों के कुछ अंश ज्यों-के-त्यों उठाकर इस पुस्तक में दे दिए गए हैं। मैं इन सब पुस्तक-लेखकों तथा इनके प्रकाशकों का हृदय से आभारी हूँ।

प्रस्तुत पुस्तक की रचना में अपने प्रिय शिष्य श्री भगवद् मुनि जी के सहयोग को भी भुलाया नहीं जा सकता। मुनि जी आजकल एकान्तर तप कर रहे हैं, साथ में हिन्दी-भाषा का अध्ययन भी चल रहा है तथापि मेरी सेवा का पूर्णरूप से ध्यान रखते हैं। इनकी सेवावृत्ति के कारण ही मैं पुस्तक-निर्माण में अधिकाधिक समय दे पाया हूँ। अतः मुनि जी की सेवाभावना इस पुस्तक के साथ सदा सम्बद्ध रहेगी।

पुस्तक के प्रूफ लाने तथा लेजाने में श्री राजकुमार जी अग्रवाल, तथा श्री नरेन्द्र कुमार जी अग्रवाल जैन का सहयोग सदा संस्मरणीय रहेगा। इसके अतिरिक्त, मान्य श्री पण्डित जगप्रसाद जी त्रिपाठी धर्माध्यापक- श्री जैन श्रमणोपासक हायर सैकण्ड्री स्कूल, रूई मण्डी, सदर बजार, देहली—६, अत्यधिक व्यस्त रहने पर भी पुस्तक की पाण्डुलिपि को देखते रहे, आवश्यक परामर्श भी देते रहे, अतः इनका भी मैं धन्यवादी हूँ।

अन्त में, पाठकों से सादर निवेदन है कि पुस्तक में यदि कोई सैद्धान्तिक त्रुटि दिखाई दे तो वे मुझे संसूचित करने का कष्ट करें ताकि अग्रिम संस्करण में उसका संशोधन कर दिया जाए। धन्यवाद।

जैन-स्थानक
सदर बाज़ार
देहली-६
१४-१०-७१

—ज्ञानमुनि
जैनस्थानक,
सदर बाज़ार, दिल्ली-६

धन्यवाद

हमारा सौभाग्य है कि जैनधर्म-दिवाकर आचार्य-सम्राट् पूज्य श्री आत्मा-राम जी महाराज के सुशिष्य प्रसिद्धवक्ता, पण्डितरत्न श्रद्धेय श्री ज्ञानमुनि जी महाराज तथा इनके सेवाभावी शिष्य श्री भगवद् मुनि जी महाराज का चातुर्मास इस वर्ष सदर बाजार दिल्ली में हुआ। इस चातुर्मास में महाराज श्री जी ने जैन-दर्शन के कर्मवाद की गम्भीरता का बड़ी प्राञ्जल भाषा में विवेचन किया है, इन की ऊँची उड़ान को देखकर प्रत्येक व्यक्ति आश्चर्य-चकित हो उठता था। दानवीर सेठ मानसिंह जी जैन प्रोपराइटर श्री मानसिंह नरेन्द्र-कुमार जैन, कटरा लेशवान, चान्दनी चौक, दिल्ली—६ की प्रार्थना पर महाराज श्री ने इसी कर्मविवेचन को "ज्ञान का अमृत" इस पुस्तक के रूप से सम्पादित करने का अनुग्रह किया है और साथ ही दानवीर सेठ मानसिंह जी ने स्वयं इस पुस्तक को अपनी लागत से छपवाकर जैन-दर्शन के गम्भीर कर्मसिद्धान्त को आप लोगों तक पहुँचाने की बड़ी उदारता प्रदर्शित की है। परिणामस्वरूप हम सब सर्वप्रथम प्रसिद्धवक्ता पण्डितरत्न श्रद्धेय श्री ज्ञानमुनि जी महाराज के अत्यधिक आभारी है, जिन्होंने चातुर्मास-काल में जैन-दर्शन के कर्म-सिद्धान्त को व्याख्यान में सुना कर हमें अनुगृहीत किया और साथ में अत्यधिक व्यस्त रहने पर भी "ज्ञान का अमृत" इस पुस्तक की रचना करके जैन-साहित्य की सेवा का महान स्तुत्य प्रयास किया। "ज्ञान का अमृत" यह पुस्तक गागर में सागर की उक्ति को सवा सोलह आने चरितार्थ कर रही है, और जो व्यक्ति जैन-दर्शन के कर्मवाद का अध्ययन करना चाहता है, उसके लिए यह पुस्तक प्रकाशस्तम्भ का काम देगी, ऐसा हमारा दृढ़ विश्वास है। इसके साथ-साथ हम सेठ मानसिंह जी जैन के भी अत्यधिक धन्यवादी हैं, जिन्होंने अपनी नेक कमाई का सदुपयोग करके इस पुस्तक को छपवाया, और जैन तथा जैनेतर जनता को भगवान महावीर के कर्म-सिद्धान्त को जानने का बड़ा सुन्दर अवसर प्रदान किया। एक बार फिर सबका धन्यवाद।

प्रार्थी—मुकुन्दलाल जैन

प्रधान—

आचार्य आत्माराम जैन मॉडल स्कूल

२९—डी, कमला नगर, दिल्ली—

लेखक की रचनाएँ

१. श्री विपाक सूत्र, हिन्दी-भाषाटीका-सहित।
२. श्री अन्तगड सूत्र, जैनधर्म-दिवाकर, आचार्य-सम्राट् पूज्य श्री आत्माराम-जी महाराज द्वारा कृत अनुवाद का सम्पादन।
३. अनुयोगद्वार सूत्र, हिन्दी-भाषा-टीकासहित, प्रथम भाग।
४. प्रश्नों के उत्तर, दो खण्ड।
५. भगवान महावीर के पाँच सिद्धान्त।
६. सामायिक सूत्र, हिन्दी-भाषाटीका-सहित।
७. स्थानकवासी और तेरह-पन्थ।
८. दीपमाला और भगवान महावीर।
९. दीपक के अमर-सन्देश।
१०. सम्वत्सरी पर्व क्यों और कैसे ?
११. जीवन-झांकी, गणी श्री उदयचन्द्र जी महाराज।
१२. आचार्य-सम्राट्, जीवनी-आचार्य-सम्राट् पूज्य श्री आत्माराम जी म०।
१३. ऋषिवर आनन्द, जीवनी-आचार्य-सम्राट् पूज्य श्री आनन्द ऋषि जी म०।
१४. सरलता के महास्रोत, जीवनी-तपस्वी श्री फकीर चन्द जी महाराज।
१५. भगवान महावीर और विश्वशान्ति, । हिन्दी उर्दू, पंजाबी, अंग्रेजी।
१६. ज्ञानसरोवर, भजन-संग्रह।
१७. सामायिक सूत्र, उर्दू-भावार्थ सहित।
१८. प्राकृत व्याकरण, सस्कृत-हिन्दी -टीका-द्वयोपेत (प्रैस में)
१९. ज्ञानगंगा, [भजनसंग्रह, उर्दू]
२०. ज्ञान का अमृत [आठ कर्मों का विवेचन, उर्दू]
२१. सच्चा साधुत्व, [साधुधर्म का परिचय]
२२. ज्ञान का अमृत, हिन्दी।
२३. नित्यनियम।
२४. ज्ञानभरे दोहे, [दोहा-संग्रह]
२५. ज्ञान-संगीत, [भजन-संग्रह]

प्राप्ति—स्थान
आचार्य श्री आत्माराम जैन प्रकाशन
समिति
जैन स्थानक—लुधियाना (पंजाब)

दर्शनाचार आठ

सत्य तत्त्वों और अर्थों पर श्रद्धा करने को सम्यग्-दर्शन कहते हैं। इस के चार अंग होते हैं--१-परमार्थ अर्थात् जीवादि पदार्थों का ठीक-ठीक ज्ञान करना, २—परमार्थ को जानने वाले पुरुषों की सेवा, ३—शिथिलाचारी और कुदर्शनी का त्याग और ४—सम्यक्त्व—सत्य पर दृढ़ श्रद्धान। सम्यग्-दर्शन धारण करने वाले व्यक्ति द्वारा आचरणीय बातों को दर्शनाचार कहते हैं। दर्शनाचार आठ प्रकार का होता है। जैसे कि १—निःशंकित—वीतराग भगवान के वचनों में सन्देह न करना, शंका, भय और शोक से रहित होना। सम्यक्त्वी व्यक्ति जानता है कि सुख दुःख तो अपने शुभाशुभ कर्म का फल होता है अतः वह इस लोक और परलोक का भय नहीं खाता। जीव जैसा कर्म करता है वैसा ही फल प्राप्त करता है। आत्मा अजर और अमर है। अतः इस पर सुख दुःख का कोई प्रभाव नहीं पड़ सकता, फलतः सम्यक्त्वी को वेदना-भय भी नहीं होता। सम्यक्त्वी जानता है कि वेदना शरीर का धर्म है। शरीर से आत्मा अलग है। यह समझ लेने पर सम्यक्त्वी जीव को किसी तरह की वेदना नहीं होने पाती। आत्मा को अजर, अमर समझने से उसे मरण-भय नहीं होता, आत्मा अनन्त गुण सम्पन्न है और उन गुणों को कोई चुरा नहीं सकता। यह समझने से उसे चोर-भय भी नहीं होता। जिनधर्म सब को शरणभूत है, उस को प्राप्त करने के बाद जन्म-मरण के दुःखों से अवश्य छुटकारा मिल जाता है। यह समझने से उसे अशरण-भय नहीं होता। अपनी आत्मा को परमानन्दमयी समझने से अकस्मात्-भय नहीं होता। आत्मा को ज्ञानमय समझ कर वह सदा निर्भय रहता है।

१-निःकांक्षित—सम्यक्त्वी जीव अपने धर्म में दृढ़ रहकर परदर्शन की आकांक्षा नहीं करता, अथवा सुख और दुःख को कर्मों का फल जान कर सुख की आकांक्षा न करना, तथा दुःख से द्वेष न करना। भावी सुख, धन, धान्य आदि की चाह न करना सम्यक्त्वी का दूसरा आचार होता है।

३--निर्विचिकित्सा--धर्म-फल की प्राप्ति के विषय में सन्देह न करना। कहीं पर इसके स्थान पर अजुगुप्सा यह तीसरा आचार लिखा है। इसका अर्थ है—किसी वस्तु से घृणा न करना, सभी वस्तुओं को पुद्गलों का धर्म समझ कर उन पर समभाव रखना।

४—अमूढ-दृष्टि। भिन्न दर्शनों की युक्तियों या ऋद्धियों को सुन या देख कर अपनी श्रद्धा मे विचलित न होना। अर्थात् आडम्बर देख कर अपनी श्रद्धा को डांवांडोल न करना। अथवा सम्यक्त्वी किसी भी बात में घबरावे नहीं। संसार और कर्मों का वास्तविक स्वरूप समझते हुए अपने हिताहित को समझ कर चले। अथवा स्त्री, पुत्र, धन आदि में गृद्ध न हो।

५— उपबृन्हण—गुणी पुरुषों को देख उन की प्रशंसा करे, तथा स्वय भी उन गुणों को प्राप्त करने का प्रयत्न करे, अथवा अपनी आत्मा को अनन्त गुण तथा शक्ति का भण्डार समझ कर उसका अपमान न करे। उसे तुच्छ, हीन और निर्बल न समझे।

६—स्थिरीकरण—अपने तथा दूसरे को धर्म से गिरते देख कर उपदेशादि द्वारा धर्म में स्थिर करे।

७—वात्सल्य। अपने धर्म तथा धर्म वालों से प्रेम रखे।

८—प्रभावना। सत्य-धर्म की उन्नति तथा प्रचार के लिए प्रयत्न करे, अथवा अपनी आत्मा को उन्नत बनावे।

शुभ कर्म वरदान है—

कर्म तू जैसा करेगा, वैसा ही फल पाएगा ।।
बोरहा है बीज जैसे, वैसे ही फल खाएगा ।।
जहर के जब बीज बोए किस तरह अमृत मिले ?
दुःख देकर सोच ले तू, किस तरह इठलाएगा ?
जो जलाता है किसी को खुद भी जलता है जरूर ।
खुश रहेगा किस तरह गर गैर को तड़पाएगा ? ।।
फूलते फलते न देखा जालिमों को है कभी ।
जुल्म है इक आग भीषण, सोच ले सड़ जाएगा ।।
रौंदता है क्यों किसी की जिन्दगी के फूल को ।
क्यों अकड़ता ? तेरा जीवन-पुष्प भी मुरझाएगा ।।
कर्म गर हों नेक फिर तो फल भी मिलता नेक है ।
कर्म गर खोटे करेगा फिर सदा पछताएगा ।।
शुभ कर्म वरदान है और स्रोत है सुख-शान्ति का ।
एक दिन "मुनि ज्ञान" तुझ को, मोक्ष में पहुंचाएगा ।।

कर्मचक्र की अजब कहानी—

सुनो-सुनो अब दुनिया वालो !, कर्मचक्र की अजब कहानी ।
कर्म-शक्ति बलवान जगत में, सुखदुख की है यही निशानी ।।
जीवन-नभ पर पापकर्म का बादल जब छा जाता है ।
आशादीप सभी बुझ जाते, ऐसा अन्धड़ आता है ।।
होता नष्ट प्रकाश सभी, नर पग-पग ठोकर खाता है ।
अन्धकार ही जीवन में तब भीषण शोर मचाता है ।।

दुःख शोक और रोगों का फिर गिरता है सिर पर पानी।
आकुल-व्याकुल होकर रोता चिल्लाता है यह प्राणी ।।

बुरे कर्म जब आन के घेरें, दुनिया दुश्मन बन जाती।
जिस माता ने जन्म दिया था वह भी निकट नहीं आती ।।
सब कुछ जिस पर वार दिया वह नारी आंखें दिखलाती।
जान से प्यारे लाल दुलारों को भी शकल नहीं भाती ।।
भाई बहिन पिता बहनोई मामा मामी नाना नानी।
कर्महीन का कोई न बनता दुख में बीते जिन्दगानी। सुनो...

इसी कर्म ने हरिश्चन्द्र को काशी में बिकवाया था।
दास बनाकर भंगी का फिर मरघट में पहुंचाया था ।।
विषधर बनकर इसी कर्म ने वन में रोहित खाया था।
सीता लक्ष्मण राम को इसने वन-वन में भटकाया था ।।
नहीं छोड़ता कर्म किसी को, चाहे हो कोई कितना दानी।
भूपति हो या जपी तपी हो चाहे ज्ञानी हो ध्यानी। सुनो...
गजसुकुमार के सिर पर इसने अंगीठी बनवाई थी।
खाल उतारी मुनि खन्धक की, ज़रा दया नहीं आई थी ।।
चन्दन-बाला महासती भी इसने खूब सताई थी।
वार किया जिस पर भी इस ने उस को होश भुलाई थी ।।
पापकर्म से डरते रहना, कभी न करना नादानी।
"ज्ञानमुनि" इसने ना छोड़ें महाबली योद्धा मानी ।। सुनो...

कहां क्या है ?

कर्मों के आठ भेद

दर्शनावरणीय कर्म

वेदनीय कर्म

'ज्ञान का अमृत'

सुख और जीवन—

मनुष्य-जगत का ही नहीं परन्तु जब हम प्राणि-जगत का अध्ययन करते है तो एक सत्य साकार होकर हमारे सन्मुख खड़ा दिखाई देता है, वह सत्य है-सुख की कामना । जीवन छोटा हो या बड़ा, स्वर्गीय हो या नारकीय, मनुष्य का हो या तिर्यञ्च का, इस में कोई अन्तर वाली बात नहीं है । सुख की कामना एवं आनन्द की भावना प्रत्येक जीवन में पाई जाती है, कोई जीव शान्ति-प्राप्ति की भावना से रिक्त नहीं है । अधिक क्या, स्वर्गलोक के वासी देवेन्द्र, जो सुख के, ऐश्वर्य के एवं वैभव के घर माने जाते है, वे भी सुखों के अभिलाषी है । वे भी चाहते हैं कि मुझे और सुख प्राप्त हों । कहते हैं कि एक बार स्वर्गलोक के इन्द्र मर्त्यलोक में आ गए, जब एक निर्धन को देवेन्द्र के भूमि पर आने की सूचना मिली तो वह भागा हुआ वहां पहुँचा । उसने देवराज के चरणों में प्रणाम करने के अनन्तर विनम्र शब्दों में निवेदन किया—

मान्य देवेन्द्र ! मैंने सुना है कि आप स्वर्गलोक के सम्राट् हैं । सुख का देवता आपके चरणों का दास है, किंकर है, दीन-दुःखी पर उपकार करना आपके जीवन की सब से बड़ी विशेषता है, रंक को राजा बनाना आप का बांए हाथ का खेल है, और मैंने यह भी सुना है कि आपके दरबार में कोई निराश नहीं लौटता, सब की आशाएं पूर्ण होती हैं, आप असहायों के सहायक और दीनों के कल्प-वृक्ष हैं । आज मैं भी एक छोटी सी कामना लेकर उपस्थित हुआ हूं —

सुना हमने तेरे दर से, कोई खाली नहीं जाता,
चलो क्या रंग लाता है, मुक़द्दर देख लेते हैं ।

वन्दनीय देवराज ! आशा ही नहीं, पूर्ण विश्वास है कि आपके दरबार से मैं खाली नहीं जाऊंगा, मेरी झोली में कुछ न कुछ अवश्य

डाला जाएगा। कामना भी बहुत बड़ी नहीं, बस इतनी सी कि सूई की नोक पर आने वाला मेरा दुःख आप लेलें और उसके बदले में सूई की नोक पर आने वाला सुख मुझे देने की कृपा करें। क्यों भाग्येश! मेरी प्रार्थना पूर्ण होगी ?

आगन्तुक व्यक्ति की बात सुनते ही देवराज बौखला उठे, रोषपूर्ण स्वर में कहने लगे-मैंने सोचा था, कोई अपूर्व बात कहने लगा है, पर तू तो सुख मांगता है। पगले! सुख देने की वस्तु नहीं होती, वह तो लेने योग्य तत्त्व है, मैं तो स्वयं सुख का कामुक हूं, सुख की कामना और भावना लेकर ही मैं मर्त्यलोक में पहुंचा हूं। चल, भाग यहां से, कहीं और जाकर याचना कर।

मैं कह रहा था कि सुख की इच्छा प्रत्येक जीवन में उपलब्ध होती है, सुखों के भण्डार तथा स्वर्गीय साम्राज्य के स्वामी होने पर भी देवेन्द्र सूई की नोक पर आने वाला सुख किसी को देने को तैयार नहीं, इस से स्पष्ट हो जाता है कि जगती का प्रत्येक प्राणी सुख और आनन्द के लिए चिन्तित है, शान्ति-प्राप्त करने की भावना प्रत्येक व्यक्ति में पाई जाती है।

दुःख का कारण क्या है ?

"सुख सब को अनुकूल है, दुःख सब को प्रतिकूल" इस सत्य से किसी को कोई मतभेद नहीं है। सुख सब चाहते हैं, सभी को सुख प्रिय है, यह कहना बिल्कुल सत्य है, परन्तु इस की प्राप्ति कैसे हो ?जीवन सुखी और शान्त कैसे बनाया जाए ? यह एक बड़ा विकट प्रश्न है। सुख का प्रतिपक्षी दुःख है। दुःख के नाश से सुख की उपलब्धि होती है। अतः सर्वप्रथम यह समझ लेना आवश्यक है कि दुःख कहां से उत्पन्न होते हैं ? दुःखोत्पत्ति के मूलकारण को अवगत कर लेने पर तथा उस का परित्याग कर देने से सुख का प्राप्त हो जाना स्वाभाविक ही है। दुःख क्यों उत्पन्न होता है ? यही प्रश्न एक बार विश्ववन्द्य, मंगलमूर्ति, करुणा के सागर, जैन-धर्म के चौबीसवें

तीर्थंकर भगवान महावीर के सामने इन के प्रधान शिष्य श्री इन्द्रभूति गौतम ने किया था। अनगार गौतम भगवान महावीर के सब से बड़े शिष्य थे, चौदह हज़ार साधुओं के ये नायक थे, ये सब साधु इन की देख-रेख में ही अपनी जीवन-यात्रा सम्पन्न किया करते थे, ये अपने युग के एक जाने-माने विद्वान् ब्राह्मण थे, परन्तु भगवान महावीर के अध्यात्म-पूर्ण प्रभावशाली व्यक्तित्व ने इन के जीवन की दिशा बदल दी, अन्त में ये मोह-माया के समस्त बन्धनों को तोड़ कर भगवान महावीर के चरणों में साधु बन गए, एक दिन इन्होंने ही भगवान के चरणों में विनीत प्रार्थना की—

भगवन्! इस संसार को अच्छी तरह देखा है, और गम्भीरता से इस की अन्तरात्मा के दर्शन किए हैं, पता चला है कि इस में दुःखों की आग जल रही है, कोई घर ऐसा नहीं है, जहां इस की उष्णता का अस्तित्व न हो, क्या बालक, क्या बालिका, क्या युवक, क्या युवति, क्या वृद्ध और क्या वृद्धा सभी इस उष्णता के सन्ताप से सन्तप्त दिखाई देते है, मनुष्यों की जितनी चलती-फिरती मूर्तियां दृष्टिगोचर हो रही हैं, यदि इन को दुःखों की मूर्तियां कह दें तो कोई अतिशयोक्ति प्रतीत नहीं होती। सर्वत्र दुःखों एवं संकटों का ही ताण्डव नृत्य हो रहा है।

भगवान गौतम की इस विचारणा को उर्दू भाषा के कवि ने बड़ी सुन्दरता से अभिव्यक्त किया है, वह कहता है—

हर बशर इस का मुजस्सिम शिकवाए तक़दीर है,
पत्ता-पत्ता इस चमन का दर्द की तस्वीर है।

इसी सत्यता को लेकर एक दूसरा उर्दू कवि कहता है—

ज़माना खोज कर देखा, मगर सुख न कहीं पाया,
जिसे समझे थे हम राज़ी, वही रोता नज़र आया,

कोई सन्तान बिन व्याकुल, कोई रोगों से सड़ता है,
कोई ज़र को तड़पता है, किसी को ग़म ने है खाया ।

भगवान गौतम अपनी बात को आगे चलाते हुए पुनः निवेदन करने लगे—

दयानिधे ! यह संसार जो दुःखों की आग से जल रहा है, इसका वास्तविक कारण क्या है ? क्या भगवान नाम की परम शक्ति ससार में दुःखों की वर्षा कर रही है ? या देवी-देवता इस मानवी जगत को खेदखिन्न बना रहे है ? वस्तुतः इन दुःखों की मां कौन है ? ये दुःख पैदा कहां से होते है ? आकाश से इनकी वर्षा होती हुई दिखाई नहीं देती, पाताल से निकलते हुए भी ये प्रतीत नहीं होते, फिर इन की उत्पत्ति कैसे होती है ? आज यह जिज्ञासा लेकर आप श्री के चरणों में उपस्थित हो रहा हूँ, कृपा करो, यह बतलाने का अनुग्रह करो कि दुःखों के उठ रहे भयकर तूफानों को कौन ला रहा है ?

अपने प्रधान शिष्य अनगार गौतम का उक्त प्रश्न सुन कर दया के सागर, मंगलमूर्ति भगवान महावीर फरमाने लगे—

गौतम ! जीवन में सुख और दुःख का जो चक्र चल रहा है, जीवन कभी सुखी और कभी दुःखी होता है, इस का कारण न कोई भग-वान है, न कोई ईश्वर है, और नाँही कोई देवी-देवता है । दुःख और सुख का मूल कारण तो जीव का अपना ही कर्म है। जिस परमपिता परमात्मा का चिन्तन, मनन, नाम-स्मरण मन का सन्ताप दूर करता है, +पापों का नाश करता है, जीवन को मंगलमय बना देता है, तथा हृदय में शान्ति और सुख का सञ्चार करता है, वह परम-पिता परमात्मा इस मानवी जगत को दुःखों की आग में जलाता हो, संकटों के भूकम्प ला कर उस के सुखमय जीवन को दुःखमय बना डालता हो, सुखों के झूले पर झूल रही जीवनी को नष्ट कर देता हो, जिन बच्चों ने

+ एसो पंच णमुक्कारो, सव्वपावप्पणासणो,
मंगलाणं च सव्वेसिं, पढमं हवइ मंगलं ।—आवश्यक सूत्र

जगत के वायुमण्डल में अभी प्रवेश भी नहीं किया, उनको मृत्यु की गोद में सुला देता हो, सर्वथा असंभव है, ऐसा कभी हो नहीं सकता। चन्दन और आग, इन दोनों का समागम कैसा ?, प्रकाश और अन्धकार, अमृत और विष तथा दिन और रात जैसे मिल नहीं सकते, इनकी एक स्थान पर एक साथ जैसे अवस्थिति नहीं होने पाती, वैसे भगवान और दुःख इन दोनों का भी सम्मिलन नहीं हो पाता, भगवान जगत के प्राणियों को दुःख दे, यह बात सर्वथा असंभव है। भगवान महावीर के इस मन्तव्य को एक कवि ने कविता की भाषा में ऐसे व्यक्त किया है—

राम किसी को मारे नहीं, मारे सो नहीं राम,
आप ही आप मर जायेगा, कर-कर खोटे काम।

मङ्गलमूर्ति भगवान महावीर अपनी बात को चालू रखते हुए पुनः फरमाने लगे कि हे गौतम ! स्वर्गलोक के देवी-देवता भी मूल रूप से इस जोव को दुःख नहीं दे पाते, आकाश से भी दुःखों की वर्षा नहीं होती, और नाँही पाताल को फोड़ कर दुःखों का प्रादुर्भाव होता है। वस्तुतः दुःखों का मूल कारण जीव का अपना कृत कर्म है, अपना आचरण है, अपना क्रिया-कलाप है, अपने ही कर्मों के कारण मनुष्य दुःखों के जाल में फंस जाता है, और तदनन्तर तिलमिलाने और पश्चात्ताप करने के अतिरिक्त उसके हाथ कुछ नही लगता। भगवान बोले—

तेणे जहा संधिमुहे गहीए,
सकम्मुणा किच्चइ पावकारी।
एवं पया पेच्च इहं च लोए,
कडाण कम्माण ण मोक्ख अत्थि॥

उत्तराध्ययन अ० ३।३

—पाप करने वाला चोर सन्धि- खात (सेंध) के मुंह पर पकड़ा

जाकर जैसे अपने किए हुए कर्मों के द्वारा ही छेदा जाता है, दुःख पाता है, उसी प्रकार जीव अपने कृत कर्मों के कारण ही इस लोक और परलोक में दुःख उठाते हैं, क्योंकि किये हुए कर्मों को बिना भोगे छुटकारा नहीं मिलता।

संसारमावन्न परस्स अट्ठा,
साहारणं जं च करेइ कम्मं।
कम्मस्स ते तस्स उ वेय-काले,
न बंधवा बंधवयं उविन्ति।

उत्तराध्ययन सू० अ० ४।४

—सांसारिक अवस्था को प्राप्त हुआ आत्मा दूसरों के लिये और साधारण (अपने लिये भी) जो कर्म करता है, उस का जब वह दण्ड भोगता है, तब उस के बान्धव जन उस की सहायता नहीं करते, कर्म-फल के भुगताने में वे उस का हाथ नहीं बंटा पाते।

न तस्स दुक्खं विभयंति नाइओ,
न मित्तवग्गा न सुया न बंधवा।
इक्को सयं पच्चणुहोइ दुक्खं,
कत्तारमेव अणुजाइ कम्मं।

उत्त० अ० १३।२३

—पापकर्म करने वाले के दुःख को ज्ञाति-जन नहीं बाँट सकते और मित्रमण्डली, पुत्र-पौत्र और भाई-बन्द भी नहीं बँटा सकते। पाप-कर्म करने वाला स्वयं ही अकेला दुःख भोगता है, क्योंकि कर्म कर्त्ता का ही अनुसरण करता है।

पाप से डरो—

कर्मवाद के परम मर्मज्ञ भगवान महावीर दुःखों का मूल कारण बतलाते हुए फरमाने लगे कि गौतम! सुख-दुःख का मूल कारण कर्म

है, यदि मनुष्य शुभ कर्म करता है तो उस को शुभ फल प्राप्त होता है, संसार की बड़ी-से बड़ी शक्ति भी उसे दुःखी नहीं बना सकती, कर्म की अपवित्रता जीवन को अपवित्र बना डालती है। जब कर्म किया जाता है, यदि मनुष्य उसी समय उसके शुभाशुभ परिणाम की ओर ध्यान करले तो वह उसके भावी दुष्परिणाम से बच सकता है किन्तु जीवन के विकारों में यह जीव इतना पागल बन जाता है कि वह कर्म करते समय उस से मिलने वाले फल को मस्तिष्क से निकाल देता है, मनुष्य जितना पाप के फल से डरता है, उतना ही यदि वह पाप से डरने लग जाए तो उस के जीवन की समस्त उलझनें समाप्त हो सकती हैं। पाप करते जाना और फिर उसके फल से डरना, यह कोई बुद्धि-संगत कार्य नहीं है। भगवान महावीर के इसी मन्तव्य को संस्कृत के एक आचार्य बड़ी सुन्दर पद्धति से प्रस्तुत करते हैं—

पुण्यस्य फलमिच्छन्ति, पुण्यं नेच्छन्ति मानवाः,
न पाप-फलमिच्छन्ति, पापं कुर्वन्ति यत्नतः।

—पुण्य के फल को सब मनुष्य चाहते हैं, किन्तु पुण्योत्पादक कार्य कोई नहीं करता, तथा पाप का फल भोगने के लिए कोई तैयार नहीं, परन्तु पापमय कार्य यथेच्छ किए जाते हैं।

भगवान महावीर पुनः फरमाने लगे कि गौतम ! वैसे तो आत्मा बड़ी बलवान है, यह अनन्त शक्तियों का स्रोत है, संसार की समस्त ऋद्धियाँ, सिद्धियाँ इसी में अँगड़ाई ले रही हैं, परमात्मा का परमात्म-भाव भी इसी में निवास करता है, परन्तु कर्मों की सृष्टि कर लेने के अनन्तर यह आत्मा अपना सामर्थ्य खो बैठती है, सबल होती हुई निर्बल हो जाती है, ठाकुर होकर पुजारी बन बैठती है, राजा होकर भी रंक का परिधान पहनती है और घर-घर याचिका बनी भ्रमण करती है। मकड़ी जैसे जाले को बुनती है, परन्तु समय आने पर स्वयं ही उसमें फंस जाती है। इसी भाँति कर्मों के जाले यह जीव स्वयं बुनता

है, और स्वयं ही उसमें फंस कर दुःख भोगता है। इस से यह स्पष्ट हो जाता है कि स्वकृत कर्म के अलावा जीव को दुःख देने वाली ईश्वर नाम की अन्य कोई शक्ति नहीं है । कहा भी है—

अप्पा कत्ता विकत्ता य, दुहाण य सुहाण य,
अप्पा मित्तममित्तं च, दुपट्ठिय-सुपट्ठिओ ।

उत्तराध्ययन० अ० २०।३७

—आत्मा ही सुख-दुःख का जनक है, और आत्मा ही उस का विनाशक है । सदाचारी सन्मार्ग पर लगा हुआ आत्मा अपना मित्र है और कुमार्ग पर लगा हुआ दुराचारी आत्मा ही अपना शत्रु है ।

शेर होकर भी गीदड़—

जिस समय हम गंभीरता में उतर कर जीवन का अन्तर्दर्शन करते हैं, तो इस सत्य से इन्कार नहीं किया जा सकता कि जगती में जितने भी पशु, पक्षी हैं, चलने-फिरने वाले प्राणी हैं, उन सब में मनुष्य का स्थान सर्वोच्च है, सर्वश्रेष्ठ है, यह भगवान का प्रतिनिधि माना जाता है, आकाश के निवासी देवी देवता भी इस की शक्तियों से काम्पते हैं, इन्हें भी इसके आगे नतमस्तक होना पड़ता है, यह वह शक्ति है, जो मुक्तिपुरी के द्वार खोलकर आत्मा को परमात्मा बना सकती है, परन्तु आज यह जीवात्मा अपनी महानता और प्रतिष्ठा को भूल गया है, जैसे सिंह का बच्चा भेड़ों में सम्वर्धित हो कर अपने आप को भूल बैठता है, वैसी ही दशा आज इस जीवात्मा की हो हो रही है, इसने अपने स्वरूप को विस्मृत कर दिया है, सिंह होकर गीदड़ बन गई है, स्वामी होकर दास का रूप ले रही है, इस की अज्ञानता इतनी अधिक बढ चुकी है कि लेखनी उसे अंकित नहीं कर सकती । कितने आश्चर्य और खेद की बात है कि मनुष्य स्वयं अनाचार का सेवन करता है, बुराई के बीज स्वयं बोता है, अनाथों, असहायों, अशरणों और विधवाओं के जीवनोद्यान को स्वयं अपने

हाथों से आग लगाता है, दुकानों पर बैठकर कम तोलता है, कम नापता है, मिलावट करता है, ग्राहकों की आंखों में धूल झोंकता है, इसके अतिरिक्त धर्मस्थानों मे बैठ कर भी अनुचित कार्य करके उन की पवित्रता को स्वयं नष्ट करता है, परन्तु इन समस्त अनाचारों का दायित्व अपने ऊपर न रखकर परमपिता परमात्मा पर डाल देता है, उसे यह कहते संकोच नहीं होता कि यह सब कुछ परमपिता परमात्मा की इच्छा से होता है, वही हम से सब कुछ करवाता है। उर्दू भाषा के कवि ने उस सत्यता को कितनी अनूठी पद्धति से प्रस्तुत किया है—

हंसी आती है मुझको, हज़रते इन्सान पर,
फेले बद तो खुद करे लानत करे शैतान पर।

जैसा कर्म वैसा फल—

यदि गम्भीरता से विचार करें और वस्तुस्थिति जानना चाहें तो यह सत्य स्वीकार ही करना पड़ता है कि जीवन में सुख-दुःख का जो चक्र चलता है, संकटों और आपदाओं की जो उत्सृष्टि होती है इस का दायित्व न भगवान पर है और न किसी देवी-देवता पर है, प्रत्युत जीव स्वय ही इस का जुम्मेदार है, जैसा भी यह कर्म करता है, इस के अनुसार उस का उसे भुगतान करना पड़ता है। इस सत्य से कौन इन्कार कर सकता है कि गेहूँ से गेहूँ की उत्पत्ति होती है, और जौं बोने से जौं मिलते हैं। इसी भाँति आम्र के बीज बो कर आम्र प्राप्त होते हैं, ऐसा नहीं हो सकता कि कीकर के बीज बोकर आम प्राप्त किए जाएं। इसीलिए तो अनुभवी व्यक्तियों को यह कहना पड़ा—

करे बुराई सुख चहे, कैसे पावे कोय,
बोए बीज बबूल के, आम कहां से होय ?

मनुष्य यदि मदिरापान करता है तो उस पर मदिराजन्य प्रभाव

पड़ता है. इसके विपरीत यदि वह दूध का सेवन करता है तो वह दुग्ध-जन्य प्रभाव से प्रभावित होता है। इसी भांति जैसे कर्म होंगे वैसे ही फल की प्राप्ति होती है। पंजाबी-भाषा के एक कवि के शब्दों में कहें तो—

कर्म मनुष्य जो जैसा करसी, वैसा ही फल पासी,

बीजूगा जो अक्क दे बूटे, अम्ब कहां से खासी ?

ऊपर की पंक्तियों में जो कुछ कहा गया है, इस से हम यह अभिव्यक्त करना चाहते हैं कि कर्म की शक्ति ही मनुष्य के जीवन-रथ को चलाती है, कुम्भकार के चाक को जैसे उस का दण्ड घुमाता है, ऐसे ही जीवन रूपी चाक को घुमाने वाली शक्ति कर्म है, जब तक घड़ी को चाबी न दी जाए, तब तक वह चल नहीं सकती, फलत: चाबी के माध्यम से घड़ी अपना कार्य सम्पन्न करती है। इसी तरह कर्मों की चाबी जीवन की घड़ी को गतिशील बनाती है, उसे चलाती है, अत: जीवन के घटना-चक्र का उत्तरदायित्व परमात्मा या किसी देवी-देवता पर डालना उचित नहीं, इस का सब दायित्व मनुष्य के अपने क्रिया-कलाप पर ही है। मनुष्य प्राणि-जगत में सब से ऊँचा प्राणी माना जाता है। उर्दू भाषा वाले मनुष्य को अशरफुलमखलूकात कहते हैं। इसका अर्थ होता है—अशरफ-सब से शरीफ, उच्चतर। मखलूक-जो पैदा किया गया है। अर्थात्—सृष्टि का सबसे उत्तम प्राणी। इससे स्पष्ट है कि जितना यह ऊंचाई से सोच सकता है, उतना कोई और प्राणी नहीं, किन्तु कर्मों का चक्र ही समझिए कि यह समझ वाला हो कर भी बे समझ बन बैठा है, मेधा का आगार होने पर भी मेधा-हीन हो रहा है। परन्तु जब शुभ कर्मों का चक्र चलेगा तो वह समय भी आएगा कि एक दिन जब इसका सोया अन्तर्देव जागेगा, बुद्धि के प्रकाश से इसका अन्तर्जगत प्रकाशमान होगा, तब यह सत्यता को समझेगा, और इस की अन्तर्वीणा से यही स्वर निकलेगा—

दुनिया अजब बाजार है कुछ जिन्स यहाँ की साथ ले,
नेकी का बदला नेक है, बद से बदी की बात ले।
मेवा खिला, मेवा मिले, फल फूल दे फल पात दे,
आराम दे आराम ले, दुख दर्द दे आफात ले।
कल-युग नहीं, करयुग है यह, यहाँ दिन को दे और रात ले,
यह खूब सौदा नकद है, इस हाथ दे, उस हाथ ले।

कर्म और पतझड़—

जीवन एक उद्यान है, इस में नाना प्रकार के पौधे हैं, फल है, फूल हैं, परन्तु जब पतझड़ आता है, तो ये सब पौधे, फल-फूल मुरझा जाते है, इन की चमक, दमक, आकर्षणशक्ति सब लुप्त हो जाती है। इस का कारण भी कर्म-चक्र ही होता है। कर्म-चक्र के प्रभाव से जीवन में पतझड़ के ऐसे-ऐसे प्रहार होते हैं कि स्वर्ग जैसा जीवन भी नरकतुल्य बन जाता है, जिसे देखने के लिए लोग दूर-दूर से आते हैं, कर्मों का प्रकोप होने पर उसे पास बैठाने को भी कोई तैयार नहीं होता, अडौसी पड़ौसियों को भी उससे दुर्गन्ध आने लगती है। बजरंगबली हनुमान की जननी महासती अंजना को कौन नहीं जानता? जब कर्मों के प्रकोप ने उसकी जीवन-वाटिका को उजाड़ना आरम्भ किया तो उसकी जड़ें हिलादी, सास-ससुर ने तो उसके साथ जो दुर्व्यवहार किया था वह किया ही था, परन्तु माता-पिता ने भी कोई कसर नहीं छोड़ी, उसके साथ ऐसा दु:खद व्यवहार किया कि मस्तिष्क चकरा जाता है, किसी ने उसे अपने पास तक नहीं रखा और न किसी ने आश्रय दिया। इसी कारण महासती अंजना के जीवन में वह घड़ी भी आई कि जब वह अकेली वन में पड़ी थी, माता-पिता सास-ससुर पति, कोई उसका संरक्षक नहीं था। सर्वथा असहाय नारी-जीवन, फिर गर्भवती, इस पर भी अपमानित करके घर से निकाल देना, कितना भयंकर घटनाचक्र

है ? परन्तु कर्मों के प्रकोप के आगे यह सब कुछ संभव है, वहां असम्भव की भाषा का प्रयोग ही नहीं मिलता।

कर्मों की विलक्षण शक्ति—

संसार में धन, जन और बल आदि की अनेकविध शक्तियां देखने में आती हैं, परन्तु कर्म की शक्ति इन सब से बलवान है, कर्म-शक्ति के सन्मुख ये सब शक्तियां तुच्छ है, नगण्य हैं, न होने जैसी हैं। उत्तराध्ययन सूत्र के ३३ वें अध्ययन की पहली गाथा में भगवान महावीर ने अपने प्रधान शिष्य श्री गौतम जी महाराज के सामने कर्मों की शक्ति का वर्णन करते हुए एक दिन फरमाया था—

"जेहिं बद्धो अयं जीवो, संसारे परियत्तइ"

कर्मों के धागे से बन्धा हुआ यह जीव संसार में अनेक प्रकार के रूप धारण करता है। कर्मों के कारण यह जीव कभी मनुष्य गति में आता है, मनुष्य बनता है, कभी पशु गति में जाकर पशु का रूप ग्रहण करता है, चींटी, कीड़ा, मक्खी, मच्छर, सांप, बिच्छू, शेर, बाघ आदि जीवों की जितनी भी अवस्थाएं पाई जाती है, इन सब की प्राप्ति कर्म के प्रभाव से ही होती है। नारकीय और स्वर्गीय जीवन का मूल कारण भी यही कर्म है। मनुष्यादि इन चारों गतियों में सुख-दुःख के जो दृश्य दृष्टिगोचर होते हैं, इन के पीछे कर्म की शक्ति ही काम कर रही है, जैसे +फुटबाल के मैदान में फुटबाल (गेन्द)कभी इधर, कभी उधर ठोकरें खाता फिरता है वैसे ही यह जीव भी कर्मों से बन्धा हुआ संसार रूपी क्रीडा-भूमि में अनादि काल से ठोकरें खाता चला आ रहा है। अधिक क्या, नरक, स्वर्ग आदि सभी स्थानों की सैर (भ्रमण) भी यह कर्म ही इसे कराता है। इसीलिए तो भगवान महावीर फरमाते हैं—

+चमड़े का बड़ा गेंद जिस के भीतर रबड़ की थैली मे हवा भरी रहती है, उस गेंद से खेला जाने वाला खेल।

एगया देवलोएसु, नरएसु वि एगया ।
एगया आसुरं कायं, अहाकम्मेहिं गच्छइ ॥

—उत्तराध्ययन० अ० ३।३

—यह जीवात्मा अपने कृत कर्मों के अनुसार कभी देवताओं के जगत में उत्पन्न होता है, कभी नरक की भीषण दुःख-ज्वालाओं में जलता है, और कभी राक्षसों के संसार में जन्म धारण करता है। इस तरह यह जीव जितनी भी आकृतियों में दिखाई देता है, उनका मूल कारण कर्म ही है।

कुछ लोगों की मान्यता है कि जीव सुख-दुःख भोगने में स्वयं समर्थ नहीं है, अतः ईश्वर उसे सुख-दुःख भोगने के लिए स्वर्ग और नरक में भेज देता है। इसीलिए उनके यहाँ यह कहा जाता है—

अज्ञः जन्तुरनीशोऽयमात्मनः सुख-दुःखयोः ।
ईश्वरप्रेरितो गच्छेत् स्वर्ग-श्वभ्रमेव वा ॥

—यह अज्ञानी जीव अपने सुख-दुःख का भोग करने में असमर्थ है, इसलिए ईश्वर का भेजा हुआ स्वर्ग या नरक में जाता है।

यदि गम्भीरता से विचार करते हैं, तो इस मान्यता में कोई सत्यता दिखाई नहीं देती क्योंकि जो ईश्वर जीव को कर्मों के फल का भुगतान करा सकता है, उस के अशुभ कर्मों का उसे दण्ड दिलवा सकता है, तो वह ईश्वर जीव को अशुभ कर्मों के करने से रोक क्यों नहीं सकता ?, लोक-व्यवहार में भी देखा जाता है कि ज्ञात अवस्था में यदि राज्यकर्मचारी अपराधियों को, आततायी व्यक्तियों को, लुटेरों को और राजद्रोहियों को शासन-विरुद्ध कार्यों से निवृत्त नहीं करते तो वे दोषी माने जाते हैं। अतः कर्म-फल के प्रदान में ×ईश्वर का कोई भी हस्तक्षेप नहीं समझना चाहिए, और न इस में किसी

× इस सम्बन्ध में आगे "ईश्वर कर्म का फल नहीं देता" इस प्रकरण में विस्तार से चिन्तन किया जाएगा।

देवी-देवता का कोई हाथ जानना चाहिए। कर्म की शक्ति ही संसार के नाटक का सूत्रधार है। इस के आगे सभी नतमस्तक हैं, धनी हो या निर्धन, छोटा हो या बड़ा, युवक हो या युवति, वृद्ध हो वृद्धा, रंक हो या सम्राट् सभी ने कर्म-शक्ति के आगे अपने मस्तक झुकाए हैं। कोई कर्म के प्रभाव से अछूता नहीं रहा। भगवान ऋषभदेव को बारह महिने तक अन्न-जल नहीं मिला। इस का कारण भी उन का पूर्वकृत कर्म ही था। भगवान आदिनाथ ने पूर्वभव में पशुओं और अपने नौकरों के भोजन में रुकावट डाल कर अन्तराय कर्म ही उपार्जना की थी। भगवान महावीर के कानों में कीले ठोके गए। यह भी कर्म का ही प्रहार था। भगवान महावीर ने त्रिपृष्ठ वासुदेव के भव में नृत्य-गान बन्द न करने के कारण अपने मंत्री के कानों में गरम-गरम शीशा डलवाया था। परिणामस्वरूप इन्हें अपने कानों में कील ठुकवाने पड़े। इससे स्पष्ट है कि जब तीर्थंकर, चक्रवर्ती. वासुदेव और बलदेव भी कर्मों के प्रभाव से नहीं बच सके, तब हम लोग कर्मों के प्रभाव से कैसे बच सकते है?

कर्मों की विलक्षण शक्ति के विलक्षण घटना-चक्र का परिज्ञान प्राप्त कर लेने के अनन्तर सुखाभिलाषी मानवी व्यक्ति का कर्त्तव्य है कि वह अशुभ कर्मों की समुत्पादक कारण-सामग्री से सदा बचता रहे, अन्यथा कर्मों का दानव जीवन को प्रताड़ित किए बिना नहीं रहेगा, और लाख प्रयत्न करने पर भी इस से अपना पिण्ड छुड़ाना कठिन हो जाएगा। अतः अशुभ कर्मों का परित्याग करके शुभ कर्मों के सम्पादन की ओर ध्यान देना चाहिए। कहा भी है--

दुष्ट कर्म दुख देत हैं, कर लो यत्न हज़ार,
बचना चाहो दुःख से, छोड़ो पापाचार।
सुख उपजत शुभ कर्म से, करो दया उपकार,
"ज्ञानमुनी" शुभ कर्म से, बेड़ा होवे पार॥

प्रश्न उपस्थित होता है कि जिस कर्म के सम्बन्ध में इतनी लम्बी-चौड़ी बातें बताई जाती हैं, वह कर्म क्या है? कर्म किसे कहते हैं?, इस का स्वरूप कैसा है?, कर्म कितने प्रकार का होता है?, कर्म अपना फल कैसे देते हैं?, आत्मा के साथ कर्म का सम्बन्ध कैसे होता है?, किन-किन कारणों से होता है?, संक्लेशरूप परिणाम अपनी आकर्षण शक्ति से आत्मा पर एक प्रकार की सूक्ष्म रज का पटल किस तरह डाल देते हैं? किस कारण से कर्म में कैसी शक्ति पैदा होती है?, कर्म, अधिक से अधिक और कम से कम कितने काल तक आत्म-प्रदेशों से सम्बन्धित रह सकता है?, आत्मा के साथ लगा हुआ कर्म कितने समय तक फल देने में असमर्थ होता है?, फल का नियत समय बदला जा सकता है या नहीं? यदि बदला जा सकता है तो उसके लिए व्यक्ति को कैसी साधना करने की आवश्यकता रहती है? आगे की पंक्तियों में इन सब प्रश्नों को लेकर संक्षेप में चिन्तन प्रस्तुत किया जाएगा।

अर्थ कर्म का गहन है, समझो चतुर सुजान।
'ज्ञानमुनी' जो समझ ले, बन जाए इन्सान॥

कर्म क्या है ?

कर्मवाद की मान्यता है कि सुख-दुःख, सम्पत्ति, विपत्ति, ऊंच और नीच आदि जितनी अवस्थाएं हैं, उनके होने में +काल, स्वभाव,

---

+शास्त्र कहता है कि काल, स्वभाव, नियति, पूर्व-कृत कर्मक्षय और पुरुषार्थ इन पांच कारणों के समुदाय से मोक्ष की प्राप्ति होती है। इन में से एक भी न हो तो मोक्ष-प्राप्ति असंभव है। मोक्ष-प्राप्ति में काल का अपना महत्त्वपूर्ण स्थान है, काल के विना मोक्षरूप कार्य की सिद्धि नही होती, भव्य जीव समय पर ही मोक्ष जा सकते हैं, इसलिए मोक्ष-प्राप्ति में काल की आवश्यकता पड़ती है। यदि केवल काल को ही कारण मान लिया जाए तब तो अभव्य जीव भी मोक्ष चले जाएंगे, अभव्यों का मोक्ष-प्राप्त करना स्वभाव नहीं है, इसलिए वे मोक्ष में नहीं जा सकते हैं, भव्यों का मोक्षगमन स्वभावसिद्ध होने से वे मोक्ष में जा सकते हैं। यदि काल और स्वभाव दोनों ही कारण मान लिए जाएं तब सब भव्य जीव एक साथ मोक्ष में चले जाएंगें, परन्तु ऐसा नहीं होता है, क्योंकि नियति(होनहार) का योग न होने से सभी भव्यजीव एक साथ मुक्त नहीं होते, जिन्हें काल और स्वभाव के साथ नियति का योग मिलता है, वे ही मोक्ष में जा पाते हैं। काल, स्वभाव और नियति इन तीनों को ही केवल मोक्ष प्राप्ति का कारण मान लें तो श्रेणिक राजा मोक्षमें चले जाते, परन्तु उन्होंने मोक्ष के अनुकूल उद्योग करके पूर्वकृत कर्मों का क्षय नहीं किया, अतः उक्त तीन कारणों का सान्निध्य होने पर भी वे मुक्त नहीं हो सके। इसलिए पूर्वकृत कर्मक्षय और उद्योग-पुरुषार्थ इन दोनों को भी मुक्ति-प्राप्ति का कारण स्वीकार किया गया है। शालिभद्र मुनिवर भी पूर्वकृत कर्म का क्षय न करने से मुक्त न हो सके। अवशिष्ट चार बातें तो वहां थी, परन्तु कर्म क्षय नहीं था, फलतः वे मुक्ति में नहीं जा सके। मरुदेवी माता बिना पुरुषार्थ के मुक्त हो गई हैं, ऐसी बात नहीं है, क्योंकि वे भावों की उच्चता के कारण क्षपक श्रेणी (आत्मविकास की ओर अग्रसर जीवों के मोह

पुरुषार्थ आदि अन्यान्य कारणों की भांति कर्म भी एक कारण है। जैन दर्शन में जिस अर्थ के लिए कर्म शब्द का प्रयोग किया गया है, उस अर्थ के अथवा उससे कुछ मिलते-जुलते अर्थ के लिए जैनेतर दर्शनों में भी अनेकों शब्द उपलब्ध होते हैं। जैसे कि-माया, अविद्या, प्रकृति, अपूर्व, वासना, आशय, धर्माधर्म, अदृष्ट, संस्कार, दैव और भाग्य आदि। माया, अविद्या और प्रकृति ये तीन शब्द वेदान्त-दर्शन में पाए जाते हैं। इनका मूल भाव जैन दर्शन के ×भाव कर्म से मिलता-जुलता है। अपूर्व शब्द मीमांसा-दर्शन में मिलता है, वासना शब्द बौद्ध-दर्शन में प्रसिद्ध है, परन्तु योग-दर्शन में भी इसका प्रयोग किया गया है। आशय शब्द विशेषकर योग तथा सांख्य दर्शन में मिलता है, धर्माधर्म अदृष्ट और संस्कार इन तीन शब्दों का प्रयोग और दर्शनों में भी पाया जाता है परन्तु विशेषरूप से न्याय तथा वैशेषिक दर्शन में इन का प्रयोग मिलता है। दैव, भाग्य, पुण्य और पाप आदि ऐसे अनेकों शब्द हैं जो सब दर्शनों के लिए साधारण से हैं। जितने दर्शन आत्मा को मानते हैं, और पुनर्जन्म की मान्यता स्वीकार करते हैं, उनको पुनर्जन्म की उपपत्ति-सिद्धि के लिए कर्म के अस्तित्व को स्वीकार करना ही पड़ता है। भले ही इन दर्शनों की भिन्न-भिन्न प्रक्रिया के कारण या चेतन के स्वरूप में मतभेद होने के कारण कर्म का स्वरूप थोड़ा, बहुत भिन्न-भिन्न जान पड़े, परन्तु इसमें कोई सन्देह नहीं है कि सभी आत्मवादी दर्शनों ने माया आदि किसी न किसी नाम से कर्म की सत्ता को माना ही है।

कर्म शब्द का अर्थ—

कर्म क्या है? कर्म किसे कहते है? कर्म की रूप-रेखा क्या है?

को सर्वथा निर्मूल करने का एक क्रमविशेष) पर आरूढ होकर शुक्लध्यान-रूप अन्तरंग पुरुषार्थ करके ही मुक्तिधाम में जा पाई हैं।

× भावकर्म जैनदर्शनसम्मत कर्म का एक भेद है। इस का विवेचन आगे किया जाने वाला है।

यह जान लेना भी आवश्यक है । कर्मशब्द, लोक-व्यवहार और शास्त्र दोनों में प्रसिद्ध है । इसके अनेकों अर्थ उपलब्ध होते हैं। सामान्यरूप से कर्म शब्द का अर्थ क्रिया किया जाता है। वेदों से लेकर ब्राह्मण काल तक जितने भी वैदिक ग्रन्थ देखने में आते हैं, उन सब में कर्म को क्रिया के रूप में देखा गया है । वैदिक काल के प्रसिद्ध अश्वमेध, नरमेध और गोमेध आदि यज्ञों के लिए जो क्रियाएं की जाती हैं, उनके लिए जो विधिविधान निश्चित किए गए है, वे सब कर्म माने गए हैं। कामधन्धे के अर्थ में भी कर्म शब्द का प्रयोग मिलता है। खाना, पीना, चलना, फिरना और काम्पना आदि सभी कार्य कर्म के नाम से व्यवहृत होते हैं। स्मृति-ग्रन्थों के मानने वाले, ब्राह्मण क्षत्रिय, वंश्य और शूद्र इन चारो वर्णो और ब्रह्मचर्य, गृहस्थ, वानप्रस्थ एवं संन्यास इन चार आश्रमों के लिए निश्चित किए गए कार्यों को कर्म स्वीकार करते हैं। व्याकरण बनाने वाले वैयाकरण कर्म शब्द का—"कर्ता अपनी क्रिया के द्वारा जिसे प्राप्त करना चाहता है" इस अर्थ में प्रयोग करते हैं । पौराणिक लोगों में व्रत आदि धार्मिक क्रियाओं के अर्थ में कर्म शब्द प्रयुक्त होता है । परन्तु जैन-दर्शन कर्म को केवल क्रियारूप स्वीकार नही करता । जैन-दर्शन का विश्वास है कि जब मानस में किसी भी तरह का कम्पन होता है, हृदय प्रशस्त या अप्रशस्त, धार्मिक या अधार्मिक, पुण्यरूप या पाप-रूप संकल्प या विकल्प करता है तो उस समय आत्मप्रदेशों में एक प्रकार की हलचल-सी होती है, तब जिस क्षेत्रमें आत्मप्रदेश हैं, उसी क्षेत्रमें रहे हुए अनन्तानन्त कर्म-योग्य पुद्गल आत्मप्रदेशों के साथ बन्ध को प्राप्त होते हैं। अर्थात् अध्यवसायों से, बाहिर के अनन्तानंत परमाणु आत्मा की ओर आकृष्ट होते हैं, और वे आत्मा से सम्बन्धित हो जाते हैं, आत्मप्रदेशों से सम्बन्धित या जुड़े हुए ये परमाणु ही जैन-दर्शन की दृष्टि से कर्म कहलाते हैं। इसलिए जैन-दर्शन ने मुख्यरूप से कर्मों के दो भेद किए हैं।

संस्कृत-व्याकरण के अनुसार भी कर्म-शब्द की अनेकों व्युत्पत्तियां

देखने में आती हैं। जैसे कि—**जीवं परतन्त्री कुर्वन्तीति कर्माणि।** अर्थात्-जो जीव को परतन्त्र, पराधीन बना डालते हैं, वे कर्म कहलाते है। **जीवेन मिथ्यादर्शनादि-परिणामैः क्रियन्त इति कर्माणि,** अर्थात् मिथ्यादर्शन (मिथ्याविश्वास) आदि रूप परिणामों से युक्त होकर जीव के द्वारा जिनकी उपार्जना की जाती है उनको कर्म कहते हैं। प्राकृत-भाषा में भी कर्म-शब्द की व्युत्पत्ति उपलब्ध होती है। प्राकृत-भाषा के आचार्य कहते हैं-**कीरइ जीएण हेउहिं जेण तो भण्णए कम्मं"** अर्थात्-मिथ्यात्व, अविरति आदि कारणों से जीव के द्वारा जो किया जाता है, वह कर्म कहा जाता है।

कर्मों के दो भेद—

जैनशास्त्र में कर्म शब्द से दो अर्थ लिए जाते हैं, पहला रागद्वेषात्मक परिणाम, और दूसरा-कार्मण जाति के पुद्गल-विशेष। राग-द्वेषात्मक परिणाम को भावकर्म और कार्मण जाति के पुद्गल-विशेष द्रव्यकर्म कहलाते हैं। भावकर्म भावरूप होते है और द्रव्यकर्म द्रव्य-रूप। जीव के मानस में जो विचार-धारा चलती है, संकल्प-विकल्प होते हैं, क्रोध आदि परिणाम उत्पन्न होते है, किसी को लाभ या हानि पहुँचाने का मानसिक आयोजन चलता है, यह सब मानसिक जगत भावकर्म में परिगणित होता है और इस मानसिक जगत के आधार पर जीव के पार्श्ववर्ती जो परमाणु आत्मा के साथ जुड़ते हैं, आत्मप्रदेशों से सम्बन्ध स्थापित करते हैं, उन को द्रव्य कर्म के अन्तर्गत माना जाता है। ये द्रव्यरूप कर्म-परमाणु मिथ्यात्व, अवि-रति, प्रमाद, कषाय और योग के कारण आत्मप्रदेशों से आबद्ध होते हैं।

द्रव्यकर्म की उत्पत्ति के कारणों में भाव कर्म को कारण माना गया है। भाव कर्म राग-द्वेषरूप होता है। इसीलिए भगवान महावीर ने +**"रागो य दोसो वि य कम्मबीयं"** यह कहकर राग और द्वेष को

+उत्तराध्ययन सू० अ० ३२।७

कर्मों का बीज स्वीकार किया है। वैसे रागद्वेष के साथ कर्म का काय-कारण भाव पाया जाता है। अर्थात् जैसे तृष्णा और मोह का परस्पर कार्यकारण भाव होता है, तृष्णा से जैसे मोह और मोह से तृष्णा× पैदा होती है, वैसे ही रागद्वेष के साथ कर्म का कार्य-कारण भाव होने से, राग द्वेष से कर्म और कर्म से राग-द्वेष उत्पन्न होता है। राग शब्द माया-कपट और लोभ का तथा द्वेष शब्द क्रोध और मान-अहंकार का बोधक समझना चाहिए। भाव यह है कि क्रोध, मान, माया और लोभ इन कषायों के कारण आत्मप्रदेशों में एक प्रकार की हलचल-सी पैदा होती है, परिणामस्वरूप आत्मप्रदेशों के पार्श्ववर्ती अनन्तानन्त परमाणु आत्मा की ओर आकृष्ट हो कर उस से सम्बन्धित हो जाते है, जो द्रव्यकर्म के नाम से व्यवहृत किये जाते है।

परमाणु कैसे आकृष्ट होते हैं ?—

प्रश्न हो सकता है कि आत्मा परमाणुओं को अपनी ओर कैसे आकृष्ट कर लेती है, और उस के साथ ये कर्म-परमाणु किस पद्धति से सम्बन्ध स्थापित कर लेते हैं ? इस प्रश्न का समाधान करते हुए कर्मवाद के मर्मज्ञ जैनाचार्य बतलाते है कि जैसे कडाही के अन्दर पड़े खौलते घी में डाली हुई पूरी घी को खीच लेती है, अपने में जज़्ब कर लेती है, और जिस तरह मकनातीस (चुंबक अर्थात् एक तरह का प्राकृतिक या कृत्रिम पत्थर, जो लोहे को अपनी ओर खीचता है) लोहे को अपनी ओर आकृष्ट कर लेता है तथा जैसे कपड़ा पानी को सोख लेता है, इसी तरह यह जीव सकल्प और विकल्प के संसार में पहुँच कर आस-पास के अनन्तानन्त परमाणुओं को खीच लेता है और उन से अपना सम्बन्ध जोड़ लेता है। इसके अतिरिक्त, आज के वैज्ञानिकों की मान्यता है कि वृक्ष से टूटा हुआ फल ऊपर आकाश की ओर न जाकर जो भूमि पर गिरता है इस का कारण केवल भूमि में अवस्थित आकर्षण शक्ति ही समझना चाहिए। भूमि में स्वभाव से

× एवमेव मोहाययणं खु तण्हा, मोहं च तण्हाययणं वयति। उ० अ० ३२।६

ही यह विशेषता पाई जाती है कि वह प्रत्येक वस्तु को अपनी ओर खींचती है, ऊपर की ओर नहीं जाने देती । जैसे वैज्ञानिक भूमि में आकर्षणशक्ति का अस्तित्व स्वीकार करते हैं, वैसे जैनाचार्य संकल्प-विकल्पों की वाटिका में विहरण कर रही आत्मा में अपने पार्श्ववर्ती अनन्तानन्त परमाणुओं को अपनी ओर आकृष्ट करने की क्षमता स्वीकार करते हैं। जिन संकल्प-विकल्पों के आधार पर यह जीव परमाणुओं को अपनी तरफ खींचता है, उन्हें ही भावकर्म कहते हैं और जो परमाणु खिंच कर आत्मा के साथ चिपट जाते हैं, वही परमाणु द्रव्यकर्म कहलाते हैं, इसलिए जैनदर्शन कर्मों को चेतन न मान कर जड़ स्वीकार करता है। जैन-दर्शन के मन्तव्यानुसार कार्मण वर्गणा (कर्म-परमाणुओं का सजातीय समूह) एक प्रकार की अत्यन्त सूक्ष्म रज (पुद्गलस्कन्ध-परमाणुसमुदाय) होती है, जिसे इन्द्रियाँ सूक्ष्मदर्शक यन्त्र के द्वारा भी नहीं जान सकतीं, सर्वज्ञ या परम अवधि-ज्ञानी ही उसे जान सकते हैं।

कर्म आत्मा से कैसे जुड़ते हैं ?—

द्रव्यकर्म की व्याख्या करते हुए ऊपर बताया गया है कि संकल्प-विकल्प के आधार पर आत्मप्रदेशों में कम्पन होने से आत्मा के पार्श्ववर्ती अनन्तानन्त परमाणु आत्मा से सम्बन्धित हो जाते हैं। अब प्रश्न यह उपस्थित होता है कि ये परमाणु आत्मप्रदेशों से कैसे जुड़ते हैं ? इनकी पद्धति क्या है ? कुछ विचारकों का कहना है कि आत्म-प्रदेश और कर्म-परमाणु दूध-पानी की तरह मिलते हैं, कुछ विचारक लोहे और अग्नि की भांति इनका मिलाप मानते हैं, वस्तुस्थिति क्या है ? यह समझ लेना भी आवश्यक है। हमारे विचार में आत्म-प्रदेश और कर्म-परमाणु न नीर-क्षीर की भांति मिलते हैं और नाँही लोहाग्नि की तरह, क्योंकि आत्म-प्रदेश सदा अखण्डित रहते हैं, जैसे दूध कण-कण के रूप में बिखर सकता है, वैसे आत्म-प्रदेश नहीं, तथा जैसे लोहे के कणों के अन्दर अग्नि प्रवेश कर जाती है, वैसे आत्म-

प्रदेशों के अन्दर कर्म-परमाणुओं का प्रवेश नहीं हो सकता, क्योंकि उनमें कहीं भी कोई वस्तु प्रविष्ट नहीं हो सकती। अतः आत्म-प्रदेशों और कर्मपरमाणुओं का सम्बन्ध मेघाच्छन्न सूर्य की भांति या चन्द्र-ग्रहण की भांति या स्वर्ण पर लगे हुए मल की भाँति ही समझना चाहिए। क्योंकि कर्म-परमाणु आत्म-प्रदेशों को केवल आवृत करते हैं, आवरण बन कर उन पर छा जाते हैं तथा उन की ज्ञानादि शक्तियों को परदा वन कर ढक देते हैं, किन्तु उन से एकमेक नहीं होते, इसलिए आत्म-प्रदेशों और कर्म-परमाणुओं का सन्बन्ध स्वर्ण पर लगे मल की भाँति ही मानना अधिक उपयुक्त प्रतीत होता है। वस्तुस्थिति तो केवली भगवान ही जानते है।

कर्मवाद का आविर्भाव क्यों ?—

सिद्धान्त है कि आवश्यकता आविष्कार की जननी होती है, बिना आवश्यकता के आविष्कार का आविष्कार नहीं हो पाता। इस सिद्धान्त के अनुसार यहां एक प्रश्न उपस्थित होता है कि कर्मवाद के आविष्कार की क्या आवश्यकता थी ? कर्मवाद का आविर्भाव क्यों हुआ ? भगवान महावीर के सामने ऐसी कौन सी परिस्थितियाँ थी जिनके कारण उनको कर्मवाद के सम्बन्ध में इतना गंभीर और सूक्ष्म चिन्तन संसार के सामने रखना पड़ा ? प्रश्न सामायिक है और बुद्धि-संगत भी। हमारे आचार्यों ने भी इस प्रश्न का बड़ा सुन्दर सामाधान किया है। उनका कहना है कि भगवान महावीर ने जिस समय कर्म-वाद का सिद्धान्त जनता के सामने उपस्थित किया, उस समय उनके सन्मुख तीन बातें विशेष रूप से प्रचलित हो रही थीं। जैसेकि १-वैदिक परम्परा की ईश्वर-सम्बन्धी भ्रान्त मान्यता। २-बौद्धधर्म का अयुक्त एकान्त क्षणिकवाद, और ३-आत्मा को जड़ तत्त्वों के अन्तर्गत स्वीकार करना।

भगवान महावीर के युग में जैनधर्म के अतिरिक्त वैदिक और बौद्ध ये दो धर्म ही मुख्य थे। दोनों की अपनी-अपनी मान्यताएँ थी।

वेदों, उपनिषदों, स्मृतियों तथा वेदानुयायी कुछ अन्य दर्शनों में ईश्वर-सम्बन्धी ऐसी कल्पनाएँ थी, जो प्रामाणिकता की कसौटी पर खरी नहीं उतर रही थीं; जैसेकि जगत का निर्माता ईश्वर है, वही अच्छे और बुरे कर्मों के फल का भुगतान कराता है, कर्म जड़ होने से ईश्वर की प्रेरणा बिना अपना फल स्वयं दे नहीं सकते। इसके अतिरिक्त, यह भी कहा जा रहा था कि जीव, जीव रहता है, वह ईश्वर नहीं बन सकता, तथा ईश्वर की कृपा के बिना संसार-सागर का किनारा भी नहीं मिल सकता। वैदिक-परम्परा को ईश्वर-सम्बन्धी ये मान्यताएँ भगवान महावीर को युक्तियुक्त प्रतीत नहीं हुई। इन्हें इन मान्यताओं में—१-कृतकृत्य ईश्वर का बिना प्रयोजन सृष्टि की रचना करना। तथा उस में हस्तक्षेप करना, २-आत्म-स्वातन्त्र्य की सर्वथा उपेक्षा का होना और ३-कर्मशक्ति के अद्भुत चमत्कारों का अबोध, ये तीन भूलें दृष्टिगोचर हुईं। भगवान महावीर ने फरमाया कि ईश्वर ने जगत की जो रचना की है, इसका उद्देश्य क्या है ? आधि, व्याधि और उपाधि के सन्ताप से सन्तप्त संसार क्यों बनाया गया ? इसकी रचना किए बिना ईश्वर को क्या तकलीफ थी ? फिर रचना भी ऐसी, जिस में कामनाओं और वासनाओं की ज्वालाएँ उठ रही हैं, शान्ति का जहां चिन्ह भी नहीं है, सर्वत्र दु:खों का साम्राज्य है। दूसरी बात, यदि ईश्वर ही सर्वेसर्वा है, और उसकी प्रेरणा से ही सब कुछ होता है, तो कसाई की छुरी गौ की गरदन को किस की प्रेरणा से काटती है ? डाकू जो डाके डालते हैं, आततायी और व्यभिचारी लोग नारी-जगत का शील-भंग करते हैं, उनके सतीत्व के साथ खिलवाड़ करते हैं, यह किस की प्रेरणा से ? क्या यह सब कुछ ईश्वर की प्रेरणा से होता है ? यदि उसकी प्रेरणा से होता है तो जन-जीवन को दु:खों की आग में जलाने वाला व्यक्ति क्या ईश्वर कहा जा सकता है ? कभी नहीं। अत: यही मानना उचित प्रतीत होता है कि संसार की प्रवृत्तियों के साथ ईश्वर का कोई सम्बन्ध नहीं है, जीवात्मा जो कुछ करता है, उसका दायित्व उसी पर

रहता है। कर्म-फल का भुगतान कराने के लिए भी जीवात्मा को किसी की सहायता की अपेक्षा नहीं रहती, कर्म स्वयं ही अपना फल जीवात्मा को प्रदान कर देता है। विष चेतन के साथ मिलकर जैसे अपने प्रभाव से उसे प्रभावित कर लेता है, वसे कर्म भी जीव को सुख-दुःख रूप फल का भुगतान करा देता है। जीव सदा जीव ही रहेगा, वह ईश्वर नहीं बन सकता, यह मान्यता भी ठीक नहीं है, क्योंकि कर्मफल का आत्यन्तिक नाश जीव को ईश्वर बना सकता है, उस में बाधा क्यों ? इसके अतिरिक्त, कर्म जड़ अवश्य है, परन्तु जड़ होता हुआ भी बड़े चमत्कार दिखलाता है, जब यह चेतन व्यक्ति पर अपना प्रभाव दिखलाने लगता है, तो उसे आश्चर्यचकित बना डालता है। इस सम्बन्ध में विशेषरूप से चिन्तन-"कर्म अपना फल कैसे देते हैं ?" इस प्रकरण में किया जाने वाला है।

भगवान महावीर ने उक्त तीनों भूलों को दूर करने के लिए, तथा वस्तुस्थिति को संसार के सन्मुख लाने के लिए कर्मवाद का उपदेश दिया है। इस कर्मवाद के पीछे भगवान महावीर का बड़ा ही सूक्ष्म और गम्भीर चिन्तन चल रहा है। इस में संकीर्णता, अनुदारता या पक्षान्धता के लिए कोई स्थान नहीं है।

भगवान महावीर और महात्मा बुद्ध दोनों समकालीन महापुरुष थे। महात्मा बुद्ध कर्म और उस के विपाक-फल को मानते थे, किन्तु उन के सिद्धान्त में क्षणिक-वाद को स्थान प्राप्त हो रहा था। क्षणिक वाद का अर्थ है—प्रत्येक वस्तु उत्पत्ति से दूसरे ही क्षण में नष्ट हो जाती है, अर्थात् प्रतिक्षण बदलती रहती है। इसलिए भगवान महावीर के कर्मवाद के उपदेश का यह भी एक रहस्य-पूर्ण उद्देश्य है कि यदि आत्मा को केवल क्षणिक मान लिया जाए तब तो कर्म-फल की किसी भी तरह उपपत्ति-सिद्धि नहीं हो सकती। जब कर्म का कर्ता ही समाप्त हो गया, तब उस का फल कौन भोगेगा ? फलतः स्व-कृत कर्म के भोग की समस्या आत्मा को क्षणिक मानकर समाहित नहीं

हो सकती। भगवान महावीर कर्मवाद के सिद्धान्त के निरूपण से बौद्धों के इसी क्षणिक-वाद का परिहार करना चाहते हैं। जैन-दर्शन आत्मा को न तो एकान्त नित्य मानता है, और न एकान्त क्षणिक-अनित्य। जैन-दर्शन की दृष्टि से आत्मा नित्यानित्य है।

चार्वाक आदि दर्शनों में विश्वास रखने वाले व्यक्तियों का कहना है कि आत्मा कोई स्वतन्त्र द्रव्य नही है, यह तो पृथिवी आदि पांच भूतों के संयोग से निष्पन्न होता है, और संयोग जब वियोग का रूप ले लेता है तब यह आत्मतत्त्व भी समाप्त हो जाता है। ये लोग भौतिक देह विनष्ट होने के बाद कृतकर्म का भोग करने वाले तथा पुनर्जन्म लेने वाले किसी स्थायी तत्त्व को नही मानते। भगवान महा-वीर को यह मान्यता इष्ट नही है, ये आत्मतत्त्व को एक स्वतन्त्र, अनादि एवं अनन्त द्रव्य स्वीकार करते हैं। पृथिवी आदि पांच भूतों के समुदाय से आत्मा की उत्पत्ति की मान्यता उन्हें सर्वथा अनिष्ट है। इसी मान्यता का विरोध या निराकरण करने के लिए भगवान महावीर ने कर्मवाद के सिद्धान्त का उपदेश दिया है। कर्मवाद आत्मा को अनादि, अनन्त उद्‌घोषित करता है, उसकी दृष्टि में मूलरूप से आत्मा कभी नष्ट नही होती।

कर्म की सत्ता में क्या प्रमाण है ?—

कर्मवाद का आविर्भाव क्यों किया गया ?, इस जिज्ञासा की पूर्ति के लिए ऊपर की पंक्तियों में कुछ चिन्तन प्रस्तुत किया गया है। अब एक प्रश्न और सामने आता है कि कर्म कोई वस्तु है ? इस में क्या प्रमाण है ? इस प्रश्न का समाधान भी कर लेना आवश्यक है। जगत में जो वैचित्र्य दृष्टिगोचर होता है, वैयक्तिक, पारिवारिक, सामाजिक या राष्ट्रिय जीवन में जो विभिन्नता दिखाई देती है। यही विभिन्नता कर्म के वस्तुत्व में प्रमाण है। इस तथ्य को उदाहरणों से सम-झिए। देखिए, यह विश्व एक रंग-मंच (स्टेज) के तुल्य है, यहाँ नाना

प्रकार के पात्र हमारे सामने आते दिखाई देते हैं। इनमें कोई जीव धनी है, पुञ्जीपति है, लक्ष्मी का अधिनायक है और कोई निर्धन है, लक्ष्मी से हीन है, जीवन भर धन के लिए तरसता रहता है। एक व्यक्ति बलवान है, शारीरिक शक्तियों का पुञ्ज है, बड़े सुन्दर डील-डौल वाला है और एक निर्बल है, सर्वथा दुर्बल है, शारीरिक दृष्टि से बड़ा कमज़ोर है, कोई विद्वान है, विद्या के क्षेत्र में पूर्णरूप से सफल रहता है, सरस्वती उस की रसना पर नाचती है और कोई मूर्ख है, अनपढ़ है, काला अक्षर उसके लिए भैंस के बराबर है, कोई स्वस्थ है, उसने कभी रोग देखा ही नहीं, बीमारी उस के निकट नहीं आती और कोई सदा रोगी रहता है, उस का कभी सर दुखता है, कभी उस के पेट में दर्द रहता है, वह रोगों को प्रिय है, बीमारी उसका पीछा ही नहीं छोड़ती, किसी का सर्वत्र स्वागत होता है, जनता उसके मार्ग में पलकें बिछा देती है, करतल-ध्वनि से उसका अभिनन्दन करती है, और किसी को घृणा से निहारा जाता है, कहीं सम्मान प्राप्त नहीं होता, काली झण्डियों से उस का स्वागत होता है, "वापिस जाओ" के नारे लगा कर उस का अपमान किया जाता है, किसी के दर्शन के लिए लोग तरसते हैं और किसी को कोई फूटी आंख से देखना भी पसन्द नहीं करता, कोई दाने-दाने के लिए तरसता है, पेट भर अन्न भी जुटा नही पाता और किसी को भोजन-सामग्री इतनी अधिक प्राप्त होती है, कि उसे अजीर्णता हो जाती है, और वह उसका परिहार करने के लिए डाक्टरों की शरण लेता है, एक नव-जात बालक बड़ी सुन्दर आंखें, हाथ और पांव लेकर इस दुनिया में जन्म धारण करता है, और किसी को आंखें आदि अवयव भी उपलब्ध नहीं होते, देखने के लिए और चलने के लिए भी तड़फता रहता है, किसी के दोनों टांगें हैं और कोई टांगों से विहीन होता है, एक की रसना में बड़ा माधुर्य है, और एक के पास निर्दोष रसना भी नहीं होती, एक के जन्म पर खुशियां मनाई जाती हैं, हर्ष साकार होकर नाचने लगता है, मिठा-

इयाँ बाँटी जाती हैं और एक का जन्म होने पर सारे घर में शोक छा जाता है, खाने, पीने और कपड़े आदि की चिन्ताएं अँगड़ाई लेने लगती हैं, एक का बालक कार में बैठकर पढ़ने और भ्रमण करने जाता है, तथा दूसरा बालक पैदल ही ठोकरें खाता है, सारा जीवन पांव ही घिसाता रहता है। एक व्यक्ति के घर में आने पर धन-जन की सम्वृद्धि होती है, नरक जैसा घर स्वर्ग बन जाता है और एक के आने पर घर में अन्धकार छा जाता है, चारों ओर से हानि ही हानि होती है, एक व्यक्ति परिवार, समाज और राष्ट्र का सहारा बनता है और दूसरा सब के ह्रास का कारण समझा जाता है, एक उन्नति और प्रगति का प्रतीक होता है और दूसरा अवनति एव दुर्गति का पात्र बनता है, एक ही पेट में पैदा होने वाले दो भाइयों में एक फकीर बनकर घर-घर भिक्षापात्र लिए घूमता है और दूसरा एक विशाल साम्राज्य का अधिकारी बन कर हजारों, लाखों जीवो की उदरपूर्ति करता है। कविता की भाषा में यदि कहें तो बिना किसी संकोच के कहा जा सकता है—

इक बाप के दो बेटे, क़िस्मत जुदा-जुदा है,
शाहों का एक शाह है, दर-दर का इक गदा है।
मांगो न भीख मिलती, सुनता न बात कोई,
आंखों से एक अन्धा, रोता जो सर्वदा है।
दौलत की है बहारें, संसार पूजता है,
सुखिया है एक हरदम, होती विजय सदा है।
पापी है एक ज़ालिम, दुखियों को है सताता,
करुणा का एक सागर, जिस पर जगत फिदा है।
दाता है इक भिखारी, ठाकुर है इक पुजारी,
अच्छे बुरे कर्म का फल हो रहा अदा है।

गर "ज्ञान मुनि" तू तोड़े, कर्मों की बेडियों को,
आएगी फिर घड़ी वह, जब तू ही खुद खुदा है।

इस कविता में यह अभिव्यक्त करने का प्रयास किया गया है कि इस जगती में एक ही मां के पेट से पैदा होने वाले दो बच्चों की जीवन-दिशाएं एक जैसी नहीं होतीं। दोनों में आकाश-पाताल का सा अन्तर पाया जाता है, इस ऊहापोह से यह स्पष्ट हो जाता है कि संसार के रंगमंच पर जितने भी पात्र मिलते हैं, इन के जीवन में जो वैचित्र्य, विभिन्नता या अन्तर पाया जाता है, आखिर इस अन्तर का कोई कारण तो अवश्य है, वह क्या है? बिना कारण के यह विभिन्नता कभी हो नहीं सकती, जैन-धर्म इस वैचित्र्य का कारण अवश्य बतलाता है वह यहाँ मौन नहीं रहा, इसकी मान्यतानुसार वह कारण कर्म है। जैनदर्शन का विश्वास है कि कर्म ही इस संसार का नियन्ता है, वही इस विभिन्नता का जनक है, और वही जगती के प्राणियों में प्रकृति, आकृति और स्थिति को लेकर नाना प्रकार के परिवर्तन लाता रहता है।

वैयक्तिक जीवन के अतिरिक्त, सामाजिक जीवन में भी जो विषमताएं देखने को मिलती हैं, इनका कारण भी कर्म ही है। सामाजिक दृष्टि से एक व्यक्ति प्रतिष्ठित और सम्मानित है, समाज का प्रधान या महामन्त्री बना कर उस के गले में अभिनन्दन के हार पहनाए जाते हैं, वह श्रद्धा का केन्द्र मान लिया जाता है, और एक को प्रधानादि पदों से च्युत किया जाता है, अविश्वास के प्रस्ताव पारित करके बहिष्कृत करने का प्रयास चलता है, सर्वत्र उस पर दुतकार की वर्षा होती है, घृणास्पद मान कर उस की उपेक्षा की जाती है। इस विषमता का कारण भी जैन-दृष्टि से कर्म ही समझा जाता है। इस सत्य से कौन इन्कार कर सकता है कि जगती के प्राणियों में एक जैसा आत्मा निवास करता है, जब सब में एक सा जीवात्मा

विराजमान रहता है, तब कोई जीव मनुष्य, कोई पशु, कोई पक्षी, कोई कीड़ा, कोई नारकी और कोई स्वर्ग का देवता बना है, यह शरीरभेद क्यों ? इस के अतिरिक्त, इन शरीर-धारी प्राणियों की सुख-सुविधाएं भी भिन्न-भिन्न होती हैं, यातनाओं का क्रम भी एक जैसा नहीं होता, यह क्यों ? इस का कोई न कोई कारण तो अवश्य होना ही चाहिए। निष्कारण तो संसार में कोई स्थिति दिखाई नहीं देती। इस सम्बन्ध में कुछ विचारकों का कहना है कि इस का कारण ईश्वर है, अन्य कोई नहीं। सिक्खशास्त्र गुरुग्रन्थ साहिब में लिखा है—

"करे करावे आपो आप, मानुष के कुछ नाहीं हाथ"

भाव यह है कि संसार में जो भी कुछ हो रहा है, वह परमपिता परमात्मा की इच्छा से हो रहा है। परमात्मा ही इस संसार का नियन्ता है, संचालक है, भाग्यविधायक एवं कर्मफलप्रदायक है, जगती में जितनी भी शारीरिक बौद्धिक, आर्थिक, सामाजिक या आचार-सम्बन्धी विभिन्नता पाई जाती है, वह सब ईश्वर की कृपा का ही फल है, परन्तु जैन-दर्शन इस मान्यता को स्वीकार करने से इन्कार करता है, उसका विश्वास है कि जीवन में अच्छी या बुरी, अनुकूल या प्रतिकूल, आदरणीय या अनादरणीय जितनी भी अवस्थाएँ दिखाई देती हैं, इन सब का कारण ईश्वर नहीं है, क्योंकि ईश्वर तो निर्विकार है, निर्लेप है, संसार के सब झञ्झटों से ऊपर उठा हुआ है, वह न किसी को सुख देता है, और न वह किसी को दुःखी करता है, संक्षेप में यदि कहें तो—मनुष्य-जगत और पशु-जगत की जितनी भी विभिन्न दशाएं उपलब्ध होती हैं, इन के मूल में कर्म की शक्ति ही काम कर रही है, ईश्वर या देवी-देवता का इनसे कोई सम्बन्ध नहीं। इसके अतिरिक्त, जीव जगत की ये सब विभिन्न दशाएं ही कर्म की सत्ता में प्रमाण हैं, यदि संसार में कर्म की शक्ति न होती तो एक ही परिस्थिति में जीवन यापन करने वाले व्यक्तियों के जीवन में कोई वैचित्र्य, विभिन्नता या अन्तर दिखाई न देता।

व्यवहार में कर्म की उपयोगिता—

जीवन-शास्त्र का परिशीलन करने से ज्ञात होता है, पता चलता है कि मनुष्य जब कोई कार्य आरम्भ करता है, तो कई बार उसे असफल भी रहना पड़ता है, अपने आरब्ध कार्य में उसे सफलता प्राप्त नही होती, कोई ऐसा भयकर विघ्न आ पड़ता है कि उस की सारी की सारी योजना धूलि में मिल जाती है, उस का भावी संकल्प मूर्तरूप नही ले पाता, ऐसी अवस्था मे वह घबरा उठता है, आकुल-व्याकुल होकर दूसरों को कोसता है, उन्हे दोषी ठहराता है, उन से लड़ाई लडने में भी नही सकुचाता, जब कोई वश नही चलता तो अन्त में आरब्ध कार्य से मुख मोड लेता है, उसे मध्य में ही छोड़ देता है, इसके अतिरिक्त, वह इतना निराश और हताश हो जाता है कि धार्मिकता या सत्यता पर भी उसे आस्था नही रहती। धर्म से कल्याण होता है, धर्म स्वर्ग और मुक्ति के द्वार खोलता है, धर्म से वैयक्तिक, पारिवारिक और सामाजिक शान्ति प्राप्त होती है, प्रामाणिकता जीवन को सुखमय बनाती है, ये सब बाते उसे कपोल-कल्पित अनुभव होती हैं, ईमानदारी को ढकोसला समझने लगता हैं, धीरे-धीरे वह पक्का नास्तिक बन जाता है। ऐसी स्थिति में उस मनुष्य को ऐसे गुरु, मार्गदर्शक और निर्देशक की आवश्यकता है, जो उस का मार्ग-दर्शन करे, बुद्धि-नेत्र को स्थिर करने में सहायता प्रदान करे, जिस से वह आरब्ध कार्य में उपस्थित विघ्नों के मूल कारण को देख सके और अशान्त हृदय को शान्ति दे सके। भगवान महावीर या जैन-दर्शन की दृष्टि में ऐसा गुरु, मार्गदर्शक या निर्देशक कर्मवाद ही है, कर्म का सिद्धान्त ही है। कर्मवाद उस मनुष्य से कहता है कि भोले मनुष्य! क्यो निराश होता है? जीवन में दुःखों की जो वर्षा हो रही है, प्रतिकूल परिस्थितियों ने तुझे जो आक्रान्त कर रखा है, इसका कारण तू स्वय है, तू ने स्वयं ही इनके बीज बो रखे है, अड़ौसी-पड़ौसी तो केवल निमित्त हैं, जब अपने हाथों से

बीज बो रखे हैं तो फल आने पर क्यों आकुल होता है ? क्यों अशान्त होकर अपने मस्तिष्क को खराब करता है ? विश्वास रख, जीवन में आने वाला दु:ख धर्माचरण से पैदा नहीं होता, धर्माचरण तो जीवन का कल्याण करता है, पापों का नाश करके जीवन के भविष्य को समुज्ज्वल बना देता है। अत: धर्माराधन के प्रति आस्था को शिथिल मत कर। इसके अतिरिक्त, तेरी ही बात क्या है, कर्म किसी को भी नहीं छोडते, इनका भुगतान सभी को करना पड़ता है। भगवान आदिनाथ को लगातार बारह महीने अन्न-जल की प्राप्ति नहीं हुई, भगवान महावीर को कानों में कील ठुकवाने पड़े, देवकी के लाल गजसुकुमार को अपने सिर पर अगीठो रखवानी पड़ी, धर्मवीर सेठ सुदर्शन को शूलो पर लटका दिया गया, पाँच सो शिष्यों के साथ मुनिराज स्कन्धक कुमार को सरसों के दाने की भाँति कोल्हू में पील दिया गया, अयोध्या-नरेश सत्यवादी हरिश्चन्द्र को अपनी रानी तारा के साथ काशी के बाज़ार में पशुओं की भाँति बिकना पड़ा, पाण्डुपुत्र अर्जुन जो हज़ारों सैनिकों को पछाड़ देता था, एकदिन विराट नगरी में कर्म के कारण हीजड़ा बनता है, राजकुमारियों को नृत्य और गायन कला का अभ्यास कराता है, एक अर्जुन क्या, कर्मों के दरबार में ऐसे लाखों अर्जुन पड़े हैं जिन की कर्मों ने जड़ें हिलादीं, और उनका जगत में चिन्ह तलक भी नहीं रहने दिया। क्यों घबराता है ? अपने से ऊपर वालों को मत देख, जो तुझ से भी अधिक विक्षुब्ध है, उनकी तरफ ध्यान कर। संसार में तुझ से भी अधिक दु:खी व्यक्ति अवस्थित हैं, उनकी अपेक्षा तो तू आनन्द में है। क्यों अधीर होता है ? कर्मवाद का यह सन्देश दु:खों की ज्वालाओं से दग्ध हुए मनुष्यों के ज़ख्मों पर मरहम का काम देता है, उन के अशान्त हृदयों को शान्ति पहुँचाता है। दु:खी मानस को सुख देना, निराशा के गर्त्त में पड़े मानव को वहाँ से निकाल कर आशा के विशाल भवन में बिठला देना, यही कर्मवाद की व्यावहारिक उपयोगिता समझनी चाहिए।

कर्मवाद की व्यावहारिक उपयोगिता का दिग्दर्शन कराते हुए जर्मन विद्वान डाक्टर मेक्समूलर ने बड़े सुन्दर विचार प्रस्तुत किए हैं, एक बार उन्होने कहा था—

यह तो निश्चित है कि कर्म-सिद्धान्त का मनुष्य जीवन पर महान प्रभाव पड़ा है। यदि किसी मनुष्य को यह बोध हो जाए कि मुझको जो कुछ भोगना पड़ रहा है, वह मेरे पूर्व जन्म का ही फल है तो वह पुराने कर्जे को चुकाने वाले मनुष्य की भाँति आने वाले कष्ट को शान्त भाव से सहन कर लेता है, यदि मनुष्य यह भी जान लेता है कि सहनशीलता से पुराना कर्ज चुकाया जाता है तथा सहनशीलता से भविष्य समुज्ज्वल होता है, तो सहनशील बनने की प्रेरणा भी उसे स्वतः ही प्राप्त होने लगती है। इस तरह कर्म-सिद्धान्त से लाखों मनुष्यो के कष्ट कम हुए है, वर्तमान में दुःख सहन करने की क्षमता पैदा होती है, तथा भविष्य में जीवन को पवित्र बनाने की प्रेरणा मिलती है।×

जीव और कर्म का सम्बन्ध कैसे ?

जगत के सब पदार्थ एक जैसे नही है, इन में कुछ मूर्त्त हैं, और कुछ अमूर्त्त। जिन में वर्ण, गन्ध, रस और स्पर्श आदि गुणों की उपलब्धि हो उन को मूर्त्त द्रव्य और जिन में वर्णादि गुण अवस्थित न हों, उनको अमूर्त्त द्रव्य कहते है। मूर्त्त को रूपी और अमूर्त्त को अरूपी भी कहा जाता है। अरूपित्व का अर्थ स्वरूप-निषेध मे नहीं समझना चाहिये, स्वरूप तो सभी द्रव्यों का अपना-अपना होता ही है, अश्वशृङ्ग, की तरह कोई वस्तु स्वरूप-हीन नही होती, अर्थात् यदि द्रव्य का अपना कोई स्वरूप न हो तो वह अश्वशृङ्ग की तरह अवस्तु ही हो जाएगा, अतः अरूपित्व के कथन से स्वरूप-हीनता न समझ कर वर्णादि गुणों का निषेध ही समझना चाहिए, इस

× देखो—प्रथम कर्मग्रन्थ, पृष्ठ आठ।

तरह वर्णादि गुणों से हीन द्रव्य अरूपी कहा जाता है। द्रव्य-धर्मास्तिकाय, अधर्मास्तिकाय, आकाशास्तिकाय, काल, जीव और पुद्गल इन भेदों से ६ प्रकार के होते हैं, इन में पुद्गल द्रव्य रूपी और शेष सभी द्रव्य अरूपी माने जाते हैं।

ऊपर की पंक्तियों में मूर्त्त और अमूर्त्त द्रव्यों के सम्बन्ध में चिन्तन प्रस्तुत किया गया है। इस से यह स्पष्ट हो जाता है कि कर्म पौद्गलिक ×होने से मूर्त्त है और जीव ज्ञान-स्वरूप होने से अमूर्त्त-द्रव्य है। अब यहाँ एक प्रश्न उपस्थित होता है कि मूर्त्त और अमूर्त्त द्रव्य का आपस में सम्बन्ध कैसे हो सकता है? इस प्रश्न का समाधान करते हुए कर्मवाद के आचार्य फरमाते हैं कि जैसे मूर्त्त घट का अमूर्त्त आकाश के साथ सम्बन्ध रहता है, उसी प्रकार जीव और कर्म का सम्बन्ध भी समझना चाहिए। जीव और औदारिक-शरीर का सम्बन्ध तो प्रत्यक्ष सिद्ध है ही। इसमें तो सन्देह के लिए कोई अवकाश ही नहीं है। जैसे यहाँ मूर्त्त और अमूर्त्त का सम्बन्ध सम्पन्न हो रहा है, बिल्कुल वैसे ही जीव और कर्म-पुद्गलों के सम्बन्ध में आपत्ति वाली कोई बात नहीं है। इसके अतिरिक्त, जब अन्धेरी (आंधी) चलती है, झञ्झावात उठता है, तो सर्वत्र अंधकार छा जाता है, दिशाएं धूमिल हो जाती है, आकाश धूलिव्याप्त दिखाई देने लगता है। जैसे अमूर्त्त आकाश मूर्त्त आंधी से सम्बन्धित दृष्टिगोचर होता है, वैसे मूर्त्त कर्म से अमूर्त्त आत्मा से सम्बन्धित रहता है।

मूर्त्त अमूर्त्त को कैसे प्रभावित करता है?—

यह सत्य है कि आत्मा अमूर्त्त है और कर्म मूर्त्त द्रव्य है, किन्तु यहाँ एक आशंका उत्पन्न होती है कि मूर्त्त द्रव्य अमूर्त्त द्रव्य को कैसे प्रभावित कर देता है? वायु और अग्नि ये दोनों मूर्त्त द्रव्य हैं, इनका अमूर्त्त आकाश द्रव्य पर कोई प्रभाव नहीं पड़ता, हवा आकाश को

× पुद्गल मूर्त्त द्रव्य को कहते हैं, पुद्गल-जन्य द्रव्य पौद्गलिक कहलाता है।

उड़ा नहीं सकती और अग्नि इसे जला नहीं पाती, जिस प्रकार मूर्त्त वायु और अग्नि इन द्रव्यों का अमूर्त्त आकाश द्रव्य पर कोई प्रभाव नहीं पड़ता, इसी प्रकार मूर्त्त कर्म का भी अमूर्त्त आत्मद्रव्य पर कोई प्रभाव नहीं पड़ना चाहिए, परन्तु यह प्रभाव प्रत्यक्ष देखने में आता है, अतः प्रश्न उपस्थित होता है कि मूर्त्त कर्म अमूर्त्त आत्मा को कैसे प्रभावित कर लेता है ? इस प्रश्न का समाधान करते हुए कर्म-वादी आचार्य फरमाते हैं कि मूर्त्त द्रव्य अमूर्त्त द्रव्य को प्रभावित कर ही नहीं सकता, ऐसा कोई एकान्त सिद्धान्त नहीं है, क्योंकि मूर्त्त द्रव्य अमूर्त्त द्रव्य को प्रभावित करते देखे जाते है। उदाहरणार्थ, जैसे ज्ञान है, यह आत्मा का गुण होने से अमूर्त्त है, मदिरा और विष आदि पदार्थ रूपी होने से मूर्त्त होते हैं। व्यवहारसिद्ध है कि जब मनुष्य मदिरापान कर लेना है तो उस का ज्ञान-गुण मदिरा-जन्य प्रभाव से प्रभावित हुए बिना नहीं रहता। मदिरा मनुष्य की बौद्धिक शक्ति को दूषित करती है, उस में अवस्थित हानि-लाभ की चिन्तनशक्ति को लूट लेती है। जैसे मूर्त्त मदिरा अमूर्त्त ज्ञान-गुण को प्रभावित कर डालती है, इसी तरह मूर्त्त कर्म अमूर्त्त आत्मा को अपने फल से प्रभावित कर देते हैं, यहाँ आपत्ति के लिए कोई स्थान नहीं है।

जैन दर्शन अनेकान्त-वाद-प्रधान दर्शन है। अनेकान्त-वाद का अर्थ है-पदार्थ में अवस्थित प्रत्येक धर्म को ध्यान में रख कर उस के स्वरूप का चिन्तन एवं प्रदर्शन करना। अनेकांतवाद की इस दृष्टि से आत्मा अमूर्त्त भी है, और मूर्त्त भी। कर्म-प्रवाह अनादि-कालीन होने से यह संसारी जीव अनादि काल से कर्म-परमाणुओं से आबद्ध चला आ रहा है और वे कर्म-परमाणु स्वर्ण पर लगे मल की भाँति आत्मा को आच्छन्न किए हुए हैं, इसलिए आत्मा सर्वथा अमूर्त्त नहीं है। कर्मसम्बद्ध होने के कारण आत्मा कथंचित् मूर्त्त भी है। परिणाम-स्वरूप मूर्त्त कर्म का मूर्त्त आत्मा को प्रभावित कर देना अस्वाभाविक नहीं समझना चाहिए।

कर्म का शुभाशुभ रूप—

सैद्धान्तिक मान्यता के अनुसार लोक में कर्मवर्गणा के पुद्गल भरे पड़े हैं, उनमें "ये शुभ हैं और ये अशुभ हैं" ऐसा कोई भेद नहीं है फिर कर्म-पुद्गलों में —ये शुभ हैं, और ये अशुभ हैं,, ऐसा भेद किस आधार पर किया जाता है ? जब सभी कर्म-योग्य परमाणु एक जैसे माने जाते हैं, तब उनमें शुभाशुभ का भेद कैसे सम्पन्न होता है ? यह समझ लेना भी आवश्यक है। यह सत्य है कि कर्म-योग्य परमाणुओं में शुभाशुभ का भेद नहीं होता, किन्तु जैन-दृष्टि के अनुसार, अपने शुभाशुभ संकल्प-विकल्पों के द्वारा जीव जिन कर्मपुद्गलों को ग्रहण करता है, वे पुद्गल शुभाशुभ परिणामों के अनुसार तत्काल शुभाशुभ रूप धारण कर लेते हैं। जीव जब शुभ संकल्पों से कर्म-परमाणु ग्रहण करता है, तब वे शुभ बन जाते हैं, और जब वह अशुभ संकल्पों से उन्हें ग्रहण करता है, तब वे स्वतः ही अशुभ हो जाते हैं। क्योंकि कर्म के आश्रभूत जीव का यह प्रकृतिसिद्ध स्वभाव है कि वह परिणामों के अनुसार कर्म-परमाणुओं का स्वभाव परिवर्तित कर देता है, जैसे जीव में कर्म-परमाणुओं को शुभाशुभ रूप देने की क्षमता रहती है, वैसे कर्म-परमाणुओं के अन्दर भी शुभाशुभरूप में परिवर्तित होने का स्वभाव पाया जाता है, वे जीव के अध्यवसाओं के अनुसार तत्काल बदल जाते हैं। इस तथ्य को उदाहरण से समझिए, सर्प और गाय दोनों को एक साथ यदि दूध पिलाया जाए तो वे अपने-अपने स्वभाव के अनुसार दूध को परिवर्तित कर देते हैं। सर्प के शरीर में दूध विष का रूप धारण कर लेता है, और गाय के शरीर में दूध,दूध के रूप में परिवर्तित हो जाता है। आहार में यह प्रकृतिसिद्ध स्वभाव मिलता है कि वह एक समान होने पर भी आश्रय-भेद से भिन्न-भिन्न रूप ले लेता है। एक और उदाहरण लीजिए, एक ही समय में पड़ी हुई वर्षा की बून्दों का आश्रय-भेद के कारण अलग-अलग परिणाम देखा जाता है। यदि वर्षा की बूदें स्वातिनक्षत्र में गिरती हैं और सीप के मुँह में चली जाती हैं,

तो वे मोती बन जाती हैं, और वही बून्दें यदि किसी विषधर के मुख में प्रविष्ट हो जाती हैं तो वे विष का रूप धारण कर लेती हैं×। इसके अतिरिक्त, मनुष्य जो भोजन खाता है, वह एक ही शरीर में रहता है, परन्तु उसमें अनेकों परिणाम देखने में आते हैं। भोजन का कोई भाग नेत्रज्योति को सम्वर्धित करता है, कोई भाग मस्तक आदि शारीरिक अवयवों को पुष्ट बनाता है, कोई भाग नासिकामल तथा कोई भाग अधोमल के रूप में परिवर्तित हो जाता है, एवं किसी भाग से वीर्य की सम्वृद्धि होती है। यह सब कुछ आश्रयभेद के कारण ही सम्पन्न होता है। जैनाचार्यों का फरमान है कि इसी प्रकार कर्मपुद्गल भी जीव से ग्रहण किए जाने पर तत्काल शुभाशुभ रूप में परिणत हो जाते हैं।

जीव और कर्म का सम्बन्ध कब से है ?—

सम्बन्ध चार प्रकार के होते हैं—१–अनादि-अनन्त, २–अनादि-सान्त, ३–सादि-अनन्त और ४–सादि-सान्त। जिस सम्बन्ध का आदि-काल तथा अन्तकाल न हो. वह अनादि-अनन्त, जिसका आदिकाल नहीं है, परन्तु अन्तकाल होता है वह अनादि-सान्त, जिसका आदिकाल है, परन्तु अन्तकाल नहीं वह सादि-अनन्त और जिस सम्बन्ध का आदिकाल भी है और अन्तकाल भी होता है, उसे सादि-सान्त कहते हैं।

प्रस्तुत में कर्मवाद का प्रकरण चल रहा है, अतः यहाँ एक प्रश्न उपस्थित होता है, कि जीव और कर्म का सम्बन्ध कब से है ? इनका सम्बन्ध अनादि-अनन्त है ? अनादि-सान्त है ?, सादि-अनन्त है ? अथवा सादि-सान्त समझना चाहिए ? जैनदर्शन इस प्रश्न क ासमाधान करता हुआ कहता है कि जीव और कर्म का सम्बन्ध अनादि-अनन्त भी है, अनादि-सान्त भी है और सादि-सान्त भी। कर्मप्रवाह की दृष्टि से

×सीप गए मोती भए, कदली भए कपूर।
अहि-मुख गए तो विष भए, संगति के फल सूर॥

जीव और कर्म का सम्बन्ध अनादि माना गया है। अनादि का अर्थ है—जिस कर्म का आदिकाल नहीं है, जिसका छोर-सिरा नहीं मिलता, आरम्भ की दृष्टि से जिसकी कोई सीमा नहीं है। अनादिकाल से यह जीव कर्मों की बेड़ियों में जकड़ा हुआ है, अतीतकाल में ऐसा कोई भी समय नहीं था, जब यह आत्मा कभी कर्मों से पृथक् था, जुदा था, जकड़ा हुआ नहीं था। आत्मा पृथक् पड़ा था और कर्म-परमाणु पृथक् पड़े थे, इन दोनों को किसी समय किसी ने मिश्रित कर दिया हो, मिला दिया हो, ऐसी कोई घड़ी नहीं थी। क्योंकि यदि निष्कर्म और सर्वथा विशुद्ध आत्मा भी बिना कारण स्वत: ही कर्मों से आबद्ध हो जाए, तब तो सिद्धलोक की कोई भी आत्मा अपनी निष्कर्मता को कभी सुरक्षित नहीं रख सकती, वह भी कर्मों से आबद्ध हो जाएगी ? अत: आत्मा और कर्म का सम्बन्ध अनादि ही समझना चाहिए।

जीव-जगत के अनेक प्रकारों में से भव्य और अभव्य ये दो प्रकार भी होते हैं। जिस जीव में मुक्ति को प्राप्त करने की योग्यता है, सम्यग्-दर्शन-पूर्वक चारित्र-धर्म की आराधना करके मुक्त होने की क्षमता निवास करती है, वह भव्य कहलाता है, और जिस जीव में मुक्ति को अधिगत करने की योग्यता नहीं है, सम्यग्-दर्शन की चमचमाती ज्योति से अपने अन्तर्जगत को कभी ज्योतित करने का सामर्थ्य नहीं है, उसे अभव्य कहते हैं। जैन-दृष्टि से अभव्य जीव अपने आत्मप्रदेशों को कर्म-परमाणुओं से कभी सर्वथा पृथक् नहीं कर पाते, इन के आत्म-प्रदेशों के साथ कर्म-परमाणुओं का जो सम्बन्ध है, वह किसी न किसी रूप में सदा बना ही रहता है, अतएव अभव्य जीवों का कर्म-सम्बन्ध अनादि-अनन्त माना गया है। वन्ध्या नारी लाख प्रयत्न करने पर भी जैसे माँ बनने की घड़ी नहीं देख सकती, वैसे अभव्य जीव भी अपनी स्वभावसिद्ध प्रकृति के कारण सम्यक्त्व के महादेव के चरणों का कभी स्पर्श नहीं कर पाता, मिथ्यात्व और नास्तिकता, की छाया तले ही सदा जीवन की यात्रा सम्पन्न करता है, अत: ऐसे

अभव्य जीव का कर्म-सम्बन्ध सदा स्थायी होने से अनादि-अनन्त कहा जाता है। इसके विपरीत, भव्य जीव का कर्म-सम्बन्ध अनादि-सान्त माना गया है। क्योंकि भव्य जीव योग्य साधन-सामग्री प्राप्त होने पर सम्यक्त्व प्राप्त करता है, तत्पश्चात् चरित्र की परिपालना करके कर्मों की निर्जरा कर देता है। निर्जरा का अर्थ है—कर्मों का आत्मा से अलग हो जाना। भव्य जीव अहिंसा, संयम और तप की त्रिवेणी में गोते लगाकर जब अपनी आत्मा को सर्वथा निर्मल बना लेता है, कर्म-परमाणुओं के आत्म-गत सम्बन्ध को सर्वथा समाप्त करके जब वह बिल्कुल निष्कर्म हो जाता है, तब मुक्ति-धाम में जा विराजता है। परिणाम-स्वरूप भव्य जीव के कर्म-सम्बन्ध को अनादि-सान्त माना गया है। भाव यह है कि कर्म-प्रवाह की दृष्टि से भव्य जीव का कर्म-सम्बन्ध अनादि और कर्मों का आत्यन्तिक नाश हो जाने के कारण उसका कर्म-सम्बन्ध सांत-अन्तसहित कहलाता है।

प्रश्न हो सकता है कि संयोग वियोग-मूलक होता है, अर्थात् जिन दो वस्तुओं में संयोग पाया जाता है, वे कभी-न-कभी वियुक्त अवश्य थीं। अन्यथा उनके संयोग का कोई मूल्य ही नहीं है। ऐसी स्थिति में आत्मा और कर्म-परमाणुओं का सम्बन्ध अनादि-कालीन कैसे कहा गया है? विश्व में जितने भी सम्बन्ध हैं, संयोग हैं, वे सब सादि हैं, आदि काल वाले ही होते हैं, अतः कोई संयोग अनादि शब्द से व्यवहृत नहीं किया जा सकता? इस प्रश्न का समाधान करते हुए जैनाचार्य फरमाते हैं कि संयोग वियोग-मूलक ही होता है, ऐसा कोई एकांत सिद्धांत नहीं है। संयोग वियोग-मूलक भी होता है, और वियोग-रहित भी। व्यवहार-क्षेत्र में कई एक ऐसे संयुक्त पदार्थ भी देखने में आते हैं, जो कभी वियुक्त थे ही नहीं, तो क्या उन की संयुक्त-दशा का अपलाप किया जा सकता है? उदाहरणार्थ-खान से निकला स्वर्ण ही ले लें। यह स्वर्ण माटी से संयुक्त होता है, सुनार लोगों के हाथों में जाकर जब इसके मल का नाश होता है, तब वह शुद्ध स्वर्ण

कहलाता है। यदि कोई प्रश्न करे कि स्वर्ण के साथ मिट्टी का सम्बंध कब से हुआ? क्या कोई ऐसा भी समय था कि जब सोना अलग पड़ा था और मिट्टी अलग पड़ी थी, फिर किसी ने उन दोनों को मिला दिया हो? इस प्रश्न का क्या समाधान किया जा सकता है? बस यही कि स्वर्ण सदा से ऐसा ही था, स्वर्ण और मिट्टी का संयोग वियोग-मूलक नहीं है, यह संयोग कभी वियुक्त दशा में रहा हो, ऐसा कोई काल नही था। जैसे स्वर्ण और मल के सम्वध का आदिकाल नही है, यह अनादि है, ऐसे ही जीव और कर्म परमाणुओं की वात भी समझनी चाहिए। भाव यह है कि कर्म-प्रवाह की दृष्टि से जीव और कर्म-पुद्गल का सम्बंध अनादि है, आदिकाल से विहीन है।

ऊपर की पंक्तियों में यह स्पष्ट कर दिया गया है कि अभव्य जीवों का कर्म-सम्बंध अनादि-अनंत है और भव्य जीवों का कर्म-सम्बन्ध अनादि-सांत है। रही वात तीसरे सादि-सांत सम्बंध की। यह सम्वध अभव्य और भव्य दोनों जीवों में पाया जाता है। क्योंकि एक कर्म की दृष्टि से यदि विचार करते हैं, तो आदिकाल वाला होने से वह सादि भी है, और एक दिन उस की समाप्ति हो जाने से वह सांत भी है, अंतकाल वाला भी कहा जा सकता है। इस तथ्य को एक उदाहरण से समझिए। कल्पना करो, एक मनुष्य है, वह द्वेषांध हो कर किसी की जीवन-लीला समाप्त कर देता है, पुलिस गिरफतार करके उस पर अभियोग चलाती है, परिपुष्ट प्रमाण मिलने से निर्णा-यक उसे मृत्यु के दण्ड का आदेश दे देता है। समय पर राजकर्म-चारी उसे फांसी पर चढा देते हैं, तो यह फांसी का दण्ड जिस कर्म के कारण उसे सम्प्राप्त हुआ, उस कर्म की दृष्टि से वह सादि है, आदि वाला है, एक दिन उस का आरम्भ हुआ था और आज उस की समाप्ति हो रही है, इसीलिए यह सादिसांत कहलाता है। भाव यह है कि किसी एक कर्म-सम्बंध को लेकर जब चिंतन करते हैं, तब वह सादि-सांत ठहरता है, और जब कर्म-प्रवाह को सामने रख कर विचार

करते हैं, तब कर्म-सम्बंध अनादि-कालीन प्रमाणित होता है, क्योंकि जब हम अपने जीवन के अतीतकाल की ओर बढते हैं तो कोई ऐसी घड़ी नहीं मिलती जब आत्मा कर्म-मल मे या कर्म परमाणुओं के के सम्बंध से सर्वथा रहित हो, इसी दृष्टि को प्रधानता देकर जीव और कर्म का सम्बंध अनादि-कालीन कहा गया है।

कर्म अपना फल कैसे देते हैं ?—

कर्म क्या होता है ? इस के अस्तित्व मे क्या प्रमाण है ? आदि सभी बातों पर पीछे विचार किया जा चुका है, अब एक और प्रश्न सामने आता है कि कर्म जड़ है, चेतनारहित है, जड़ होने के कारण ही कर्म को अपने शुभ और अशुभ, अच्छे या बुरे होने का कोई ज्ञान नहीं है, ऐसी दशा में वह कर्म अपने फल का जीव को भुगतान कैसे करवाता है ? इसके अतिरिक्त, कर्म के कर्त्ता जीव का यह प्रकृति-सिद्ध स्वभाव रहा है कि वह अपने अशुभ कर्म का फल पाना पसंद नहीं करता, कर्म-जन्य प्रकोप से सदा दूर भागता है। दुःख, क्लेश और प्रतिकूल परिस्थितिएं उसे अनुकूल नहीं है, ऐसी स्थिति में उसको अपने किए हुए कर्म का दण्ड कैसे प्राप्त होता है ? इस तथ्य पर भी विचार करना आवश्यक है। जो लोग परमात्मा को कर्मफल देने वाला स्वीकार करते हैं, उन के यहाँ तो यह कोई समस्या ही नहीं रहती, क्योंकि उनके विश्वासानुसार, ईश्वर जीव को उसके कर्म का दण्ड दे डालता है किन्तु जैन-दर्शन कहलाता है कि वीतराग, परमात्मा का कर्मफल के प्रदान में कोई हस्तक्षेप नहीं है, तो फिर कर्म-परमाणु जीव को जिस पद्धति से अपने परिणाम का भुगतान कराते हैं, वह पद्धति भी तो सामने आनी चाहिये, ताकि "कर्मपरमाणु स्वयं ही फल देने की क्षमता रखते हैं" इस सत्यता को समझा जा सके ? इस प्रश्न का उत्तर देते हुए कर्म-शास्त्र के मार्मिक विद्वान, पूज्य जैनाचार्य जो कुछ फरमाते है, अगली पंक्तियों में उसे अपनी भाषा में अभिव्यक्त किया जाएगा।

कर्मपरमाणु जड़ होते हैं, इस सत्यता से जैनदर्शन को कोई इन्कार नहीं है, जैनजगत में कर्म की जड़ता आबाल-वृद्ध प्रसिद्ध है, किन्तु जड़ कर्म में कोई शक्ति नहीं है, वे सर्वथा शक्तिहीन हैं, यह जानना एवं मानना उचित नहीं हैं, क्योंकि जीव और कर्म-परमाणुओं के सम्पर्क से कर्म में एक ऐसी शक्ति उत्पन्न हो जाती है, जिससे वे अपने शुभाशुभ परिणाम को नियत समय पर स्वयं ही प्रकट कर देते हैं। कर्म-परमाणु जीव का संग किए बिना ही अपना फल दे डालते हैं, ऐसी मान्यता जैनदर्शन की नहीं है। जैनदर्शन कहता है कि चेतन से सम्बद्ध होने पर ही जड़ कर्म फल देने की क्षमता रखता है, अन्यथा नहीं। सभी जीव चेतना युक्त होते है, वे जैसा कर्म करते हैं, समय आने पर उसके अनुसार उनकी बुद्धि वैसी बन जाती है, जिससे अशुभ कर्म का अशुभ फल न चाहने पर भी वे ऐसा कार्य कर बैठते है कि जिससे उन्हें अपने किए हुए कर्म के अनुसार फल मिल जाता है। जीव के न चाहने से कर्म अपना फल देना छोड देते है, यह कोई सिद्धान्त नहीं है। विष का भक्षण कर लेने पर जब वह पूर्णरूप से रक्त में मिल जाता है तब उसका फल अवश्य मिलता है, विषभक्षक के न चाहने से उसका फल रुक नही सकता, यही स्थिति कर्म-परमाणुओं की समझनी चाहिये।

कहा जाता है कि कर्म-परमाणुओं को अच्छे, बुरे फल का बोध नही होता, अतः वे अच्छा बुरा फल दे नहीं सकते। परन्तु वस्तुस्थिति ऐसी नहीं है। भले ही कर्म को अपनी अच्छाई, बुराई का पता नहीं है,तथापि वह अच्छे और बुरे कर्म के आधार पर जीव को अच्छा और बुरा फल अवश्य दे डालता है। इस तथ्य को उदाहरणों से समझिए—

मदिरा और दुग्ध ये दोनों जड़ पदार्थ माने जाते हैं। इन दोनों को अपने अच्छे और बुरे फल का कोई बोध नही होता, तथापि इन दोनों में बुरा और अच्छा प्रभाव डालने की क्षमता देखी जाती है। देखा गया है कि जब आदमी मदिरापान करता है, शराब पी जाता

है, तो वह उछलता है, कूदता है, नाचता है, ऊलजलूल बोलता है, गालीगलौज (अपशब्द) देता है, नालियों में औंधे मुंह गिरता है, अधिक क्या. मदिरासेवी की इतनी अधिक घृणास्पद दशा होती है कि कुत्ते भी उसके मुख में पेशाब कर जाते हैं। संस्कृत के एक विद्वान आचार्य मदिरा के दुर्गुणों का वर्णन करते हुए लिखते हैं—

वैरूप्यं व्याधिपिण्डः स्वजनपरिभवः कार्यकालातिपातः,
विद्वेषो ज्ञाननाशः स्मृतिमतिहरणं विप्रयोगश्च सद्भिः।
पारुष्यं नीचसेवा कुलबलविलयो धर्मकामार्थहानिः,
कष्टं वै षोडशैते निरुपचयकरा मद्यपानस्य दोषाः।

—मदिरा के सेवन से शरीर कुरूप और बेडौल हो जाता है, व्याधियाँ शरीर में घर कर लेती हैं। घर के लोग तिरस्कार करते हैं। कार्य का उचित समय हाथ से निकल जाता है। द्वेष उत्पन्न होता है। ज्ञान का नाश हो जाता है। स्मृति और बुद्धि समाप्त होती है। सज्जनों से जुदाई होती है। वाणी में कठोरता आ जाती है, नीच व्यक्तियों की सेवा करनी पड़ती है, कुल की हीनता होती है, शक्ति का ह्रास होता है। धर्म, अर्थ और काम की हानि होती है। इस प्रकार आत्मा का पतन करने वाले मदिरा-सेवन के सोलह कष्ट-दायक दोष माने जाते हैं।

श्री स्थानाङ्ग सूत्र में प्रमाद के पाँच प्रकार लिखे हैं। प्रमाद का अर्थ है—शुभ कार्य में यत्न न करना, और अशुभ कार्य के सम्पादन में यत्न करना। ये-१—मद्य-मदिरा, २—विषय-पांच इन्द्रियों के विषय, शब्द, रूप, गंध, रस और स्पर्श-इन में आसक्ति रखना, ३—कषाय-क्रोध, मान, माया और लोभ का सेवन करना, ४—निद्रा-जिस में चेतना अस्पष्ट भाव को प्राप्त हो, ऐसी सोने की क्रिया। और ५-विकथा-राग और द्वेष के वश में हो कर स्त्री, भोजन, देश और राजा को लेकर वचन बोलना, इन भेदों से पांच प्रकार के होते हैं। इन में

सर्वप्रथम स्थान मदिरा को प्राप्त हो रहा है। इससे यह स्पष्ट हो जाता है, कि जीवन के पतन का श्रीगणेश मदिरा-सेवन से होता है।

मदिरा जड़ है, उसे अपने अशुभ स्वरूप का बोध नही है, यह सत्य है, किंतु वह अपने सेवक के जीवन में कितना भयंकर दुष्परिणाम दिखलाती है ? यह ऊपर की पंक्तियो में स्पष्ट किया जा चुका है। जैसे यह जडपदार्थ ज्ञान शून्य होने पर भी जीव को अपना अशुभ फल प्रदान कर देता है, वैसे कर्म जड होता हुआ तथा अपने भले-बुरे का बोध न रखता हुआ भी व्यक्ति को अपना फल प्रदान कर देता है। अत. कर्म के जडत्व से भयभीत होने की आवश्यकता नही है, क्योंकि कर्म का जडत्व फल के भुगतान मे कभी बाधक नही बनता ।

मदिरा के समान दूध भी जड द्रव्य है, इसे भी अपने माधुर्य, शक्ति-सम्वर्धकता तथा स्वास्थ्य-सम्पोषकता आदि सद्गुणो का कोई बोध नही है, परतु मनुष्य जब दूध का पान करता है तब दूध पीने वाले के जीवन में अपनी विशेषताओं के चमत्कार दिखलाता है। दूध का सेवन करने से मस्तिष्क स्वस्थ होता है, उसे शक्ति प्राप्त होती है, श्रात और क्लात व्यक्ति भी इस के पान से हृदय में नवचेतना, भव्य उत्साह और नूतन स्फूर्ति का अनुभव करता है। वर्षर्तु में जैसे मुरझाए हुए पौधे विकसित हो उठते है, उनमें नवजीवन का सञ्चार होने लगता है इसी प्रकार भूख के प्रहारों से खेदखिन्न मनुष्य दूध का ग्रहण कर लेने पर नई चेतना उपलब्ध करते है। अब यहाँ एक प्रश्न अङ्गडाई लेता है कि दूध का जो चमत्कार हमारी आँखों के सामने दिखाई देता है, इस का समुत्पादक कौन है ? इसे किसने पैदा किया ? इस सत्यता से कौन इन्कार कर सकता है कि दूध के परमाणुओं के अन्दर ही ऐसी शक्ति निवास करती है, जो प्राणी के जीवनोद्यान को हरा-भरा कर डालती है, उस में नवचेतना ले आती है, और दम तोड़ रहे मनुष्य के जीवन में नई प्रभात ला देती है। जैसे दूध जड़ है और अपनी गुणसम्पदा से सर्वथा अनजान है, उसे अपनी अनुपम

शक्तियों का कोई ज्ञान नहीं है तथापि व्यक्ति के जीवन में अपना फल दिखलाता है, बौद्धिक तथा शारीरिक दृष्टि से उसे परिपुष्ट करता है, वैसे ही कर्म जड़ होता हुआ भी अपनी शक्तियों के चमत्कारों से कर्मकर्ता के जोवन को चमत्कृत कर देता है, जीव को अच्छे और बुरे फल प्रदान करता है।

कर्म-परमाणुओं में जड होने पर भी फल देने की क्षमता कैसे पाई जाती है ? इसे एक और उदाहरण से समझिए। कल्पना करो, एक चुटोरा व्यक्ति है, वह चटपटे भोजन खाता है, मिर्चों का अचार बड़ी मस्ती से ग्रहण करता है और भी कई तरह के गरम मसाले प्रयोग में लाता है। यह स्वाभाविक है कि मिर्चों और गरम मसालों की तीक्ष्णता (तेजी) से जब मुह जलता है, तब वह सी-सी करता है, कई बार तो बड़ा दु:खी करता है, सर धुनता है, मुँह जल गया, मुँह जल गया, यह कह कर चिल्लाता है, और घर वालों को भी परेशान करता है। यहाँ प्रश्न उपस्थित होता है कि चटपटा और तीक्ष्ण भोजन जड़ होने पर भी क्या खाने वाले व्यक्ति के न चाहने पर भी अपना तीक्ष्ण प्रभाव दिखलाना छोड़ देता है ? तेज़ मसाले वाली वस्तुएँ खा कर क्या मुख की जलन से अपने को बचाया जा सकता है ? उत्तर स्पष्ट है, कभी नहीं। यही स्थिति कर्मपरमाणुओं के सम्बन्ध में समझ लेनी चाहिए। कर्म-परमाणु भी कर्मकर्ता मनुष्य के न चाहने पर अपना फल देना नहीं छोड़ते, वे अपना प्रभाव अवश्य दिखलाते हैं।

इस सत्य से इन्कार नहीं किया जा सकता है कि जैन-दर्शन ने कर्म सिद्धान्त पर जितनी गम्भीरता और दूरदर्शिता से विचार, चिन्तन, एवं मनन किया है, इतना चिन्तन, मनन जैनेतर दर्शन में कहीं देखने को नही मिलता। वस्तुत: जैनदर्शन का कर्मवाद परमाणुवाद पर आधारित है। परमाणुओं में कितना आकर्षण है ? कितनी कशिश है ? ये किस तरह अनेकविध आश्चर्यजनक कार्य करते हैं ? और कैसे-कैसे विस्मयोत्पादक दृश्य प्राणि-जगत के रंग-मञ्च पर प्रस्तुत

करते हैं ? आज इन बातों का उल्लेख करने की आवश्यकता नहीं। आज के परमाणुयुग ने इन बातों को साकार बना कर दिखला दिया है। परमाणुओं की अनोखी कार्यशक्तियाँ आज किसी से छुपी हुई नहीं हैं। पठित और अपठित सभी व्यक्ति इन्हें सुविधापूर्वक जान सकते हैं, समझ और देख सकते हैं, फिर अन्तिम वर्षों में तो विज्ञान ने ऐसी अपूर्व, विलक्षण उन्नति एवं प्रगति की है,तथा ऐसे-ऐसे विचित्र अनुसन्धान, अन्वेषण और परीक्षण किये हैं, कि कुछ कहते नहीं बनता। अधिक क्या, आज के वैज्ञानिकों ने असंभव को संभव और नामुमकिन को मुमकिन कर के दिखला दिया है।

एक बार हमारा चातुर्मास लुधियाना (पंजाब) था, वहाँ पर जैन-धर्म-दिवाकर, साहित्यरत्न, जैनागमरत्नाकर, प्राकृत और संस्कृत-भाषा के अद्वितीय विद्वान, प्रातःस्मरणीय, चारित्रचूडामणि श्रीवर्धमान स्थानक-वासी जैन श्रमण संघ के आचार्य-सम्राट् परम-श्रद्धेय गुरुदेव पूज्य श्री आत्माराम जी महाराज विराजमान थे। इन्हीं के चरणों में जीवन-यात्रा चल रही थी। उन दिनों श्री हंसराज जी वायरलैस लुधियाना आए। श्री हंसराज जी भारत के जाने-माने वैज्ञानिक हैं, विज्ञान के क्षेत्र में इन्होंने बड़ी सफलता एवं प्रतिष्ठा प्राप्त की है। ये जब लुधियाना आए तो इन्होंने वहां के आर्यसमाज-मन्दिर (दाल बाज़ार) में वैज्ञानिक शक्तियों के अनेकों आश्चर्योत्पादक चमत्कार दिखलाए थे, परमाणुओं के विचित्र और विलक्षण चमत्कारों की प्रदर्शनी करते हुए उन्होंने मस्तिष्क को चकरा देने वाली अनेकों वस्तुएं जनता के सामने रखीं, थीं, जानकारी के लिए कुछ एक वस्तुओं का परिचय कराता हूं—

आवाज़ पर चलने वाला बिजली का पंखा—

श्री हंसराज जी वायरलैस ने एक बिजली का पंखा दिखलाया, यह पंखा सुयोग्य पुत्र की भाँति आज्ञा का पालन करता है, "चलो"

शब्द कहते ही चल पड़ता है, तत्काल वायु बिखेरने लगता है, और जब "रुको" यह आज्ञा दी जाती है, तब तत्क्षण खड़ा हो जाता है, वायु बिखेरनी बन्द कर देता है।

२–अद्भुत नल –

दूसरा वैज्ञानिक चमत्कार नल प्रदर्शित किया गया, यह नल इतना विस्मयोत्पादक है कि मनुष्य के सामने और निकट आते ही जल गिराने लगता है और जब मनुष्य आगे से हट जाता है तब तत्काल जल गिराना बन्द कर देता है।

३–बिजली का बल्ब—

विजली का एक ऐसा बल्ब प्रदर्शनी में दिखलाया गया जो बिजली के पंखे की तरह मालिक के आदेशानुसार काम करता है। जब इसे "जलो" यह आज्ञा मिलती है, तो यह तत्काल प्रकाशमान हो उठता है, चारों ओर प्रकाश का प्रसार करने लगता है, और अन्धकार को भगा देता है. परन्तु जब उसे "बुझ जाओ" यह संकेत किया जाता है तो यह तत्क्षण बुझ जाता है, प्रकाश बिखेरना बन्द कर देता है।

४–जीवित मनुष्य का रेडिओ—

यह विज्ञान का एक निराला आविष्कार है, चमत्कार है, मनुष्य को एक विशेष प्रकार का मिक्सचर (पेय ओषधि, जिसमें कई दवाइएँ मिली होती हैं।) पिला दिया जाता है, उस मिक्सचर के शरीर में प्रवेश करते ही मनुष्य का शरीर ही रेडिओ बन जाता है, उस से रेडिओ का कार्यक्रम (परोग्राम) सुना जा सकता है।

५–टेलीविजन—

"टेलीविजन" का शाब्दिक अर्थ है-व्यवधान रहते हुए भी दूर की वस्तु को देखने की क्रिया। वैसे यह एक वैज्ञानिक यँत्र होता है, इस वैज्ञानिक यंत्र से कार्यक्रम प्रस्तुत करने वाले व्यक्तियों के चित्र देखे जाते हैं। 'टेलीविजन' स्टेशन में कार्यक्रम प्रस्तुत करने वाले जैसा कार्य-क्रम

प्रस्तुत करते है, जैसे बोलते हैं, नाचते हैं, गाते हैं, जैसा अभिनय करते हैं। जिस तरह बाते करते हैं, सब ज्यों का त्यों टेलीविजन में दृष्टिगोचर होता है। टेलीविजन पर चलचित्र की फिल्में भी दिखाई जाती हैं।

श्री हंसराज वायरलैस ने अपनी विज्ञान-प्रदर्शनी में ये सब यंत्र दिखलाए थे, इनसे परमाणुओं में अवस्थित अद्भुत शक्तियों के चमत्कारों को बड़ी सफलता के साथ परिचय प्राप्त हो जाता है। कितनी विचित्र बात है कि हाथ लगाए बिना, केवल मुख से 'जलो' यह कहते ही बिजली का बल्ब जल उठता है और पानी का नल सन्मुख जाते ही पानी गिराने लगता है। यहाँ कोई परोक्ष शक्ति काम कर रही है, ऐसी बात नहीं है. किन्तु मुख से जो परमाणु निकलते हैं, उन का ही बिजली के बल्ब पर ऐसा प्रभाव पड़ता है कि वह जल उठता है, ऐसे ही व्यक्ति के सामने आने पर परमाणुओं की ऐसी कशिश होती है कि नल पानी गिराने लगता है। जब हाथों के स्पर्श बिना ही केवल रसना से निकले परमाणुओं के प्रभाव से बिजली का लाटू प्रकाशमान हो सकता है और नल पानी गिराने लगता है तब यदि हमारी आत्मा पर लगे कर्म-परमाणु हमारे जीवन में किसी भी प्रकार की उथल-पुथल ले आते हैं, जीवन को कभी सुखी और कभी दुखी बना देते हैं तो इस में आश्चर्य वाली कौन सी बात है ? रेडिओ भी विज्ञान का एक आविष्कार है, इस से हजारों मील दूर घर बैठे आप संगीत सुनते हैं, भाषणों का लाभ उठाते हैं, नाटकों, ड्रामों और कविदरबारों से आनन्द उपलब्ध करते हैं। अनुमान लगाइए, बोलने वाला कहाँ बैठा है ? और सुनने वाला कहाँ है ? परन्तु यन्त्र भाषा के परमाणुओं को पकड़ लेता है, उन्हें उसी भाषा के रूप में ही दूसरे देशों में जनता तक पहुँचा देता है,। यह सब परमाणुओं का निराला चमत्कार नहीं है तो और क्या है ? रेडियो के इस चमत्कार में ईश्वर या किसी देवी-देवता की कोई शक्ति काम नहीं करती, यहां तो परमाणु-शक्ति के ही सब चमत्कार देखे जाते हैं। जैन-दर्शन का कर्म-वाद भी परमाणुशक्ति के अनेकविध चमत्कारों का

दूसरा रूप ही समझना चाहिये। कर्मयोग्य परमाणु जब आत्मप्रदेशों से अपना सम्बन्ध जोड़ लेते हैं, तो समय आने पर ये भी आश्चर्यजनक अनेक दृश्यों और चमत्कारों को जन्म देते हैं। इस में असंभव जैसी कोई बात नहीं है, यहाँ सब कुछ संभव है।

परमाणुशक्ति के चमत्कारों को लेकर विज्ञान के कुछ एक आविष्कारों के सम्बन्ध में ऊपर की पंक्तियों में चिन्तन प्रस्तुत किया गया है परन्तु आज तो विज्ञान उन्नति-के-क्षेत्र में बहुत आगे बढ़ चुका है। आज विज्ञान ने ऐसे-ऐसे अपूर्व आविष्कार प्रस्तुत किये हैं, कि जिन्हें देखकर व सुनकर समस्त विश्व आश्चर्यचकित रह गया है, जानकारी के लिए कुछ नूतन आविष्कारों का परिचय कराता हूं—

१—मीज़ाइल—

यह ओटोमैटिक (स्वचलित) मशीनरी है। यह कई तरह की होती है। जैसेकि—१-टैंक तोड़ने वाली, २-हवाई जहाज़ को नष्ट करने वाली और ३-मीजाइल को रोकने वाली। एक मीज़ाइल इस तरह का होता है जो टैंको को तोड देता है, उसकी समस्त शक्तियों को समाप्त कर डालता है। दूसरे मीज़ाइल हवाई जहाजों को नष्ट करने वाले होते हैं, ये विशेष अड्डे से छोड़े जाते हैं और स्थानविशेष तक मार करते हैं तथा हज़ार-हज़ार मील तक दूरी पर जाकर ये जहाज़ को मार गिराते है। आज तो ऐसे-ऐसे मीज़ाइल भी बन चुके हैं जो मक्खी जैसे छोटे जन्तु को भी अपना निशाना बना लेते हैं और उसे धराशायी कर डालते हैं। जैसे शहद की मक्खिएं मनुष्य का पीछा करती हैं, उसके पीछे भागती हैं, और उस पर आक्रमण करती हैं, वैसे मीज़ाइल भी हवाई जहाज़ का पीछा करता है, जिधर को जहाज़ अपनी दिशा बदलता है, उसके अनुसार मीज़ाइल भी अपनी दिशा परिवर्तित कर लेता है, अन्त में जहाज़ को गिराके ही छोड़ता है। ये मीज़ाइल ऐटमी मीज़ाइल होते हैं, ये ऐटम (परमाणु) से चलते हैं। परमाणु शक्ति ही इन का सञ्चालन करती है। तीसरे मीज़ाइल वे

होते हैं जो मीज़ाइल को रोकते हैं। कल्पना करो, किसी शत्रु ने किसी हवाई जहाज़ के पीछे मीज़ाइल छोड़ दिया तो हवाई जहाज़ वाले उस मीज़ाइल के पीछे अपनी ओर से एक और मीज़ाइल छोड़ देते हैं, जो पहले मीज़ाइल का पीछा करके उसे समाप्त कर देता है। ध्यान रहे, मीज़ाइल में कोई सञ्चालक नहीं होता, यह यंत्र स्वतः ही चलता है।

२—राडर (राडार)—

यह वह मशीनरी है, जो किसी भी दिशा से आ रहे हवाई जहाज़ का संकेत देती है। जहाज़ इतनी दूरी से आ रहा है? और इतनी गति से आ रहा है? इन सब बातों का बोध राडार से होता है। यह यंत्र केवल हवाई जहाजों के आगमन की और उनकी गति की ही सूचना देता है, परन्तु हवाई जहाज़ को गिराने का काम तोपों से या मीज़ाइलों से किया जाता है।

३—राकेट—

यह मीज़ाइल जैसा एक यंत्र होता है, इस से हवाई जहाज़ गिराए जाते हैं। आज तो ऐसे-ऐसे राकेट (यंत्र) भी तैयार किए जाने लगे हैं जो शत्रु के खुफिया (गुप्त) अड्डों के फोटो भी ले सकते हैं।

४—टेली-प्रिण्टर—

यह भी एक विशिष्ट यंत्र होता है जो सूचना देने के लिए विशेष-रूप से प्रयोग में लाया जाता है। एक स्थान पर एक मनुष्य बोलता है, किसी बात की ओर संकेत करता है, तो दूसरे स्थान पर यह यंत्र स्वतः ही उसे टाइप करता रहता है।

५—अपोलो—

यह अमेरीका का एक नया आविष्कार है, इस यन्त्र ने विश्व को आश्चर्य-चकित कर दिया है। चन्द्रलोक की यात्रा करना, वहाँ से मिट्टी लाना, ये सब कार्य ऐसे किए जा रहे हैं, जिन्होंने भारतीय संस्कृति के अनुसार—चन्द्र एक विमान है, वहाँ हज़ारों देवता उसे

उठाए हुए हैं, और उस की सेवा करते हैं, आदि मान्यताओं को काफी ठेस पहुँचाई है। यह सत्य है कि वैज्ञानिक लोग जिस चन्द्रमा की बात कह रहे हैं, वह भारतीय संस्कृति का जाना, माना चन्द्रमा है, या कोई चमचमाती चट्टान है ? यह अभी विचारणीय एवं चिन्तनीय है ! अतः भारतीय संस्कृति की आस्था में शिथिलता लाने वाले महानुभावों को जल्दबाजी से काम नहीं लेना चाहिये, अभी उन्हें चिन्तन और मनन की पगडण्डिएं और तय कर लेनी चाहिएं।

वैसे जैनदर्शन की मान्यता के अनुसार मेरु पर्वत के समतल भूभाग से आठ सौ योजन ऊपर सूर्यविमान है, यह रत्नमय माना गया है। १६ हजार देवता इसे उठाते हैं। सूर्यविमान से ८० योजन ऊपर चन्द्रमा का विमान है, यह स्फटिक-रत्नमय होता है। सूर्य-विमान की भाँति इसे भी १६ हजार देवता उठाए रखते हैं। जैन-दर्शन की इस मान्यता के अनुसार चन्द्रविमान स्फटिक-रत्न-स्वरूप स्वीकार किया गया है, वहाँ पर मिट्टी, ककड़ों या रोड़ों का अस्तित्व नहीं मिलता, ज्योतिष्मण्डल सारा रत्नमय ही होता है, वहाँ पर मिट्टी का काम क्या ? परन्तु आज के वैज्ञानिकों का कहना है कि चन्द्रलोक में मिट्टी है, कंकरीली-पथरीली ज़मीन है, और चमकती करोड़ों चट्टानें हैं। इस से स्पष्ट है कि जैन-दर्शन और वैज्ञानिक इन दोनों की मान्यताओं में एकता नहीं है, भिन्नता है, परस्पर विरोध दिखाई दे रहा है। अतः वैज्ञानिक लोग जैन-दर्शन-सम्मत चन्द्रलोक में पहुँच चुके हैं, यह कहना सर्वथा असंभव है। पहले तो वहाँ के मिट्टी आदि तत्त्वों को लेकर दोनों की मान्यताओं में बड़ा अन्तर है, दूसरे-जिस भवन पर एक पहरेदार होता है, वह किसी अनजाने व्यक्ति को बिना आज्ञा के अन्दर प्रवेश करने नहीं देता, तब जहाँ हज़ारों देवों की अवस्थिति हो, वहाँ पर बिना आज्ञा के ये वैज्ञानिक लोग कैसे जा सकते हैं, और वहाँ पर यह तोड़-फोड़ कैसे कर सकते हैं ? यह बात भी विचारणीय है। हमारे विचार में जिस चन्द्रलोक की बातें

वैज्ञानिक लोग कर रहे हैं, वह वास्तविक चन्द्रलोक नहीं है। संभव है, इन्होंने किसी चमकती चट्टान को ही चन्द्रमा मान लिया है, और उसी को खोद-खोद कर मिट्टी लाई जा रही है। यह सत्य है कि यदि वैज्ञानिकों की भाँति जैन-दर्शन के मर्मज्ञ लोग भी अनुसन्धान के क्षेत्र में उतरें और इस सम्बन्ध में वाञ्छनीय अन्वेषण करें तब यह समस्या शीघ्र ही समाधान का रूप ग्रहण कर सकती है। जब एक ओर से अनुसन्धान पर अर्बों का धन व्यय किया जा रहा हो, और दूसरी ओर से सर्वथा खामोशी चल रही हो, तो शंका तथा अश्रद्धा का वातावरण उत्पन्न होना अस्वाभाविक नहीं है। अतः आगम-साहित्य के प्रति श्रद्धा रखने वाले श्रद्धाशील व्यक्तियों को अपने मानस में किमो भी प्रकार की अश्रद्धा लाने की आवश्यकता नहीं। समय के प्रवाह में प्रवाहित हो कर विचारक व्यक्ति अपने मस्तिष्क को श्रद्धाविहीन नहीं बनाया करते। जैनजगत को भी इस समस्या को सुलझाने के लिए ध्यान देना चाहिए।

अपोलो नामक यन्त्र ऐटमी ईन्धन से चलता है, यह लगभग मालगाड़ी जितना लम्बा है, इस में छोटे-बड़े लगभग ७५ लाख पुर्जे होते हैं, तीन मंज़िल के लगभग इस की ऊंचाई होती है, दस आदमियों के लेटने और सोने की इस में जगह है, जिस स्थान पर इस का निर्माण होता है, वहाँ पर लगभग दो सौ कारखाने काम करते हैं, छोटे-बड़े सभी वैज्ञानिकों की संख्या लगभग एक लाख है, लगभग इस में सात इञ्जन हैं, जो ऐटमी ईन्धन से चलते हैं। चलते समय इन की गति स्वल्प होती है, परन्तु जब ये भूमि के आकर्षण-क्षेत्र से बाहिर निकल जाते हैं तो इन की गति बड़ी तीव्रता में आ जाती है, और वापिस जब भूमि पर उतरते हैं, तो इन की गति और भी तीव्र हो जाती है। वैज्ञानिकों का कहना है कि जिस अपोलो ने चन्द्रमा पर चन्द्रपालकी को उतारा था, वह चन्द्रमा की धरती से लगभग दस मील ऊपर चक्र लगाता था। इस अपोलो में तीन व्यक्ति

बैठे थे, उन में से दो को नीचे से आज्ञा होती है कि आप चन्द्रपालकी में चले जाएं, आज्ञानुसार उन के चन्द्रपालकी में आ जाने पर चन्द्र-पालकी को निर्धारित समय पर राकेट (अपोलो) से अलग कर दिया जाता है, और वे दोनों आदमी पालकी समेत चन्द्रमा की धरती के ऊपर उतर जाते हैं, वैज्ञानिकों का कहना है कि यह पालकी रात के एक बजे उतरी थी, उस समय वहाँ अन्धकार था, परन्तु पालकी की रोशनी ने अन्धकार को दूर किया, जब पालकी से वे आदमी नीचे उतरे तब उन्होंने चन्द्रमा की धरती से मिट्टी ली, पत्थरों से अपनी जेबें भरीं, लगभग दो सौ गज पालकी छोड़ कर ये लोग वहाँ भ्रमण करते रहे। अन्त में, वे पुनः वापिस उसी पालकी में आगए, तदनन्तर पालकी ऊपर उठती है, और ऊपर घूमने वाले राकेट के साथ जुड़ जाती है।

वैज्ञानिकों का कहना है कि तीनों व्यक्तियों ने जब सूचना दी कि हमारे पेट में दर्द है तो उन्हें नीचे से सूचना दी गई कि हम तुम्हारा निरीक्षण करते हैं। तदनन्तर उन्होंने अनुमान लगाया कि अपोलो इस समय अमुक वायुमण्डल में है, इसलिए उन के शरीर पर ऐसा असर हो सकता है। अन्त में, उन्होंने उन व्यक्तियों को सूचित करते हुए कहा कि आप लोग अमुक औषधी का सेवन करें, इस से तुम्हारा पेट दर्द ठीक हो जाएगा, सूचना के अनुसार जब उन तीनों व्यक्तियों ने औषधि का सेवन किया तो वे ठीक हो गए, उन का पेट दर्द बन्द हो गया। कितनी विलक्षण बात है कि इस भूतल पर बैठे हुए वैज्ञानिक लोग भूमि के आकर्षण-क्षेत्र में वाहिर चन्द्रलोक में पहुँचे अपोलो का, उस के साथ जुड़ी चन्द्रपालकी का तथा चन्द्रपालकी में अवस्थित मनुष्यों का पूरा-पूरा नियन्त्रण रख रहे हैं, और अपने संकेत के अनुसार उनको चला रहे हैं। इस के अतिरिक्त, एक-एक क्षण के क्रिया-कलाप की उन्हें अवगति हो रही है। यह सब परमाणु-शक्तियों के अनुपम चमत्कारों का साकार स्वरूप ही समझना चाहिए। यहाँ ईश्वर या किसी देवी-देवता का कोई हस्तक्षेप नहीं है।

६—लूनोखोद—

यह एशिया का एक नूतन चमत्कार है । यह एक यन्त्र है, जो कार के आकार का है। वैज्ञानिकों की मान्यता के अनुसार यह चन्द्रमा के भूतल पर भ्रमण करता है, वहाँ की भूमि को खोदता है, और वहाँ की मिट्टी को एकत्रित करके उठा लेता है। एशिया के वैज्ञानिकों की खूबी यह है कि इन्होंने इस का गेयर [GEAR] बदल दिया है, इस में लैबोट्री भी है, जो सब वस्तुओं को चैक (परीक्षण) करके उन के फोटो नीचे भेजती है। विलक्षण बात यह है कि उस यन्त्र में बैठा व्यक्ति जब सांस भी लेता है तो उस के सांस की आवाज़ भी नीचे बैठे वैज्ञानिकों को सुन सकती है। इसके अतिरिक्त, यदि यह यन्त्र खराब हो जाए, तो वैज्ञानिक लोग नीचे बैठे ही उसे ठीक कर देते हैं।

७—बैरोमीटर—

यह विज्ञान का वह आविष्कार है, जिस के द्वारा मौसम का ज्ञान प्राप्त किया जाता है। आने वाले तीन दिनों में आकाश की क्या स्थिति रहेगी ? आकाश धूमिल रहेगा या साफ ? बादल होंगे या नहीं ? वायुमण्डल में उष्णता रहेगी या शीतलता ? आदि सब बातों का बोध इस यन्त्र के द्वारा प्राप्त किया जाता है ।

८—कम्प्युटर—

यह एक ऐसा यन्त्र है जो अंकों का जोड़ लगाता है; आप हज़ारों या लाखों की संख्या में आँकड़े उस में रख दें, वह सब का जोड़ कर आपके सामने ला देगा। संभव है, बड़े से बड़ा एक गणितज्ञ व्यक्ति भी जोड़ में कोई भूल कर जाए, परन्तु यह यन्त्र आँकड़ों के जोड़ में कभी भूल नहीं करता।

वैज्ञानिकों के आविष्कारों की कहां तक चर्चा की जाए ? ऐटम-बम और हाईड्रोजन बम भी विज्ञान के ही चमत्कार हैं। अधिक क्या कहें, वैज्ञानिकों ने ऐसी मशीनरी भी निकाली है, जो हृदय-रोगी के शरीर के साथ लगा दी जाती है, हृदय का जब दौरा पड़ने की

स्थिति बनने लगती है तो वह आवाज़ देना आरम्भ कर देती है। इस तरह यह मशीनरी रोगी को उस की भावी रोगाक्रान्त स्थिति से अवगत कराने में सहयोगी बनती है। ये सब ऐसी बातें हैं, जिन्हें सुन कर आदमी आश्चर्य-चकित हुए बिना नहीं रहता, उस का दिमाग़ चकरा जाता है, किन्तु परमाणु की शक्ति के सन्मुख ये सब बातें नगण्य सी हैं। यदि विज्ञान इसी गति से आगे बढ़ता चला गया तो न जाने और क्या-क्या वस्तुएं हमारे सामने आएंगीं। अतः—"परमाणु जड़ है, इसको अपने भले का बुरे विवेक नही है, फलतः यह क्या कर सकता है ?" आदि बातें करने या सोचने का युग लद गया है। अब तो परमाणु शक्ति साकार हो कर सामने आ रही है, और कर्म-परमाणुओं की विलक्षण शक्तियो के स्वर में अपना स्वर मिला कर उन की यथार्थता को प्रमाणित एवं उद्घोषित कर रही है।

कर्म अपना फल कैसे देते है ? मनुष्य-जीवन पर किस पद्धति से सुख-दुःख की वर्षा करते हैं ? इस के सम्बन्ध में ऊपर जितनी चर्चा की गई है, उस से यह स्पष्ट हो जाता है कि कर्म एक जड़-शक्ति है, ओर जड़ होती हुई भी यह प्राणिजगत को उसके आचरण के अनुसार अच्छा और बुरा फल प्रदान कर देती है। चाहे कोई चक्रवर्ती हो, चाहे वासुदेव, राजा हो या रंक, योगी हो या भोगी, पठित हो या अपठित, कोई भी क्यों न हो, कर्म किसी को नही छोड़ते, सब को उन के पापों का दण्ड दे डालते हैं।

जहाँ यह सत्य है, कि कर्म किसी भी व्यक्ति को नही छोड़ते, वहां यह भी सत्य है कि विश्व का प्रत्येक प्राणी आनन्द चाहता है, सुख की कामना ही उस के प्रत्येक कर्म का मुख्य लक्ष्य रहता है। जीवन छोटा हो या बड़ा, सब सुख के लिए तड़प रहे है, परन्तु सुख, शान्ति और आनन्द शुभ कर्मो की उपार्जना से ही प्राप्त होता है, शुभ कर्मों की पुञ्जी एकत्रित किए बिना सुख कभी प्राप्त हो नहीं सकता, अतः प्रत्येक प्राणी का कर्त्तव्य बनता है कि वह शुभ कर्मों का

आचरण करे, जीवन में अनाचर को कभी निकट न आने दे, हो सके तो किसी दुःखी एवं असहाय व्यक्ति को सुख-सुविधा पहुँचाने का प्रयत्न करे, यदि किसी खेदखिन्न व्यक्ति को सुख न दे सके तो कम से कम जो लोग सुखी हैं, सानन्द जीवन व्यतीत कर रहे हैं, उन को वह दुःख देने का प्रयत्न न करे। संसार में ऐसे पामर जीव भी हैं, जो दूसरे को दुःख देने में बड़ा रस लेते हैं, उन के जीवनोद्यान में पतझड़ लाने का प्रयास करते हैं, उन के बनते कार्यों को बिगाड़ते हैं, और उन के मार्ग में व्यर्थ ही काण्टें बिखेरते रहते हैं। ऐसे पामर जीवों का कदापि कल्याण नहीं हो सकता, वे जन्म-मरण की चक्की में सदा पिसते ही रहेंगे, और दुःखों के दानव उन का कभी पिण्ड नहीं छोड़ेंगे। संभव है, ऐसे ही पामर जीवों के जीवन-मन्दिर में विवेक के दीप जगमगाने के लिए कवि-हृदय की अन्तर्वीणा झंकृत हो उठी हो—

यदि भला किसी का कर न सको,
तो बुरा किसी का मत करना।
अमृत न पिलाने को घर में,
तो ज़हर पिलाने से डरना।
यदि घर न किसी का बान्ध सको,
तो झोंपड़ियां न जला देना।
यदि मरहम-पट्टी कर न सको,
तो खार, नमक न लगा देना।
यदि दीपक बन कर जल न सको,
तो अंधकार भी मत करना।

—:o X o:—

ईश्वर कर्म का फल नहीं देता

कुछ लोगों की मान्यता है कि परमपिता परमात्मा मनुष्य के भाग्य की रचना करता है, और विश्व के जितने भी छोटे-बड़े जीवन हैं, सब के भाग्य रूप महल का यही निर्माता है, अतएव ईश्वर भाग्य-विधाता है, परन्तु जैनदर्शन का ऐसा विश्वास नहीं है, यह ईश्वर को भाग्यविधायक स्वीकार नहीं करता, जैनदर्शन की आस्था है कि जीव स्वयं अपने भाग्य की रचना करता है। उसके अच्छे और बुरे, प्रशस्त और अप्रशस्त आचरण और क्रिया-कलाप ही उसकी किस्मत का भवन तैयार करते हैं। जब जीव अहिंसा, सत्य, अस्तेय, ब्रह्मचर्य और अपरिग्रह आदि धार्मिक अनुष्ठानों तथा जनहित की आराधना करता है, तो उस की आत्मा सुखजनक शुभ कर्म-परमाणुओं से सम्बद्ध होती है, और जब जीव अशुभ प्रवृत्तियों में आसक्त होता है, हिंसा, असत्य, चौर्य, मैथुन और लोभ आदि संसार-वर्धक कार्यों में रस लेने लगता है, तो उसकी आत्मा दुःखजनक अशुभ कर्मों से घिर जाती है। इसीलिए कर्मवाद के मर्मज्ञ कविजन इसी सत्य को अपनी भाषा में कहते सुने जाते है—

नहीं कोई हर्गिज़ किसी को सताता,
नहीं कोई हर्गिज़ किसी को मिटाता।
गिराते हमेशा हैं अफआल अपने,
उठाते हमेशा हैं, ऐमाल अपने।

परमपिता परमात्मा मनुष्य के भाग्य की रचना में कोई हस्तक्षेप नहीं करता, यह जीव की अपनी भावना पर निर्भर होता है कि वह अच्छे भाग्य का निर्माण करे या बुरे भाग्य का। इस तथ्य को उर्दू-भाषा का एक कवि इस तरह अभिव्यक्त करता है—

अच्छा बुरा बनाना, मौकूफ अक्ल पर है,
भाग्य के महल का मेमार खुद बशर है।

इस तथ्य को यदि हिन्दी भाषा में व्यक्त करें तो इस तरह कह सकते हैं —

मनुज स्वयं ही कर रहा, भाग्य-भवन निर्माण,
'ज्ञान मुनी' कृत कर्म से, नर हो नीच, महान।

ईश्वर को भाग्य का यदि निर्माता मान लेते हैं तो यह भी स्वीकार करना पड़ता है कि मानवी व्यक्ति के जीवन मे बुरी से बुरी अर्थात् सभ्यता और सस्कृति से गिरी हुई जितनी भी अप्रशस्त क्रियाएं पाई जाती हैं, उन सब का प्रेरक भी ईश्वर है और उन सब का दायित्त्व ईश्वर पर ही है। कारण स्पष्ट है। जब हम इस सत्य को स्वीकार करके चलते हैं कि मनुष्य के भाग्य की रचना परमपिता परमात्मा करता है तो यह भी मानना पड़ेगा कि परमात्मा ने मनुष्य का जैसा भाग्य बना दिया है उसके अनुसार ही वह अच्छे और बुरे कार्य करता है। इस तथ्य को एक उदाहरण से समझिए—

कल्पना करो, परमपिता परमात्मा ने एक व्यक्ति का ऐसा भाग्य बना दिया, जिसके कारण उसे कसाई का, चोर या डाकू का धन्धा अपनाना पडा। परिणाम-स्वरूप वह कसाई अपने स्वभाव के अनुसार मूक पशुओं की गरदनों पर छुरियां चलाता है, उनकी जीवन-लीला को समाप्त कर देता है, इसी प्रकार चोर व्यक्ति लोगों के धन और सम्पत्ति का अपहरण करता है, चल और अचल सम्पत्ति लूट कर लोगों को दुःख-सागर में धकेल देता है, तथा डाकू डाके डालता है, बच्चो, युवकों की हत्या करता है, लड़कियों और स्त्रियों को उठा ले जाता है, उसकी आततायी प्रवृत्तिया इतनी अधिक बढ़ जाती हैं, कि सर्वत्र त्राहि, त्राहि होने लगती है, लोगों को जीवित रहना भी कठिन हो जाता हैं। इस तरह कसाई, चोर या डाकू जो भी अनाचरण करता है, पापमय प्रवृ-

त्तियों से जनता को परिपीड़ित बनाता है, उसमें उसका अपना कोई दोष नहीं माना जाना चाहिए, क्योंकि ईश्वर न उसे कसाई, चोर या डाकू बनाता और न वह ऐसे नीच कार्य करता। तात्पर्य कहने का यह है कि यदि ईश्वर को हम भाग्यविधाता मान लेते हैं तो यह भी मानना पड़ता है कि मनुष्य या पशु के जीवन में जो भी पापमय अशुभ प्रवृत्तियाँ होती हैं, उन सब का जुम्मेदार ईश्वर ही है। यदि कोई कहे कि ईश्वर जीव को कब कहता है कि तू बुरे काम कर, तो हम सादर और सप्रेम पूछते हैं कि मनुष्य बुरे कर्म क्यों करता है ? इसीलिए न, कि उसकी बुद्धि खराब है—अपने हिताहित के विवेक से खाली है। खराब बुद्धि मिलने का क्या कारण है ? उत्तर स्पष्ट है कि उसका कारण भाग्य है। फिर उसके भाग्य को बनाया किसने ? कहना होगा कि ईश्वर ने। ईश्वर ने ही मनुष्य के भाग्य को खराब बनाया है, जिसके कारण वह खराब, धर्म-विरुद्ध और व्यवहार-विरुद्ध कार्य करता है। न ईश्वर मनुष्य का ऐसा खराब भाग्य बनाता और न मनुष्य ऐसे खराब कार्यों में भागीदार बनता, जब ईश्वर ने स्वयं ही मनुष्य का खराब भाग्य बनाया है, तो विवश होकर मनुष्य को वैसे पापमय खराब कार्य करने पड़ते हैं, इससे स्पष्ट है कि यदि ईश्वर को भाग्य-निर्माता या भग्यविधाता मान लेते हैं तो संसार के समस्त प्राणियों की बुराइयों और अशुभ प्रवृत्तियों की जुम्मेदारी ईश्वर पर आ जाती है और बुराइएं करने वाला मनुष्य उनसे बिल्कुल अलग-थलग रह जाता है, फलतः उसे पापी या अधर्मी कहा व माना नहीं जा सकता।

इस सत्यता को समझाने के लिए एक और उदाहरण प्रस्तुत करता हूं। कल्पना करो, एक पापी मनुष्य है, वह दिन रात पापों के जाले बुनता रहता है, और प्रतिक्षण पापों के चक्र में चक्र काटता हुआ पापों में ही जीवन का अनमोल धन खो रहा है। उस की इस दयनीय दशा को देखकर समझाने के विचार से एक दिन एक सन्त ने उस से पूछा कि भाई ! तू इतना मेधावी और विचारशील हो कर

भी यह पापमय कार्य क्यों कर रहा है ? तेरे जैसे विवेक-शील व्यक्ति को तो ऐसी पापमय प्रवृत्तियों से सदा दूर रहना चाहिये । क्या तुझे परमपिता परमात्मा का कोई डर या कुछ भय नहीं है ? तू नहीं जानता कि सर्वशक्तिमान परमात्मा के दरबार में तेरी इन पापमय प्रवृत्तियों की जांच-पड़ताल होगी, तेरे जीवन का बही-खाता देखा जाएगा ! जो-जो तूने पाप किए हैं, उन पर दृष्टिपात होगा, जांच-पड़ताल के बाद जब तेरे पापमय कारनामे सामने आएंगें तो परम-पिता परमात्मा तुझ पर नाराज़ होंगे, उन की नाराज़गी के फलस्वरूप तुझे दण्ड दिया जाएगा, क्या पता है, तुझे नरक में भेज दिया जाए, कुत्ते या सूयर, गधे या बकरे की योनि में डाल दिया जाए । इसलिए नादान भाई ! तुझे अपना कुछ तो हानि-लाभ सोचना चाहिए। यदि किसी दूसरे की चिन्ता करने के लिए तेरे पास अवकाश नही है, तो न सही, कम से कम अपने भविष्य की तो तुझे चिन्ता करनी ही चाहिए । जहाँ तक मैं समझता हूं, अब भी कुछ नहीं बिगड़ा है, अब भी अपनी बिगड़ी बना सकता है, नीतिकारों का कहना है कि प्रातःकाल का भूला हुआ मनुष्य यदि सायंकाल को समझ जाए, तो उसे भूला हुआ नहीं मानना चाहिए । इस सम्बन्ध में एक उर्दूभाषा का कवि कितनी सुन्दर बात कह रहा है—

वह खुशनसीब है, उसे भूला न जानिए,
घर आ जाए शाम को, जो भूला सवेर का ।

सन्त अपनी बात को चालू रखते हुए पुनः फरमाने लगे कि भोले मनुष्य ! यदि तू मेरा कहना माने तो तुझे अब भी संभल जाना चाहिए, और जिस आचरण से तेरा यह लोक और परलोक सुधर जाए, उसे अङ्गीकार कर लेना चाहिए । करुणा-सदन तथा परोपकार-निरत उस सन्त ने उस पापप्रिय व्यक्ति से यह सब कुछ बड़ी सहानुभूति और समवेदना के साथ कहा था, किन्तु वह पापात्मा मनुष्य सन्त की बात सुन कर खूब खिलखिला कर हंसने लगा, अन्त में कहने

लगा—सन्त जी महाराज ! आप बहुत भोले हैं, सन्त अवश्य बन गए हैं, परन्तु अभी सन्तमत का सार नहीं जान पाए, सन्त बन कर भगवान की पूजा अवश्य करने लग गए हो परन्तु आप को अभी हमारे परम-पिता परमात्मा की माया का पता ही नही चला, इसीलिए आप पाप से डरने की बातें कर रहे हैं। पहले आप हमारे भगवान की माया को समझ लें। मेरा विश्वास है कि तदनन्तर आप को किसी को कुछ समझाने का कष्ट ही नहीं करना पडेगा। सुनो, मैं ही आप को समझाए देता हूं। वह कहने लगा—देखिए, हमारे, भगवान सर्वशक्ति-मान हैं, संसार के परिपालक है, सुखदायक और भाग्यविधायक हैं। हमारे भाग्य का निर्माण भी इन्होंने ही किया है । इन्हीं की सत्कृपा से सुखसुविधा के सब सामान मिले है, जीवन में जो मस्तियाँ है, ऐश्वर्य और वैभव के मंगलमय वाद्य बज रहे हैं, पारिवारिक और सामाजिक दृष्टि से जो मौज बहार है, समाज में जो प्रतिष्ठा है, यह सब उसी महाप्रभु के अनुग्रह का ही सु-फल है। मैं बिना किसी झिझक के जो चाहता हूँ, कर लेता हूँ, भय का ता मेरे जीवन में चिन्ह भी दिखाई नही देता, सदा प्रसन्नता के झूले पर झूलता रहता हूं, इसके पीछे भी परमपिता परमात्मा की कृपा ही समझता हूं। एक बात आप से पूछना चाहता हूं, बतलाएगे आप ? आप की दृष्टि से, मैं जो पाप करता हूं, बुराइयों से ज़रा भी सकुचाता नही हूं, यह सब क्यों होता है ? आप के कथनानुसार, इसीलिए न, कि मेरी बुद्धि खराब है, फलत: सोचने, विचारने, चिन्तन एवं आचरण करने का ढंग अनुचित है, दुष्ट है। जीवन में जितनी भी बुराइयां दृष्टिगोचर होती हैं, यह सब बुद्धि की खराबी के कारण ही हो रही हैं, परन्तु बुद्धि किस से प्राप्त होती है ? उत्तर स्पष्ट है—भाग्य से। भाग्य अच्छा हो तो बुद्धि अच्छी प्राप्त हो जाती है, और भाग्य खराब हो तो बुद्धि भी खराब मिलती है। आपने कभी यह सोचने का कष्ट किया है, कि भाग्य बनाने वाला कौन है ? वह कोई अन्य शक्ति नहीं है,

परमपिता परमात्मा स्वयं हैं। आप यह भी अच्छी तरह जानते और समझते हैं कि परमात्मा सर्वज्ञ है, सब कुछ जानने वाला है, और सर्वदर्शी है, सब कुछ देखने वाला है, उसके ज्ञान-नेत्रों से मैं तो क्या संसार की कोई भी वस्तु ओझल नहीं है। भगवान यह अच्छी तरह जानते हैं कि मैं जो इस जीव के भाग्य का निर्माण कर रहा हूं, उस से इस जीव को दुष्ट एवं पापमय बुद्धि की प्राप्ति होगी, बुद्धि की खराबी से यह पाप करेगा, जनमानस को तड़पाएगा, अनाथ और असहाय जीवन के मार्ग में काँटे बिखेरेगा, उन्हें परेशान एवं हैरान करेगा, राह चलती लड़कियों के सम्मान से खिलवाड़ करेगा, उनके धर्म को लूटने का यत्न करके उन्हें खेदखिन्न बनाएगा, दुकान पर बैठ कर कम तोलेगा, कम नापेगा, वस्तु दिखाएगा कुछ और देवेगा कुछ और, ग्राहकों को असली माल कह कर नकली देगा, मिलावट करके लोगों के स्वास्थ्य के साथ खेलेगा, दीन-जनों, निर्धनों, विध-वाओं एवं भाग्यहीन लोगों की अमानतों को अजगर की भाँति निगल जाएगा, झूठी गवाहियाँ दे कर निर्दोष लोगो को फंसाएगा, कृतघ्न बनेगा, जनता के साथ विश्वास-घात करेगा, धर्मस्थानों की पवि-त्रता को भी नष्ट करने से नहीं सकुचाएगा, ये सब बातें जानते हुए भी परमपिता परमात्मा ने जब मेरा ऐसा भाग्य बनाया है, तब मुझे पाप करने से डर क्या ? लोक-विरुद्ध तथा धर्मविरुध प्रवृत्तियाँ करने से भय क्या है ? यदि आप सच पूछें तो इसीलिए मुझे पापमय कार्य करने से ज़रा भी डर नहीं लगता, मैं जानता ही नहीं कि डर क्या वस्तु होती है ? और न मुझे पाप करने में कोई बुराई ही दिखाई देती है। क्योंकि मैं जानता हूं और मेरी यह आस्था है कि परम-पिता परमात्मा ने जब जानबूझ कर मेरी ऐसी क़िस्मत बनाई है, तब उस क़िस्मत के अनुसार मैं जो कुछ कर रहा हूं, उस में मुझे पाप लग भी कैसे सकता है ?

वह पापप्रिय व्यक्ति अपनी बात को चालू रखता हुआ पुनः कहने लगा कि मुनिवर ! मैं तो परमपिता परमात्मा का सच्चा भक्त

हूं, और उन से द्रोह करना मैं जानता ही नहीं, मैं समझता हूं, परमात्मा ने जो क़िस्मत बनाई है, यदि उसके अनुरूप कार्य करने से रुक गया, पाप करने छोड़ दिए तो यह द्रोह होगा, परमात्मा के साथ बड़ा भारी दग़ा होगा, यह दग़ा मैं भूल कर भी करना नहीं चाहता। रही परमात्मा के दरबार की बात, उस की मुझे रत्ती भर चिन्ता नहीं है, क्योंकि परमात्मा के दरबार में मेरे पहुँच जाने पर पहले तो किसी ने मुझ से कुछ पूछना ही नहीं है, यदि परमात्मा के कर्मचारियों से भ्रान्तिवश मुझ से पूछ भी लिया, तो मैं तत्काल उन के प्रश्न का समाधान कर दूंगा। मेरे पास एक ऐसा घड़ा घड़ाया समाधान तैयार पड़ा है, कि परमात्मा के कर्मचारी तो क्या, यदि परमात्मा स्वयं भी पूछने लगेंगे, तो उन का भी मुँह बन्द कर दूंगा। उस व्यक्ति की बात सुन कर सन्त साश्चर्य कहने लगे कि भाई! वह कौन सा घड़ा-घड़ाया समाधान तेरे पास तैयार रखा हुआ है जिसमे परमात्मा को भी मौन होना पड़ेगा। ज़रा हमे भी बता दे। सन्त की बात सुन कर वह हंस कर बोला-हथियार समय पर प्रयोग में लाया जाता है, परन्तु आप सन्त हैं, विरक्त हैं, बड़े हितैषी और हितचिन्तक बन कर मेरे सामने आए हैं, अतः आप को अभी बताए देता हूं। सुनिए, जब परमात्मा मुझ से पाप क्यों किए? यह प्रश्न करेंगे, तो मैं तत्काल कह दूंगा कि परमात्मन्! यह आप क्या पूछते हैं? मेरे भाग्येश तो आप हैं, आपने ही तो मेरे भाग्य की रचना की है। परिणाम-स्वरूप आपने जैसे मेरे भाग्य का निर्माण कर दिया है, उस के अनुसार मैं कार्य कर रहा हूं। पापमय भाग्य बना कर, पाप क्यों किए? यह पूछना कहाँ का न्याय है? भगवन्! मैंने जो कुछ भी किया है और मैं जो कुछ भी कर रहा हूं, या भविष्य में जो कुछ करूंगा, इस सब की जुम्मेदारी आप पर है। मैं तो आपका आज्ञा-कारी सपूत हूं, सेवक हूं। मैंने आपके बनाए हुए भाग्य के अनुसार ही सब कुछ किया है, रत्ती भर भी मैं इधर-उधर नहीं गया, मुझे

तो आपका वफ़ादार (वचन-पालक, स्वामि-भक्त) होने का महान् गौरव प्राप्त हो रहा है, मेरे विचार में तो मुझे इस वफ़ादारी और स्वामिभक्ति के लिए साधुवाद (शाबाश) मिलना चाहिए। परमात्मा के इस वफ़ादार ने पापों से निर्दोष होने की जो बात कही है, इसी को एक ऊर्दू का कवि अपनी पद्धति से इस तरह व्यक्त करता है—

ख़ुदा जब मुझ से पूछेंगा कि यह +तक़सीर किस की है ?
तो कह दूंगा कि इस तक़दीर में तहरीर किस की है ?

सन्त जी महाराज ! देखा, कितना शानदार और युक्तियुक्त समाधान है ? वसे आप स्वय ही विद्वान है, तथापि ज़रा और स्पष्टीकरण कर दूं कि परमात्मा के दरबार में पहुँचकर मैं परमात्मा से निवेदन करूंगा कि भगवन् ! आप तो स्वय ही अन्तर्यामी है, आप से क्या छिपा हुआ है ? आप स्वयं ही जब मेरे भाग्य के निर्माता है तो मेरे जीवन के समस्त क्रियाकलाप की जुम्मेदारी किसी दूसरे के ऊपर कंसे आ सकती है ? यह सब दायित्त्व तो आपके ऊपर ही है, यदि आप मेरा भाग्य खराब न बनाते तो खराब भाग्य के अनुसार मुझे खराब बुद्धि न मिलती, और मुझसे ये धर्म-विरुद्ध और पापमय कार्य न होते, परिणाम-स्वरूप इस पापाचार से, उत्पन्न होने वाला पाप भी न होता, दयालो ! स्वय बीज बोकर और सब कुछ स्वय करा कर इसके फल के लिए मुझ से पूछते हो ? कृपालो ! यह जो कुछ भी है, सब आप का ही है।

ऊपर की पंक्तियों के परिशीलन से यह स्पष्ट हो जाता है कि परमपिता परमात्मा को यदि भाग्य का निर्माता मानकर चलते हैं, तो विश्व के प्राणि-जगत के समस्त दोषों, अपराधों एवं पापों का दायित्त्व परमात्मा के ऊपर ही आ पड़ता है। यही कारण है कि जैन-दर्शन परमात्मा को भाग्य-विधायक स्वीकार नहीं करता, और जंन-

+दोष, गलती, अपराध

दृष्टि से परमात्मा कर्म-फल का प्रदायक भी नहीं है। जैन-दृष्टि कहती है कि यदि हम परमात्मा को कर्म-फल का प्रदायक मान लेते हैं तो प्रश्न उपस्थित होता है कि परमात्मा जीवों को उनके कर्मों का फल किस पद्धति से प्रदान करता है? वैकुण्ठधाम से अवतरित हो कर स्वयं तो वह कर्म-फल दे नहीं सकता, क्योकि वह निराकार है, किसी आकार को अपनाने से उसका निराकार-रूप समाप्त हो जाता है। हाँ, यदि परमात्मा साकार हो कर प्रत्यक्ष-रूप से प्राणि-जगत को उसके कर्मों के फल का भुगतान करवाता है, तो ऐसी दशा में किसी को ईश्वर की कर्म फलप्रदायकता से क्या इन्कार हो सकता, है? किन्तु आज तक किसी ने परमात्मा को साकार रूप में कर्म-फल का भुगतान करते या करवाते हुए देखा नहीं है, इस के अतिरिक्त, यदि परमात्मा किसी राजा, या राजकर्मचारी आदि के माध्यम से जीवों को उनके कर्मों का शुभा-शुभ फल दिलवाता है, तो यह मान्यता भी बुद्धि की कसौटी पर खरी उतरती दिखाई नहीं देती, इस मान्यता को स्वीकार कर लेने पर परमात्मा का व्यक्तित्व निर्दोष नहीं रहता, उस में बहुत बड़े अनेकों दोष आ जाते है। परमात्मा के व्यक्तित्व में आने वाले कुछ दोषों की रूपरेखा इस प्रकार है—

१—परमपिता परमात्मा को यदि किसी पुञ्जीपति के ऐश्वर्य, धन एवं सम्पत्ति को चुरा या लुटवा कर उस पुञ्जीपति के पिछले अशुभ कर्मों का फल देना अभीष्ट है, मञ्जूर है, तो परमात्मा इस कार्य को स्वयं तो करता नही है, वह चोर या डाकू के माध्यम से ही ऐसा करवा सकता है, और जिस चोर या डाकू के माध्यम से परमात्मा पूञ्जीपति को उसके अशुभ कर्मो का फल दिलवाएगा तो वह चोर या डाकू परमात्मा की आज्ञा का परिपालक होने के कारण निर्दोष समझा जाना चाहिये, परन्तु व्यवहार में ऐसा देखने को नहीं मिलता, अपराधी मान कर पुलिस उसे पकड़ती है, गिरफ़तार करके जेलखाने में बन्द कर देती है, ऐसा क्यों? पुलिस उस चोर या

डाकू को जो दण्ड देती है, उस की मार-पीट करती है, उसे उलटा लटका कर वृक्ष के साथ बान्ध देती है, यह सब दण्ड-प्रक्रिया परमात्मा के न्याय के बाहिर की बात माननी पड़ेगी। यदि उसे भी परमात्मा के न्याय के अन्दर मान कर चोर या डाकू को चोरी करने या डाके डालने का दण्ड पुलिस से दिलवाना आवश्यक समझा जाएगा तो यह परमात्मा का कितना बड़ा अन्याय होगा ? और यह कितनी बड़ी धान्धली होगी ? तथा भयंकर अन्धेर एवं अन्याय समझा जाएगा ? एक तरफ तो परमात्मा स्वयं पुञ्जीपति को कर्म-फल रूप दण्ड देने के लिए चोर या डाकू को उस के घर भेजता है और दूसरी तरफ पुलिस के द्वारा उसे गिरफ्तार करवा देता है। तो क्या यह— चोर को चोरी करने की बात कहे, और शाह को जागने की-" इस लोकोक्ति के अनुसार परमात्मा में दोगलापन नहीं आ जाता ?

परमात्मा ने जीवों को कर्मों के फल का भुगतान कराने के लिए ही संसार में कसाई, चोर, डाकू, लुटेरे, चाण्डाल, शेर, चीते, बाघ, सर्प और बिच्छू आदि प्राणघातक तथा अनिष्टकर प्राणियों की रचना की है और इसके अनुसार ही ये प्राणी प्रतिदिन हज़ारों जीवों का अपघात करके उन को उन के कर्म का दण्ड दे रहे हैं। यदि हम परमपिता परमात्मा को कर्म-फल का प्रदाता मान लेते हैं, तो ये सभी जीव निर्दोष माने जाने चाहियें। कारण स्पष्ट है। ये सब जीव परमपिता परमात्मा की आज्ञानुसार ही कार्य कर रहे हैं। यदि परमात्मा इन जीवों को निर्दोष मान लेता है, तो ऐसी दशा में दूसरे वे सभी जीव, जो अन्य लोगों को दुःख देते हैं, उन्हें हानि पहुँचाते हैं, निर्दोष और बेकसूर समझे जाने चाहियें। यदि उन्हें दोषी माना जाएगा तब उनके साथ यह बहुत बड़ा अन्याय होगा। लोकव्यवहार में देखा जाता है कि राजा के आदेशानुसार अपराधियों को उन के अपराध का दण्ड देने वाले जेलर, फाँसी पर लटकाने वाले चाण्डाल आदि सभी लोग कानून की दृष्टि से सर्वथा निर्दोष

माने जाते है। यह बड़ी विचित्र बात है कि जब जेलर आदि लोग न्याय की आँख से बेकसूर देखे जाते हैं, तब परमपिता परमात्मा के आदेश या संकेत के अनुसार अपराधियों, आततायियों तथा हिंसक व्यक्तियों को उन के अपराधानुसार दण्ड देने वाले व्यक्ति दोषी या अपराधी कैसे समझे जा सकते है ?

२-परमपिता परमात्मा सर्वशक्तिमान और सर्वज्ञ माना जाता है, इसलिए उसके द्वारा जोवां को उनके कृत कर्मों का जो दण्ड दिया जाता है, वह स्थायी या अमिट होना चाहिए, यदि उसे कोई समाप्त करने का दु:माहस करे तो यह दु:साहस सफल नहीं होना चाहिये, परन्तु लोक-व्यवहार इस बात की पुष्टि नहीं करता। देखा जाता है कि परमात्मा जीवों को जो दण्ड देता है, लोग या तो उसे समाप्त कर देते है, या फिर वे उस दण्ड को कमजोर अवश्य बना डालते हैं। इस तथ्य को एक उदाहरण मे निवेदन करता हूँ। कल्पना करो, एक मनुष्य है, परमात्मा ने उसके अशुभ कर्मानुसार उसे दण्ड देकर उसकी नेत्रज्योति को मन्द, कमज़ोर कर दिया। फलत: नेत्रज्योति की मन्दता के कारण वह व्यक्ति दूर पड़ी किसी वस्तु को न स्पष्टतया देख सकता है, और नाँही वह छोटे-छोटे अक्षरों वाली किसी पुस्तक को सुविधापूर्वक पढ़ सकता है, वैधानिक तौर पर परमपिता परमात्मा के द्वारा दिया गया यह दण्ड सदा कायम रहना चाहिये था, वह समाप्त होने की स्थिति में नहीं आना चाहिए था, परन्तु नेत्रचिकित्सक लोग परमात्मा के इस दण्ड को या तो आमूलचूल समाप्त कर देते हैं, या फिर उसे शक्ति-हीन अवश्य बना डालते है। परमपिता परमात्मा ने जिस व्यक्ति की नेत्र-ज्योति मन्द करके उसे उसके कर्मो का दण्ड दिया था, नेत्रज्योति की मन्दता के कारण खेदखिन्न वह व्यक्ति एक दिन किसी आई-स्पैस्लिस्ट (नेत्र-विशेषज्ञ) के पास चला जाता है, अपनी आंखें दिखलाता है, आखों का ध्यानपूर्वक निरीक्षण करने के अनन्तर डाक्टर उस व्यक्ति को दो ऐनकें दे देता है, एक निकट की और दूसरी दूर की। इस तरह

उस व्यक्ति के दुःख को वह दूर कर डालता है। निकट की ऐनक से उसे निकट की सब वस्तुएं साफ-साफ दिखाई देती हैं, छोटे-छोटे अक्षरों वाली पुस्तक बिना किसी बाधा के पढ़ी जा सकती है और दूर की ऐनक से उसे दूर की वस्तुएं अच्छी तरह दिखाई दे रही हैं। जहां पहले २० गज की दूरी पर पड़ी वस्तुएं भी अच्छी तरह दिखाई नहीं देती थीं, अब ऐनक लगाने के अनन्तर लाखों मील दूरी पर अवस्थित द्वितीया का चन्द्र भी सुविधापूर्वक देख लिया जाता है। इस तरह नेत्र-चिकित्सक ने परमपिता परमात्मा के द्वारा दिए गए इस दण्ड को निष्फल बना दिया है।

कुछ एक उदाहरण और उपस्थित करता हूं। कल्पना करो, एक मनुष्य की टांग टूट जाती है, परमपिता परमात्मा उस व्यक्ति को अङ्गहीन बनाकर उस के दुष्ट कर्मों का उसे दण्ड देना चाहता है। इसी प्रकार किसी मनुष्य की आंख नष्ट हो जाती है। परमात्मा उसे आंखों वालों के मध्य में काना बनाकर अपमानित करना चाहता है। परन्तु आज के वैज्ञानिकों ने नकली टांग और नकली आंख का आविष्कार करके परमात्मा के दिये गये इस दण्ड को काफी हद तक बेकार बना दिया है। इसी प्रकार परमात्मा की भेजी हुई प्लेग (महामारी), हैजा, इन्फ्लुञ्जा और तपेदिक आदि बीमारियों को डाक्टरों, वैद्यों और चिकित्सकों ने अपने अनथक परिश्रम से या तो बहुत हद तक समाप्त कर दिया है, या फिर बहुत कम कर दिया है,। इन उदाहरणों से यह बिल्कुल स्पष्ट हो जाता है कि परमात्मा जीवों को उनके कर्मानुसार जो दण्ड देता है, वह स्थायी नहीं रह पाता, लोग या तो उसे समाप्त कर देते हैं, या उस में कमी ले आते हैं। इसके अतिरिक्त, कर्म-फल का भुगतान करवाने के लिए जब परमपिता परमात्मा भूकम्प लाता है तो उस समय उसको यह भी ध्यान नहीं रहता, कि जो मेरे धर्मस्थान हैं, पूजास्थान हैं, उनका भी विध्वंस हो रहा है। जहाँ परमात्मा की पूजा होती है, उसके गीत गाए जाते हैं, उसके

चरणों में श्रद्धासुमन समर्पित होते हैं, ऐसे मन्दिर, मस्जिद, गुरुद्वारे और गिरजाघर आदि जितने भी धर्मस्थान हैं, परमात्मा भूकम्प लाकर उन्हें भी भूमिसात कर देता है, समझ में नहीं आता कि सर्वदर्शी भगवान, सब कुछ देखने वाला परमात्मा अपने पूजास्थानों की यह बुरी दशा क्यों करता है ? परमात्मा की इस दशा को देखकर विचारक व्यक्ति को बरबस हंसी आ जाती है, और उसकी दृष्टि में परमात्मा सम्मानित न रह कर उपहासास्पद बन जाता है। उदाहरणार्थ, एक शरणार्थी कवि अपनी निर्धनता तथा प्रतिकूल परिस्थितियों से बड़ा खेदखिन्न रहता था, निराशा और हताशा ने उस के स्वाभिमान के दीपक को बिल्कुल बुझा दिया था, एक बार वह किसी कार्य के लिए बाज़ार जा रहा था, मार्ग में उस ने भूकम्प के प्रहार से गिरी हुई मस्जिद (मुसलमानों का धर्म-स्थान) देखी; देखते ही वह गुदगुदाया और तत्काल उसकी अन्तर्वीणा पर एक स्वर नाचने लगा—

खुश हूं मस्जिदे वीरां को देख कर,
मेरी तरह खुदा का भी खाना खराब है।

शायर हंसता हुआ कहने लगा कि मस्जिद की ध्वंसावशेषों को देखकर मेरी अन्तरात्मा गद्‌गद हो रही है, मेरे हर्ष की आज कोई सीमा नहीं है, क्योंकि भूकम्प ने जैसे मेरे निवास-स्थान को धराशायी कर दिया है, वैसे परमपिता परमात्मा का आवास-स्थान (घर) भी उसने विध्वंस (विनष्ट) कर दिया है।

३—संसार जानता है कि चोर, डाकू आदि आततायी लोगों की सहायता करना, उन्हें सुख-सुविधा पहुंचाना, एक भयंकर दोष माना गया है, यह बहुत बड़ा पापमय कार्य है, ऐसा करना जहाँ लोक-विरुद्ध है, वहां यह असत्कार्य धर्म-विरुद्ध भी है, धर्मशास्त्र भी चोरों की सहायता को एक घृणास्पद कार्य स्वीकार करते है। फलत: जो लोग चोर आदि दुष्ट लोगों की स्वार्थवश सहायता करते हैं, वे लोग शासन-व्यवस्था के अनुसार अपराधी मान कर दण्डित किए जाते हैं। ऐसी दशा में जो

परमात्मा को कर्म-फल-प्रदायक मानते हैं और यह समझते हैं कि किसी को जो दुःख प्राप्त होता है वह उसके अपने कर्मों का फल है, और वह फल भी ईश्वर का दिया हुआ है, तथापि यदि वे किसी अन्धे की, लूले-लंगड़े की, अनाथ और असहाय की सहायता करते है, उनके दुःखों को दूर करने का प्रयास करते हैं तो यह परमात्मा के साथ विद्रोह नहीं तो और क्या है ? क्या वे लोग परमात्मा के चोर या अपराधी की सहायता नहीं कर रहे ? क्या परमात्मा ऐसे उद्दण्ड और विद्रोही व्यक्तियों पर प्रसन्न रह सकेगा ? तथा दुःखी और असहाय व्यक्ति की सहायता करना, उन्हें शान्ति पहुचाना, परमात्मा के साथ विद्रोह करना है, इस मान्यता को यदि स्वीकार कर लिया जाए तो दया, दान, उपकार आदि सात्त्विक और परोपकार-पूर्ण अनुष्ठानों का कुछ मूल्य या महत्त्व रह सकेगा ? उत्तर स्पष्ट है, कभी नहीं।

४—परमपिता परमात्मा जीवों के अपने किये हुए कर्मों के अनुसार उन के शरीर आदि की रचना करता है, जीवों के कृत कर्मों के अनुसार ही वह जीवों को फल प्रदान करता है, अपनी इच्छा के अनुसार वह कुछ नहीं कर पाता। ऐसी दशा में यह स्वीकार करना होगा कि परमात्मा परतन्त्र है, स्वतन्त्र नहीं है, परतन्त्रता की बेड़ियों में जकड़ा हुआ है। क्या परतन्त्रता को बेड़ियों में जकड़ा हुआ व्यक्ति परमात्मा कहा व माना जा सकता है ? कभी नहीं। जो सर्वथा स्वतन्त्र है, समर्थ है, अपनी इच्छानुसार कार्य करने की क्षमता रखता है, उस व्यक्ति के लिए ही परमात्मा की संज्ञा देना उपयुक्त रह सकता है। सर्वथा पराधीन और परतन्त्र जीवन को परमात्मा कहना व मानना परमात्म-भाव के साथ उपहास करना है। जुलाहा यद्यपि कपड़ों का निर्माण करता है, परन्तु वह स्वाधीन नहीं है, पराधीन है। स्वार्थ, परिवार और समाज आदि के बन्धनों में बन्धा हुआ होता है, परिणाम-स्वरूप वह परमात्मा नहीं कहा जा सकता, कर्मों के अधीन होने से परमपिता परमात्मा की भी यही स्थिति है। परमात्मा भी

जीव-कृत कर्मों के अधीन होने से 'परमात्मा' इस पद से व्यवहृत नहीं किया जा सकता। यदि परमात्मा अपनी इच्छा से कर्मों के फल में हेरा-फेरी करने लग जाए तो भी समस्या समाहित नहीं होती, क्योंकि ऐसा करने से उसकी प्रामाणिकता खतरे में आ जाती है। अतः परमात्मा को कर्म-फल-प्रदायक स्वीकार न करना ही युक्ति-युक्त और बुद्धि-संगत प्रतीत होता है।

५—किसी प्रान्त में, किसी सुयोग्य, न्यायशील शासक का शासन हो, तो उसके प्रभाव से चोरों, डाकुओं तथा आततायी लोगों का चोरी आदि दुष्कर्म करने में साहस नहीं पड़ता, और वे उद्दण्डता, एवं उच्छृंखलता को छोड़ कर प्रायः सत्पथ अपना लेते हैं, जिससे प्रान्त में सर्वत्र शान्ति की स्थापना हो जाती है और वहाँ के लोग निर्भयता के साथ सानन्द एवं सोल्लास जीवन व्यतीत करते हैं, परन्तु यह समझ में नहीं आता कि जब संसार का शासक परमपिता परमात्मा है, और वह एक ऐसा शासक है, जो सर्वथा दयालु है, कृपालु है, न्यायशील है, सर्वशक्तिमान है, सर्वज्ञ और सर्वदर्शी है, तथापि संसार में बुराई कम नहीं हो पाती, दिन-प्रतिदिन बढ़ती ही चली जा रही है। मांसाहारियों, व्यभिचारियों, भ्रष्टाचारियों, झूठों, कृतघ्नों, विश्वास-घातकों, दुष्टों और चोरों आदि हिंसक लोगों का आधिक्य ही, दृष्टिगोचर हो रहा है, सर्वत्र छल, कपट, ईर्ष्या, द्वेष और आपसी वैर-विरोध की आग की ज्वालाएं उठ रही हैं, ऐसी दशा में कैसे कहा व माना जाए कि परमपिता परमात्मा संसार का शासक है, और उसने संसार का शासन अपने हाथों में ले रखा है?

६—जब कोई मनुष्य चोरी करता है, तो उस पर राज्य या शासन की ओर से व्यवस्थित ढंग से अभियोग चलाया जाता है, यह प्रमाणित होने पर कि इस व्यक्ति ने चोरी की है, या अमुक अपराध किया है तो न्यायाधीश (जज) उस को जेल या जुर्माना आदि उपयुक्त दण्ड देता है, इससे वह अपराधी तथा अन्य लोग यह

जान जाते हैं कि चोरी आदि दुष्कर्मों के फल-स्वरूप जेल आदि के रूप में दण्ड मिलता है, इस दण्ड का ज्ञान होने पर वह व्यक्ति एवं साधारण जनता यह समझ लेती है कि मनुष्य को, हिंसा झूठ, और चोरी आदि दुष्कर्मों से बचना चाहिये, यदि कोई व्यक्ति हिंसादि पापमय कर्मों में प्रवृत्ति करेगा तो जेल आदि के रूप में उसे दण्ड भुगतना पड़ेगा। परिणाम-स्वरूप भविष्य में किसी व्यक्ति का चोरी आदि लोकविरुद्ध तथा राज्यविरुद्ध कार्य करने में सहसा साहस नहीं होने पाता, यदि किसी देश का शासक किसी अपराधी को पकड़ या पकड़वा कर जेल में डाल दे और उस पर कोई अभियोग न चलावे और नाँही यह प्रकट करे कि इस व्यक्ति ने क्या अपराध किया है। तो ऐसी दशा में जनता उस व्यक्ति को निर्दोष और शासक को अन्यायी समझने लगेगी, अपराध तथा उसके फलस्वरूप दण्ड का बोध न होने से जनता कभी भी उस व्यवस्था से शिक्षित नहीं हो सकेगी। इस का कटु परिणाम यह होगा कि न कोई अपराध करने से डरेगा, और नाँही उस व्यक्ति का सुधार होगा।

नाथूराम गोडसे को कौन नहीं जानता, उसने सैंकड़ों व्यक्तियों के सामने राष्ट्रपिता महात्मा गान्धी के सीने में तीन गोलियां मारी थीं, अतः नाथूराम को हत्यारा प्रमाणित करने के लिए किसी अन्य गवाह की कोई आवश्यकता नहीं थी, और व्यावहारिक रूप से भी भारत सरकार यदि नाथूराम गोडसे को फांसी के तख्ते पर लटका देती तो ऐसा करने का उसे अधिकार था, परन्तु भारत सरकार ने ऐसा नहीं किया, प्रत्युत व्यवस्थित रूप से अदालत में नाथूराम को हत्यारा प्रमाणित करने के अनन्तर ही उसे फांसी दी गई, राज्य-व्यवस्था इसी ढंग से जीवित रह सकती थी, अपराधी के अपराध को प्रमाणित किए बिना उसे दण्डित करना किसी भी दृष्टि से उचित और न्यायसंगत नहीं कहा जा सकता।

परमपिता परमात्मा संसार का शासक है, शासन-व्यवस्था करने वाला है, इसी प्रकार उसे भी व्यवस्थित ढंग से ही काम लेना

चाहिये, किन्तु ऐसा देखने में नहीं आता, जब कोई व्यक्ति मनुष्य-योनि में जन्म लेता है, और जन्म से ही वह अन्धा और पंगु शरीर वाला होता है तो उस व्यक्ति को तथा उसके परिवार को एवं उसके अड़ौसी-पड़ौसियों को यह ज्ञात नही होता कि यह अन्धत्व और पंगुत्व किस कर्म का फल है ? किसी को भी यह मालूम नही होने पाता कि यह सदोष शरीर किस कर्म के कारण इस व्यक्ति को प्राप्त हुआ है ? सब के सर्वथा अज्ञात रहने के कारण उक्त दुष्ट शरीर की प्राप्ति के मूलभूत दुष्कर्म का भी किसी को ज्ञान नही होने पाता, इस से दण्ड देने का यह उद्देश्य कि अपराधी मनुष्य भविष्य में अपराध न करे, और लोगो को इससे शिक्षा प्राप्त हो, सफल नहीं होने पाता, परमपिता परमात्मा का कर्त्तव्य बनता है कि वह किसी भी व्यक्ति को कर्म का दण्ड देने से पूर्व उस के अपराध को प्रमाणित करे, और यह स्पष्ट करे कि इस व्यक्ति ने अमुक दुष्कर्म किया था, इसलिए इस को अमुक दण्ड दिया जाता है। ऐसा करने से ही परमात्मा की दण्डमर्यादा सफल हो सकती है, और ऐसा करने से ही जनमानस उस दुष्कर्म के करने से भयभीत होगा, भविष्य में उस से सुरक्षित रह सकेगा। इसके अतिरिक्त, ऐसा करने से ही दण्डित व्यक्ति के मानस का सुधार होगा, और वह भी भविष्य में पापमय कार्य करने में सकोच करेगा, परन्तु परमपिता परमात्मा ऐसा कोई कार्य नही करता।

७—जो परमपिता परमात्मा कर्म-फल देने का सामर्थ्य रख सकता है. उस में अपराधी को दुष्ट कर्म करने से रोकने का बल भी रह सकता है, लौकिक व्यवहार भी ऐसा ही देखा जाता है कि जो शासक चोरों या डाकुओं के दल को उसके अपराध के दण्डस्वरूप जेलों में बन्द कर सकता है, तो उस शासक में यह भी शक्ति होती है कि वह उस को अपराध करने से रोक दे। शासक को यदि पता चल जाए कि डाकुओ का दल अमुक ग्राम या अमुक नगर में अमुक समय पर डाका डालेगा, और लोगों के जीवन-धन को लूटने का

प्रयास करेगा, तो उस शासक का कर्त्तव्य बनता है कि वह डाका डालने के समय से पूर्व ही डाकुओं को डाका डालने से रोके या उन्हें गिरफतार करे, यदि शासक जानबूझ कर प्रजा के धन, और सम्पत्ति का संरक्षण नहीं करता तो वैधानिक दृष्टि से वह अपने कर्त्तव्य की हत्या करता है ।

कर्मफलप्रदाता परमपिता परमात्मा सर्वज्ञ है, सर्वदर्शी है, सर्वशक्ति-सम्पन्न है, और साथ में परम दयालु एवं कृपालु भी है । वह जानता एव समझता है कि अमुक व्यक्ति अमुक समय पर अमुक अपराध करेगा, ऐसी दशा में उसका कर्त्तव्य बनता है कि वह अपराधी की भावना को परिवर्तित कर दे, अपराध करने का या जनमानस को पीड़ा पहुँचाने का उस ने जो निश्चय किया है उसे बदल दे, या उसके मार्ग में ऐसी-ऐसी बाधाएं उपस्थित करदे कि जिनके कारण वह अपराध कर ही न सके । इसके विपरीत, यदि परमपिता परमात्मा अपराधी के भावों को जानता है, और अपराध रोकने का सामर्थ्य भी रखता है, परन्तु उसे रोकता नहीं, अपराधी को उस की इच्छा-नुसार अपराध करने देता है तो मानना पड़ेगा कि वह भी अपने कर्त्तव्य से भ्रष्ट होता है । ऐसे परमपिता परमात्मा को कर्त्तव्यपालक. न्यायशील, या दयालु नहीं कहा जा सकता । यदि कहा जाय कि परामात्मा ने जीवों को कर्म करने में स्वतंत्रता दे रखी है, जीव यथेच्छ कर्म कर सकते हैं, परमात्मा उसमें कभी बाधक नहीं बनता, तो इसका अर्थ यह हुआ कि परमात्मा जो कर्मफल देता है, उसका उद्देश्य प्राणियों का सुधार करना नहीं, प्रत्युत अपने मनोविनोद के लिए या शासन की महत्त्वाकाँक्षा पूर्ण करने के लिए वह ऐसा करता है । यदि जनमन का सुधार करना, परमात्मा का उद्देश्य हो फिर तो वह जीवों को दुष्कर्म करने से पूर्व ही रोक दे, परन्तु वह ऐसा क्यों करे ? क्योंकि यदि जीव दुष्ट कर्म करना छोड़ दें तो परमात्मा अपना मनो-विनोद और शासन करने की महत्त्वाकांक्षा को पूर्ण कैसे करे ? लोगों के हित की चिन्ता न करने वाला, प्रत्युत अपने ही मनो-विनोद और

शासन का ध्यान रखने वाला व्यक्ति क्या परमात्मा कहलाने का अधिकारी हो सकता है, उत्तर स्पष्ट है—कभी नहीं।

८—इस विश्व में जीव अनन्त हैं और प्रत्येक जीव अपने मन, वाणी और काया से कुछ न कुछ प्रवृत्ति करता ही रहता है। एक जीव की क्षण-क्षण की क्रियाओं का इतिहास लिखना और उनका जीव को फल देना यदि असंभव नहीं तो अत्यन्त कठिन अवश्य है, जब एक जीव के क्षण-क्षण का ब्योरा रखना एवं उस का फल देना इतना दुष्कर कार्य है तो संसार के अनन्त-जीवों के क्षण-क्षण की क्रियाओं का ब्योरा रखना एवं उनका फल देना परमात्मा के लिए कितना दुष्कर कार्य बन जाएगा ? यह स्वतः स्पष्ट हो जाता है। इसके अतिरिक्त, संसार के अनन्त जीवों के क्षण-क्षण में किये गये कर्मों के फल देने में लगे रहने से परमात्मा कैसे शान्त तथा अपने आनन्द-स्वरूप में कैसे मग्न रह सकता है ? तथा यह सब झंझट परमात्मा करता किस के लिए है ? परमात्मा को क्या आवश्यकता पड़ी है कि वह इस विश्व के अनन्त जीवों के क्षण-क्षण के कर्मों का हिसाब रखें और फिर उन्हें दण्ड दे ?

९—देखा जाता है कि किसी कर्म का फल कर्त्ता को तुरन्त मिल जाता है, और किसी का कुछ समय के बाद और किसी को कुछ वर्षों के अनन्तर। ऐसे कर्म भी हैं, जिनका फल दूसरे जन्मों में मिलता है, इस का कारण क्या है ? कर्म-फल के भोग में यह विषमता क्यों देखी जाती है ? क्या परमात्मा के यहाँ भी रिश्वतें चलती हैं, जो किसी को आगे और किसी को पीछे कर्मों का फल भुगताता है ? परमात्मा को यदि कर्म-फल का प्रदाता स्वीकार कर लिया जाए तो उक्त प्रकार की अन्य भी अनेकों आशंकाएं उपस्थित होती हैं, जिन का कोई सन्तोष-जनक समाधान नहीं मिलता। अतः यही समझना और मानना संगत एवं उपयुक्त रहेगा कि कर्म-फल के भुगताने में परमपिता परमात्मा का कोई हाथ नहीं है, प्रत्युत कर्म-परमाणु

स्वयं ही प्राकृतिक नियमों के अनुसार कर्मकर्ता को अपना दंड दे डालते हैं। कर्म-परमाणु जीव को अपना फल कैसे प्रदान करते हैं? इस सम्बन्ध में पीछे पृष्ठ ४० पर प्रकाश डाला जा चुका है।

भगवद्गीता और कर्मफल—

जैनदर्शन की मान्यता है कि कर्म-फल के भुगताने में परमपिता परमात्मा का कोई हस्तक्षेप नहीं है। प्रश्न हो सकता है कि जैन-दर्शन की यह मान्यता किसी जैनेतर दर्शन में भी उपलब्ध होती है? या केवल जैनदर्शन ही इस का उद्गम स्थान है? उत्तर में निवेदन है कि जैनेतर धर्मशास्त्र श्रीमद्भगवद्गीता में भी जैनदर्शन की इस मान्यता का उल्लेख मिलता है। वहाँ लिखा है—

न कर्तृत्वं न कर्माणि, लोकस्य सृजति प्रभुः।
न कर्मफल-संयोगं, स्वभावस्तु प्रवर्तते ॥१॥

—गीता, अध्याय ५-१४

—परमात्मा न तो इस संसार की रचना करता है, न जीवों के कर्म बनाता है, और न कर्मों का फल ही देता है, किन्तु प्रकृति ही सब कुछ करती है। तात्पर्य यह है कि जगत के निर्माण में, भाग्य के विधान में तथा कर्मफल के प्रदान में परमपिता परमात्मा का कोई हाथ नहीं है, मनुष्य जैसा कर्म करता है, उसका वैसा फल पा लेता है।

नादत्ते कस्यचित् पापं, न चैवं सुकृतं विभुः।
अज्ञानेनावृतं ज्ञानं, तेन मुह्यन्ति जन्तवः ॥२॥

—गीता, अध्याय ५-१५

—परमपिता परमात्मा न तो किसी जीव का पाप लेता है, और नाँही किसी का पुण्य ग्रहण करता है। अज्ञान से आवृत होने के कारण यह जीव स्वयं ही मोह में फंस जाते हैं।

परमात्मा के तीन रूप--

जैनदर्शन के परिशीलन से पता चलता है कि यह दर्शन परमपिता परमात्मा को जगत का रचयिता, भाग्य का विधाता और कर्म-फल का प्रदाता स्वीकार नहीं करता, इस के विश्वासानुसार परमात्मा का ससार के किसी कार्य में कोई हस्तक्षेप नहीं है, यहाँ एक प्रश्न उपस्थित होता है कि जैनदर्शन जब परमात्मा को संसार की समस्त प्रवृत्तियों से सर्वथा अलग-अलग ही मानता है, तब इस का कहीं यह अर्थ तो नहीं कि जैन-दर्शन परमात्मा की सत्ता से ही सर्वथा असहमत हो ? दूसरे शब्दों में, क्या जैन-दर्शन परमात्मा को मानता ही नहीं है ? इस प्रश्न का समाधान करते हुए जैनाचार्य फरमाते हैं कि जैन-दर्शन परमात्मा की सत्ता को पूर्णरूप से स्वीकार करता है। आत्मा, परमात्मा, लोक, परलोक, पुनर्जन्म आदि सभी बातों को जैन-दर्शन मानता है, अधिक क्या जैन-दर्शन की अध्यात्म साधना का ध्येय ही परमात्म-पद की प्राप्ति रहा हुआ है। हाँ, यह सत्य है कि जैन-दर्शन वैदिक दर्शन की भांति परमपिता परमात्मा को जगत का कर्ता, भाग्य-विधाता तथा कर्मफल-प्रदाता स्वीकार नहीं करता। अध्यात्म साहित्य में परमात्मा को लेकर अनेकों विश्वास पाए जाते हैं। परमात्म-सम्बन्धी आज जो मान्यताएँ प्रचलित हो रही हैं, यदि उन का सूक्ष्म दृष्टि से चिन्तन करें तो मुख्य रूप से उन को तीन विभागों में विभक्त कर सकते हैं। वे तीन विभाग ये हैं—

परमात्मा एक है, अनादि है, सर्वव्यापक है, सच्चिदानन्द है, घट-घट का ज्ञाता है, सर्वशक्तिमान है, जगत का निर्माता है, भाग्य का विधाता है, कर्मफल का प्रदाता है, संसार में जो कुछ हो रहा है वह सब परमात्मा के संकेत से हो होता है, उसके इशारे के बिना वृक्ष का पत्ता भी कम्पित नहीं हो सकता, वह संसार का सर्वेसर्वा है। परमात्मा पापियों का नाश करने के लिए तथा धार्मिक लोगों का उद्धार करने के लिए कभी न कभी किसी न किसी रूप में संसार में जन्म लेता है, वैकुण्ठ-धाम से नोचे उतरता है, मनुष्य या पशु आदि के रूप

से जन्म ग्रहण करता है, और अपनी लीला दिखा कर वापिस वैकुण्ठ-धाम में जा विराजता है, वह सदा संस्मरणीय है, और नमस्करणीय है।

यह परमपिता परमात्मा का एक रूप है, जिस में मनुष्य के व्यक्तित्व का अपना कोई मूल्य नहीं है, जो कुछ है, वह सब परमपिता परमात्मा ही है। परमात्मा के इस रूप को हमारे सनातन-धर्मी भाई स्वीकार करते हैं। अब परमात्मा का दूसरा रूप समझ लीजिए–

परमात्मा एक है, अनादि है, अनन्त है, सर्व-व्यापक है, सच्चिदानन्द है, घट-घट का ज्ञाता है, सर्व-शक्तिमान है, संसार का निर्माता है, जीव कर्म करने में स्वतन्त्र है, इसमें परमात्मा का कोई हस्तक्षेप नहीं है, जीव अच्छा या बुरा, जैसा भी चाहे कर्म कर सकता है, यह उसकी इच्छा पर निर्भर है, परमात्मा का उस पर कोई प्रतिबन्ध नहीं है, परन्तु जीवों को उनके कर्मों का फल परमपिता परमात्मा प्रदान करता है। अपनी लीला दिखाने के लिए या पापियों का नाश करने के लिए या धर्मात्माओं का उद्धार करने के लिए परमात्मा मनुष्यादि के रूप में अवतरित नहीं होता, अवतार धारण नहीं करता। परमात्मा सदा संस्मरणीय है और नमस्करणीय है।

यह परमपिता परमात्मा का दूसरा रूप है, इसमें मनुष्य परमात्मा के बराबर खड़ा है, इसमें मनुष्य को कर्म करने की पूर्ण स्वतन्त्रता है, वह किसी के अधीन नहीं है, परन्तु कर्म-फल की प्राप्ति के लिए उसे परमात्मा के द्वार खट-खटाने पड़ते हैं। परमात्मा के इस रूप को हमारे आर्य-समाजी भाई मानते हैं। परमात्मा का तीसरा रूप इस प्रकार है—

प्रत्येक जीव में परमात्म-भाव निवास करता है, प्रत्येक आत्मा ऊपर उठती हुई धीरे-धीरे महात्मा और अन्त में परमात्मा का रूप ले सकती है, अतः परमात्मा एक नहीं है, गुणों की दृष्टि से परमात्मा एक भी है। क्योंकि सबका परमात्म-भाव एक जैसा ही है। परमात्मा सादि भी है, और अनादि भी है। एकजीव की अपेक्षा परमात्म-भाव सादि है, और

सब मुक्तात्माओं की दृष्टि से परमात्मभाव अनादि है। परमात्मभाव अनन्त है, उस का कभी अन्त नहीं आने पाता। परमात्मा व्यक्ति की दृष्टि से सर्वव्यापक नहीं है, सारा विश्व उसके ज्ञानालोक में आभासित हो रहा है, अतः वह सर्वव्यापक भी है। परमात्मा सच्चिदानन्द है, अर्थात् सत्य-सत्-स्वरूप, चिद्-ज्ञान-स्वरूप और आनन्द-सुख-स्वरूप है। वह अनन्त शक्तिमान है। जगत् का निर्माता नहीं है, भाग्य का विधाता नहीं है, कर्मफल का प्रदाता नहीं है, संसार के किसी धन्धे में उसका कोई हस्तक्षेप नहीं है, जीव कर्म करने में स्वतन्त्र है, परमात्मा जीव को कर्म करने की प्रेरणा नहीं देता, उसे निषिद्ध भी नहीं करता। जीव जो कर्म करता है, उसका फल जीव को स्वतः ही मिल जाता है, आत्मप्रदेशों पर लगे कर्म-परमाणु ही कर्म-कर्ता जीव को स्वयं अपना फल दे डालते हैं, परमात्मा का उनके साथ प्रत्यक्ष या परोक्ष कोई सम्बन्ध नहीं है, कर्मफल पाने के लिए परमात्मा माध्यम नहीं बनता। जीव सर्वथा स्वतन्त्र है, किसी भी दृष्टि से वह परमात्मा के अधीन नहीं है। परमात्मा अवतार धारण नहीं करता, वह किसी को मारता नहीं है और किसी को जिलाता भी नहीं है। यदि संक्षेप में कहें तो—

राम किसी को मारे नहीं, मारे सो नहीं राम,
आप ही आप मर जाएगा, कर-कर खोटे काम।

इसके अतिरिक्त, जीव अपने भाग्य का स्वयं निर्माता है, स्वर्ग और नरक मनुष्य की अपनी सद् और असद् वृत्तियों के परिणाम हैं, अपनी नैया को पार करने वाला और डुबोने वाला भी जीव स्वयं ही है, इसमें परमात्मा का कोई सम्बन्ध नहीं। इतना कुछ होने पर भी परमात्मा अध्यात्म जीवन का सर्वोपरि लक्ष्य है, ध्येय है, मनुष्य को अपने अन्दर सोए परमात्मभाव को जगाना है, कर्मों की बेडियों को तोड़कर एक दिन जीव ने स्वयं परमात्मलोक में पहुंचना है, परिणाम-स्वरूप परमात्मा संस्मरणीय है और नमस्करणीय है।

यह परमपिता परमात्मा का तीसरा रूप है। इसमें सांसारिक

दृष्टि से मनुष्य को ही प्राधान्य प्राप्त है, परमात्मा का केवल ध्येय या लक्ष्य के रूप में ही स्थान रहा हुआ है। परमात्मा के इस तीसरे रूप को हमारे जैनलोग स्वीकार करते हैं। परमात्मा के उक्त तीनों रूपों में परमात्मा के अस्तित्व को सब ने स्वीकार किया है। अतः—"जैन दर्शन परमात्मा की सत्ता में विश्वास रखता है,"-यह कहना सर्वथा उपयुक्त ही है। परमात्मा के सम्बन्ध में विस्तार-पूर्वक जानने की इच्छा रखने वाले महानुभावों को मेरी लिखी "भगवान महावीर के ५ सिद्धान्त" इस पुस्तक के "ईश्वरवाद" नामक प्रकरण को पढ़ लेना चाहिए।

जब परमपिता परमात्मा जगत का निर्माता नहीं है, भाग्यविधाता और कर्मफल-प्रदाता नहीं है, संसार के किसी प्रपंच में उसका हस्तक्षेप भी नहीं हैं, तथा वह हमारा कुछ नफा-नुक्सान भी नहीं कर सकता, तो फिर परमात्मा का भजन करने की, उसका स्मरण या कीर्तन करने की क्या आवश्यकता है? प्रासंगिक होने से इस प्रश्न का समाधान भी प्राप्त कर लेना आवश्यक है। जैनदर्शन का विश्वास है कि परमात्मा का भजन, स्मरण और कीर्तन अवश्य होना चाहिए क्योंकि परमात्मा का स्मरण और चिन्तन आत्मशुद्धि और आत्मशान्ति के लिए अत्यावश्यक माना गया है। दर्पण को देख कर जैसे मनुष्य अपने मुँह पर लगे दाग़ को साफ कर लेता है, वैसे ही परमात्मा को आदर्श मान कर मनुष्य अपनी आत्मा के दाग़ों को धो सकता है। आत्मा पर काम, क्रोध आदि विकारों के दाग़ लगे हुए हैं, प्रभु-स्मरण से इनकी जानकारी होती है, क्योंकि आत्मा और परमात्मा को केवल कामादि विकारों का ही अन्तर है। संसारी जीव स-विकार है, और परमात्मा निर्विकार है। यदि इस अन्तर को मिटा दिया जाए तो फिर दोनों बराबर हो जाते हैं। इस अन्तर को तभी मिटाया जा सकता है, जब इसका बोध हो, बोध अपनी आत्मा और परमात्मा के चिन्तन और मनन से होता है। परमात्मा के चिन्तन से साधक उसके स्वरूप को

जान लेता है, तदनन्तर उस स्वरूप को अपने में लाने का यत्न करता है। परमात्मा का स्वरूप अपना स्वरूप बन जाने पर आत्म-शुद्धि और आत्मशान्ति का लाभ स्वतः ही हो जाता है। अतः परमात्मा का भजन स्मरण और चिन्तन अध्यात्म जीवन में एक महत्त्वपूर्ण स्थान रखता है। महामान्य भक्तराज कबीर के—सांस सफल सोई जानिए, जो प्रभु-सिमरण में जाए" इस कथनानुसार जितना समय परमात्मा के भजन, कीर्तन में लगेगा उतना समय मनुष्य बुराई से, निन्दा चुगली से और पापों से बचा रहेगा, बुराई से बचना भी जीवन की बहुत बड़ी सफलता समझी जाती है। बुराई से बचने वाला ही धीरे-धीरे अच्छाई अपना कर अपने जीवन का कल्याण करने में सफल हो पाता है।

अशुभ कर्मों से बचो—

ऊपर की पंक्तियों में यह स्पष्ट कर दिया गया है कि कर्मों का फल परमपिता परमात्मा नहीं देता, परन्तु कर्म-परमाणु अपने आप ही उसका भुगतान कर देते हैं। इस के अतिरिक्त ऊपर यह भी बता दिया गया है कि कर्मों का फल अवश्यमेव भोगना पड़ता है, और किसी भी दशा में कर्मफल से छुटकारा नहीं मिलता, अतएव जैन-दर्शन मनुष्य को सम्बोधित करते हुए कहता है कि अ मनुष्य ! कर्म को करते समय तुझे यह बात ध्यान में रख लेनी चाहिये कि कर्म का फल अवश्य भुगतना पड़ेगा, इसलिए अशुभ प्रवृत्तियों से किनारा करके, अहिंसा सत्य, अस्तेय, ब्रह्मचर्य, प्रभु-भक्ति, दीन दुखियों की सेवा आदि शुभ प्रवृत्तियों के द्वारा अपने जीवन को ऊंचा उठाना चाहिए। इसी में तेरा हित सन्निहित है।

वैसे संसार में धनादि रूप से अनेकानेक शक्तियाँ उपलब्ध होती हैं, परन्तु कर्म की शक्ति सब शक्तियों से बलवान एवं प्रधान मानी गई है, इस के आगे मनुष्य की बौद्धिक और शारीरिक शक्ति के अतिरिक्त अन्य जितनी भी शक्तियां हैं, वे सब की सब धरी-धराई रह जाती हैं। मनुष्य अपने ढंग से बहुत कुछ सोचता है, बड़ी लम्बी चौड़ी

योजनाएं तैयार करता है, आकाश और पाताल एक कर देता है, परन्तु जब उसे कर्म का दैत्य आकर घेर लेता है, तब वह उसकी सारी की सारी योजनाएं धूलि में मिला देता है। इतिहास इस सत्य का पूर्ण-रूप से समर्थन कर रहा है। पाण्डु-पुत्र अर्जुन महाभारत के युद्ध में अपने सैनिक-दल में सेनापति थे, वे इतने अधिक बलवान थे कि अकेले ही हज़ारों व्यक्तियों को पीछे धकेल देते थे, परन्तु कर्म-शक्ति के आगे उन का भी कोई वश नहीं चला। महाभारत कहता है कि राजा विराट की नगरी में पाण्डवों को एक वर्ष का अज्ञात-वास करना पड़ा। दुर्योधन को पता न चले, इस पद्धति से पाण्डवों ने एक वर्ष व्यतीत करना था, अतएव वे राजा विराट की नगरी में एक वर्ष के लिए छुप कर समय यापन कर रहे थे। महाबली भीम ने रसोइया बनकर दिन काटे, महारानी द्रौपदी ने दासी बनकर समय व्यतीत किया, अर्जुन नपुंसक के रूप में राज-कुमारियों को नृत्य और गायन की कला सिखाया करते थे। जिनके आगे सैंकड़ों दास-दासियां थीं, कर्मों के प्रकोप के कारण आज वे स्वयं दास बन कर जीवन-रथ को हांक रहे थे। पाण्डवों की शक्ति कौन नहीं जानता ? परन्तु कर्मों ने उन्हें ऐसा लताड़ा कि उन की कोई शक्ति उस समय उनके काम न आ सकी। एक पाण्डुपरिवार क्या, कर्मों के दरबार में ऐसे हज़ारों और लाखों पाण्डुपरिवार पड़े हैं जिनकी शक्तियों से कभी संसार कांपता था, किन्तु कर्मों ने उन्हें भी कंपा दिया। इसलिए जैन-दर्शन कहता है कि संसार के प्राणियो ! कर्मों की शक्तियों के स्वरूप को समझो, उन्हें पहचानो और उनका स्वरूप अवगत करके अशुभ कर्मों से सदा बचते रहो। कविता की भाषा में कहें तो—

शक्ति कर्म की प्रबल है, छोड़े नहीं सुरेश,
"ज्ञानमुनी" नत होत हैं, जपी, तपी अखिलेश।

—:०:—

कर्मों के आठ भेद

वताया जा चुका है कि जैन-दर्शन की दृष्टि से कर्मों के दो भेद होते हैं-एक द्रव्यकर्म और दूसरा भाव-कर्म । मानवी व्यक्ति के मानस में जब अच्छे और बुरे संकल्प-विकल्प उत्पन्न होते हैं, तब उस समय जोवात्मा आत्मप्रदेशों के पार्श्ववर्ती अनन्तानन्त कर्म-योग्य परमाणुओं को अपनी ओर आकृष्ट कर लेता है और वे आकृष्ट (खिचे हुए) परमाणु जब आत्मप्रदेशों से सम्बन्धित हो जाते हैं, अपना सम्बन्ध जोड़ लेते हैं तब वे आत्मसम्बद्ध परमाणु द्रव्यकर्म कहलाते हैं, तथा जिन संकल्प-विकल्पों के आधार पर परमाणु आत्मा की ओर आकृष्ट होते हैं, वे संकल्प-विकल्प भाव-कर्म माने जाते हैं। भाव यह है कि जब कोई आत्मा क्रोध, मान, माया और लोभ आदि संकल्पों में उलझ जाती है तो उस समय आत्मप्रदेशों में एक प्रकार की हलचल सी पैदा होती है, तो उस समय उस जगह पर ठहरे हुए परमाणु आत्मा की तरफ आते हैं, और जैसे जलते हुए दीपक की बत्ती तेल को खींचती है, वैसे ही यह आत्मा उन परमाणुओं को खींच लेती है और वे परमाणु आत्मा से जुड़ जाते हैं, जुड़े हुए उन परमाणुओं को द्रव्यकर्म और जिन भावनाओं के कारण वे परमाणु खिचते हैं, उन भावनाओं को भावकर्म कहा गया है। भावकर्मों के आधार पर द्रव्यकर्म का और द्रव्यकर्म के आधार पर भावकर्म का बन्ध होता है।

बन्ध क्या होता है ?—

प्रश्न हो सकता है कि बन्ध किसे कहते हैं ? वन्ध का क्या स्वरूप है ? इस प्रश्न का समाधान करता हुआ जैन-दशन कहता है कि

जैसे कोई व्यक्ति अपने शरीर पर तैल का मर्दन करके धूलि में लेट जाय तो धूलि उस के शरीर पर चिपक जाती है, ठीक वैसे ही मिथ्यात्व, कषाय आदि के कारण आत्मा के पार्श्ववर्ती परमाणु आत्मप्रदेशों से सम्बन्ध स्थापित कर लेते हैं। परमाणुओं का और आत्मप्रदेशों का जो सम्बन्ध होता है, वही बन्ध कहलाता है। श्री स्थानांग सूत्र में बन्ध के राग-बन्ध और द्वेषबन्ध, ये दो भेद बताए गए हैं। राग (ममत्व) से होने वाला बन्ध राग-बन्ध और द्वेष से होने वाला बन्ध द्वेष-बन्ध कहलाता है। श्री स्थानांग सूत्र में बन्ध के चार प्रकार और भी लिखे हैं। वे ये हैं-१-प्रकृति-बन्ध, २-स्थितिबन्ध, ३—अनुभाग-बन्ध और ४-प्रदेश-बन्ध।

प्रकृतिबन्ध–

मिथ्यात्व और कषाय आदि के कारण आत्मप्रदेशों में जब एक प्रकार की हलचल सी पैदा होती है, तब उस समय कर्म-योग्य परमाणुओं को आत्मा अपनी ओर आकृष्ट कर लेता है, जीव के द्वारा ग्रहण किए हुए इन कर्म-पुद्गलों में जुदे-जुदे स्वभावों का, शक्तियों का उत्पन्न होना प्रकृति-बन्ध कहलाता है, अर्थात्-आत्मप्रदेश जिन परमाणुओं को अपनी ओर आकृष्ट करते हैं, उन परमाणुओं में भिन्न-भिन्न प्रकार के स्वभावों का निर्माण होता है, यह स्वभावनिर्माण ही शास्त्रीय भाषा में प्रकृति-बन्ध माना गया है। प्रकृति-बन्ध का स्वरूप समझाने के लिए जैन साहित्य में मोदक का उदाहरण दिया गया है, जो मोदक सोंठ, पीपल और मिर्च आदि के संयोग से बनाया जाता है, वह मोदक वायुनाशक होता है, इसी प्रकार पित्तनाशक पदार्थों से बना हुआ मोदक पित्त का और कफनाशक पदार्थों से बनाया गया मोदक कफ का विनाश करता है। जैसे मोदक भिन्न-भिन्न स्वभावों, गुणों और शक्तियों वाले होते हैं, वैसे आत्मा से ग्रहण किए हुए कर्म-परमाणुओं में भी नाना-विध स्वभाव और गुण पाए जाते हैं। किन्हीं कर्मपरमाणुओं में आत्मा के ज्ञान को आच्छादित करने की क्षमता

होती है, और किन्हीं में आत्मा के दर्शन (सामान्य बोध या विश्वास)-गुण का घात करने की। इसी प्रकार कोई कर्म-पुद्गल आत्मा के आनन्दगुण का व्याघात करते हैं, उसे हानि पहुंचाते हैं, आत्मा को आर्थिक, पारिवारिक और सामाजिक दृष्टि से दुःखी बना डालते हैं, तथा कोई कर्म-पुद्गल आत्मा की अनन्त शक्ति को लूट कर उसे शक्ति-शून्य सा कर देते हैं। इस तरह भिन्न-भिन्न कर्म-पुद्गलों में भिन्न-भिन्न स्वभावों, प्रकृतियों और शक्तियों का प्रादुर्भाव हो जाता है। शास्त्रीय परिभाषा में कर्म-परमाणुओं के अन्तर्गत ज्ञानादि गुणों को विनष्ट करने का जो स्वभाव बनता है, उसकी रचना या निष्पत्ति होती है, उसे ही प्रकृति-बन्ध के नाम से अभिहित किया जाता है।

२ स्थिति-बन्ध—

जीव जिन पुद्गलों को ग्रहण करता है, उन पुद्गलों में अमुक काल तक अपने स्वभावों को न छोड़ते हुए जीव के साथ रहने की जो काल-मर्यादा होती है उसे स्थिति-बन्ध कहते हैं। कहा जा चुका है कि कर्म-परमाणुओं में भिन्न-भिन्न प्रकार के स्वभाव होते है, कोई कर्म-परमाणु आत्मा के ज्ञानगुण को ढक लेते हैं और कोई परमाणु उसके आनन्दगुण को। किन्हीं कर्मपरमाणुओं में सुख-दुःख देने का स्वभाव होता है, परन्तु कर्मपरमाणुओं के ये सब स्वभाव सदा अवस्थित नहीं रहते, कुछ समय के अनन्तर इन में परिवर्तन आ जाता हैं। जितने समय तक कर्मपरमाणु अपने स्वभाव को नहीं छोड़ते, आत्म-प्रदेशों से सम्बद्ध रहते है, उतने समय की जो कालमर्यादा है, अथवा इस की जो निष्पत्ति या उत्पत्ति है इसी का नाम स्थिति-बन्ध है। इसे समझाने के लिए मोदक का दृष्टान्त दिया जाता है। जैसे कोई मोदक एक सप्ताह तक अपने स्वभाव में अव-स्थित रहता है, कोई एक पक्ष तक और कोई एक मास तक वायुनाशकता, पित्तनाशकता या कफनाशकता रूप अपने स्वभाव में स्थिर रहता है, उसके अनन्तर वे अपने-अपने स्वभाव को छोड़ देते हैं, विकार को प्राप्त कर लेते हैं, उनके स्वभाव में परि-

वर्त्तन आ जाता है। जैसे मोदकों में स्वभाव को लेकर कालमर्यादा पाई जाती है, वैसे अलग-अलग स्वभावों को सम्प्राप्त कर्मपरमाणुओं में भी आत्म-प्रदेशों के साथ रहने की कालमर्यादा उपलब्ध होती है, यही कालमर्यादा स्थिति-बन्ध कही जाती है। अपनी कालमर्यादा पूर्ण कर लेने पर कर्म-परमाणु आत्म-प्रदेशों को छोड़ देते हैं, उन से जुदा हो जाते हैं।

३—अनुभाग—बन्ध—

अनुभाग-बन्ध को अनुभाव-बन्ध और अनुभव-बन्ध भी कहा जाता है। जीव के द्वारा ग्रहण किए गए कर्म-पुद्गलों में फल देने की न्यूनाधिक शक्ति का होना अनुभाग-बन्ध कहलाता है। जीव जिन परमाणुओं को ग्रहण करता है, इन में जो भिन्न-भिन्न स्वभाव बनते है, वे सब एक जैसे नहीं होते, उनमें कोई सामान्य शुभाशुभ फल देता है, कोई विशेष और कोई बहुत विशेष एवं कोई बहुत ही विशेष शुभाशुभ फल देने की क्षमता रखता है। कर्म-परमाणुओं में न्यूनाधिक फल देने की इस शक्ति-विशेष की जो निष्पत्ति है, इसे अनुभाग-बन्ध कहते हैं। अनुभाग-बन्ध के हार्द को मोदक के दृष्टान्त से स्पष्ट समझा जा सकता है। जैसे कोई मोदक रस में अधिक मधुर होना है तो कोई कम। कोई रस में अधिक कटु होता है तो कोई न्यून। जिन मोदकों में अधिक मीठा पड़ा होता है, वे अधिक मीठे होते है और जिन में मीठा कम डाला जाता है, उनमें मिठास कम होता है। ऐसे ही जिन मोदकों में ज्यादा मेथे पड़े होते हैं, वे मोदक ज्यादा कड़वे होते हैं, और जिन मोदकों में मेथों का निक्षेप स्वल्प होता है, उन में कटुता भी स्वल्प होती है। इस तरह जैसे मोदकों में रसों की न्यूनता और अधिकता पाई जाती है, ठीक वैसे ही कर्म-परमाणुओं के फलों में भी न्यूनता एवं अधिकता उपलब्ध होती है। कुछ कर्म-दलिकों में शुभ या अशुभ रस अधिक और कुछ कर्मदलिकों में यह रस स्वल्प मिलता है। इसी प्रकार कर्मपरमाणुओं में तीव्र, तीव्रतर,

तीव्रतम, मन्द, मन्दतर और मन्दतम शुभाशुभ रसों का बन्धना रस-बन्ध है, यही रसबन्ध अनुभाग-बन्ध माना गया है।

४—प्रदेश—बन्ध—

जीव के साथ न्यून और अधिक परमाणु वाले कर्मस्कन्धों का सम्बद्ध होना प्रदेश-बन्ध कहलाता है। जैसे कोई मोदक परिमाण में दो तोले का तो कोई पाँच तोले का और कोई पाव भर का होता है, इसी प्रकार भिन्न-भिन्न कर्मदलों में कर्मपरमाणुओं का न्यूनाधिक होना प्रदेश-बन्ध कहा जाता है।

तत्त्वार्थसूत्र के—+"प्रकृति-स्थित्यनुभाव-प्रदेशास्तद्विधयः।" इस सूत्र की व्याख्या करते हुए मान्य पण्डित श्री सुखलाल जी लिखते हैं कि कर्मपुद्गल जीव द्वारा ग्रहण किये जाने पर कर्मरूप परिणाम को प्राप्त होते हैं, इसका अर्थ इतना ही है कि उसी समय उसमें चार अंशों का निर्माण होता है, वे अंश ही बन्ध के चार प्रकार माने गए हैं। उदाहरणार्थ, जब बकरी, गाय, भैंस आदि द्वारा खाया हुआ घास वगैरह दूध रूप में परिणत होता है, तब उसमें मधुरता का स्वभाव निर्मित होता है, वह स्वभाव अमूक समय तक उसी रूप में टिक सके, ऐसी कालमर्यादा उसमें निर्मित होती है, इस मधुरता में तीव्रता, मन्दता आदि विशेषताएं भी होती हैं और इस दूध का पौद्गलिक परिणाम भी साथ ही बनता है, इसी तरह जीव द्वारा ग्रहण होकर उसके प्रदेशों में संश्लेष को प्राप्त हुए कर्मपुद्गलों में भी चार अंशों का निर्माण होता है। वे अंश ही प्रकृति, स्थिति, अनुभाव और प्रदेश हैं।

१. कर्म-पुद्गलों में ज्ञान को आवरण करने वाले दर्शन को रोकने और सुख-दुःख देने आदि का जो स्वभाव बनता है, वही स्वभाव-निर्माण प्रकृतिबन्ध है। २-स्वभाव बनने के साथ ही उस स्वभाव से अमुक समय तक च्युत न होने की मर्यादा भी पुद्गलों में निर्मित

+अध्याय ८।४

होती है यह काल-मर्यादा का निर्माण ही स्थिति-बन्ध है। ३-स्वभाव-निर्माण के साथ ही उसमें तीव्रता, मन्दता आदि रूप में फलानुभव कराने वाली विशेषताएं बन्धती है, ऐसी विशेषता ही अनुभाव-बन्ध है। ४-ग्रहण किए जाने पर भिन्न-भिन्न स्वभाव में परिणत होने वाली कर्मपुद्गल-राशि स्वभावानुसार अमुक-अमुक परिमाण में बँट जाती है, यह परिमाण-विभाग ही प्रदेशबन्ध कहलाता है।

बन्ध के इन चार प्रकारों में से पहला और अन्तिम ये दोनों योग के आश्रित हैं, क्योंकि योग के तर-तम भाव पर ही प्रकृति और प्रदेश बन्ध का तर-तम-भाव अवलम्बित है, दूसरा और तीसरा प्रकार कषाय के आश्रित है, कारण यह है कि कषाय की तीव्रता, मन्दता पर ही स्थिति और अनुभाव बन्ध की अधिकता या अल्पता अवलंबित है।

इसके अतिरिक्त, यहाँ पर यह बात भी विशेष रूप से समझ लेनी चाहिए कि जीव संख्यात (जिस की गणना की जा सके), असंख्यात (जिस की अङ्कों से गणना न की जा सके) और अनन्त (जिस का अन्त न हो) परमाणुओं से बने हुए कार्माण-स्कन्ध (कर्म-योग्य परमाणु-पुञ्ज) को ग्रहण नहीं करता, परन्तु अनन्तानन्त परमाणु वाले स्कन्ध का ही ग्रहण करता है, ऐसा प्रकृतिसिद्ध नियम है।

कर्म की चार अवस्थाएं—

जीव अच्छे और बुरे संकल्प-विकल्पों के आधार पर जिन कर्म-परमाणुओं को ग्रहण करता है, कर्मग्रन्थों में उनकी चार अवस्थाएं बतलाई गई हैं। जैसे कि-१-बन्ध-मिथ्यात्व, कषाय आदि के निमित्त से ज्ञानावरणीय आदि के रूप में परिणत हो कर कर्मपुद्गलों का आत्म-प्रदेशों से सूर्य और बादलों की भाँति सम्बन्धित हो जाना। २-उदय-उदयकाल (फलदान) का समय आने पर कर्मों का शुभाशुभ फल देना। ३-उदीरणा-अबाधा-काल व्यतीत हो जाने पर भी जो कर्म-

दलिक पीछे से उदय में आने वाले हैं, उन को प्रयत्न विशेष से खींच कर उदय-प्राप्त दलिकों के साथ भोग लेना। बन्धे हुए कर्मों से जितने समय तक आत्मा को बाधा नहीं होती अर्थात् शुभाशुभ फल का वेदन नहीं होता, उतने काल को अबाधा-काल (अनुदयकाल) समझना चाहिए। ४-सत्ता-बन्धे हुए कर्मों का अपने स्वरूप को न छोड़ कर आत्मा के साथ लगे रहना।

कर्म का निकाचित रूप—

कर्म-परमाणुओं के बन्ध अनेक प्रकार के माने जाते हैं, एक कर्म-बन्ध ऐसा होता है, जो सद्-विचारणा से, प्रभु भजन से, सत्संग से और आत्मग्लानि से टूट जाता है। एक कर्म-बन्ध को नष्ट करने के लिए व्रत, बेला आदि तपस्या करने की आवश्यकता होती है। क्योंकि भगवान महावीर के प्रवचनानुसार तप* के आराधन से पूर्व संचित कर्मों का नाश होता है। इसके अतिरिक्त, एक कर्म-बन्ध ऐसा भी होता है जो तपस्या के द्वारा भी कभी क्षीण नहीं हो पाता, ऐसे कर्मबन्ध को निकाचित कर्म-बन्ध कहा जाता है। अर्थात् जिन कर्मों का फल बन्ध के अनुसार नियमित रूप से भोगा ही जाता है, जिन्हें बिना भोगे छुटकारा नहीं होता, वे निकाचित कर्म कहलाते हैं। तपा कर अग्नि से निकाली हुई लोह-शलाकाएं घन से कूटने पर जिस तरह एक-रूप हो जाती हैं उन को पृथक्-पृथक् करना चाहें तो वे पृथक्-पृथक् नहीं हो पातीं, उसी प्रकार जिन कर्मों का आत्मा के साथ ऐसा गाढा सम्बन्ध हो जाता है, जो तपस्या करने पर भी वियोग को प्राप्त नहीं हो पाता, और अपने फल का भुगतान नियमित रूप से कराता है तथा अपना फल दिए बिना जीव को छोड़ता ही नहीं है वह कर्म का निकाचित रूप माना गया है।

कर्मों के आठ भेद—

बन्ध के चार प्रकार होते हैं, यह ऊपर की पंक्तियों में बताया

---

* तवेण वोदाणं जणयइ। उत्तरा० अ० २९।२७

जा चुका है, इन बन्ध-भेदों में पहला भेद प्रकृति-बन्ध है। प्रकृति-बन्ध में कर्मपरमाणुओं में भिन्न-भिन्न स्वभावों की निष्पत्ति-उत्पत्ति होती है, कर्म-परमाणुओं के ये स्वभाव वैसे तो असख्य हैं, गणना में आने वाले नहीं हैं, तथापि कर्म-वाद के मर्मज्ञ जैनाचार्यों ने संक्षेप में उन्हें आठ भागों में विभक्त कर दिया है, ये आठ विभाग ही कर्मो की आठ मूल प्रकृतियाँ कही जाती है । इन्हीं आठ प्रकृतियों को **१-ज्ञानावरणीय कर्म, २-दर्शनावरणीय कर्म, ३-वेदनीय कर्म, ४-मोहनीय कर्म, ५-आयुष्कर्म, ६-नाम कर्म, ७-गोत्र कर्म और ८-अन्तरायकर्म,** इन अभिधानों से अभिहित किया जाता है। इनका संक्षिप्त भावार्थ इस प्रकार है—

१-ज्ञानावरणीय कर्म—

पदार्थों के विशेष बोध का नाम ज्ञान है। ज्ञान आत्मा का एक गुण होता है। इस के द्वारा जीवात्मा विश्व के घट और पट आदि पदार्थों को जानता है और उस के स्वरूप को समझता है। आत्मा के इस ज्ञान-गुण को जो कर्म-परमाणु ढक लेते हैं, उसे आच्छादित कर लेते है उसे ज्ञानावरणीय कर्म कहते है । जिस प्रकार आँखों पर पट्टी बान्धने या लपेटने से वस्तुओ को जानने और देखने में रुकावट पड जाती है, उसी प्रकार ज्ञानावरणीय कर्म के प्रभाव से आत्मा को पदार्थ-ज्ञान प्राप्त करने में रुकावट पड़ती है। अथवा जैसे बादल सूर्य को ढक लेते है, सूर्य-ज्योति पर परदा बन कर छा जाते हैं, वैसे ज्ञानावरणीयकर्म-मेघ आत्मा के ज्ञान-सूर्य को ढाँप लेता है, ज्ञानज्योति पर बुर्का बन कर उसे तिरोहित कर देता है । इस कर्म का जघन्य (कम से कम) ठहराव (स्थिति) अन्तर्मुहूर्त्त और उत्कृष्ट (अधिक से अधिक) ठहराव तीस कोटाकोटि सागरोपम माना गया है। अन्तर्मुहूर्त्त का अर्थ है-कुछ कम ४८ मिण्ट। दो घड़ी (४८ मिण्टों) को मुहूर्त्त कहते है, उससे कुछ न्यून काल का नाम अन्तर्मुहूर्त्त होता है।

एक मिण्ट से लेकर ४७ मिण्ट तक जो भी काल है उसे अन्तर्मुहूर्त कहा जा सकता है।

सागरोपम किसे कहते हैं? यह जान लेना भी आवश्यक है। पदार्थों के बदलने में जो निमित्त बनता है, वह, अथवा समय (अत्यधिक सूक्ष्म काल, जिसके दो विभाग न हो सकें) के समूह का नाम काल है। इसकी दो उपमाएं होती हैं-१-पल्योपम और २-सागरोपम। पल्य-कूप को उपमा मे गिना जाने वाला काल पल्योपम और सागर की उपमा से जिस काल की गणना हो वह काल सागरोपम कहलाता है। कल्पना करो, चार कोस का लम्बा, चौड़ा और गहरा एक कुआँ है, उसमें सूर्य की किरणों जैसे सूक्ष्म केशखण्ड भर दिए गए हैं वे वे इतने ठसाठस भर दिये गये हैं कि ६ खण्ड के नाथ चक्रवर्ती की विशाल सेना भी ऊपर से गुजर जाए तथापि वे केशखण्ड दबने नहीं पाते। ऐसे कूप में से सौ-सौ वर्षों के अनन्तर एक-एक केशखण्ड निकाला जाए और इसी पद्धति से केशखण्ड निकालते-निकालते एक-एक दिन वह कूप खाली हो जाता है। इस तरह जितने काल में वह कूप केशखण्डों से बिल्कुल खाली होता है, उतने काल को एक पल्योपम कहते हैं, ऐसे दस कोटाकोटि (वह संख्या जो करोड़ को करोड़ मे गुना करने पर बनती है) कूप जितने काल में खाली हो जाएं, उतना काल एक सागरोपम कहलाता है। शास्त्रीय मान्यता के अनुसार ज्ञाना-वरणीय कर्म की स्थिति अधिक से अधिक तीस कोटाकोटि सागरोपम होती है इतने लम्बे काल तक ज्ञानावरणीय कर्म के परमाणु आत्मा की ज्ञान-ज्योति को आच्छादित किए रखते हैं, उसे प्रकट नहीं होने देते।

यहाँ यह जान लेना भी अत्यावश्यक है कि ज्ञानावरणीय कर्म आत्मा को ज्ञान-शून्य नहीं बना सकता। यह सत्य है कि ज्ञानावरणीय कर्म आत्मा की ज्ञान-ज्योति को आच्छादित कर देता है, परन्तु यह कर्म आत्मा को आमूलचूल ज्ञान से शून्य बनाकर जड़ नहीं बना सकता, मूल-रूप से आत्मा की ज्ञान-ज्योति सदा सुरक्षित रहती है, उसका मूलरूप से

विनाश नहीं होने पाता। जैसे काली-काली बदलियों में सूर्य के सर्वथा ढक जाने पर भी मूलरूप से उसका प्रकाश समाप्त नहीं होने पाता, दिन और रात का भेद अवश्य बना रहता है, सूर्य के मेघाच्छन्न हो जाने पर भी दिन रात्रि का रूप नहीं ले सकता, इसी प्रकार ज्ञानावरणीय कर्म के कृष्णतम मेघ, आत्मा की ज्योति को जितना चाहें ढकलें, उस पर छा जाएं, अबोध जैसी उस की दशा बना डाले तथापि उस का ज्ञान मूलरूप से अवश्य अवस्थित रहता है, वह चेतन से जड़ नहीं हो पाता। क्योंकि श्री स्थानाङ्ग सूत्र+ के अनुसार ६ बोल करने में कोई समर्थ नहीं हैं। जैसेकि १—जीव को अजीव बनाने में कोई समर्थ नहीं है। जीव मनुष्यादि गतियों में भले ही अनन्त काल तक जन्म-मरण करता रहे, परन्तु उस का जीवत्व कभी समाप्त नहीं होता, जीव, जीव ही रहता है, अजीव या जड नहीं हो सकता। २-अजीव को कोई जीव नहीं बना सकता, चेतना के सम्पर्क से अजीव चाहे कितना भी जीव के तुल्य प्रतीत होने लगे। तथापि उस का अजीवत्व सदा कायम रहता है, वह जीव या चेतनामय नहीं बन सकता। ३-जीव एक समय में दो भाषाओं को नहीं बोल सकता। एक साथ सत्य और असत्य ये दोनों भाषाएं प्रयोग में नहीं लाई जा सकतीं। जब सत्य भाषा का प्रयोग होता है, उस समय असत्य भाषा का प्रयोग नहीं हो सकता और जब असत्य भाषा बोली जाती है तब उस समय सत्य भाषा का बोलना असभव है। ४-कृत कर्मों का फल अपनी इच्छानुसार भोगने में कोई स्वतन्त्र नहीं है। व्यक्ति चाहे कि मुझे सुख ही सुख मिले, दुःख के कभी दर्शन न हों, या पहले शुभ कर्मों का उपभोग करलूं बाद में अशुभ कर्मों का भुगतान कर लिया जाएगा. या पहले अशुभ-कर्मों से निवृत्त हो जाऊं, तदनन्तर मस्ती के साथ शुभ कर्मों का फल भोग लिया जाएगा, यह बात कभी हो नही सकती. कर्मों का फल जीव की इच्छानुसार नही होता, जिस कर्म का जिस समय

+स्थानांग ६, उद्दे० ३, सू० ४७९

उदय होना है, उस समय ही उसका भुगतान होता है, यहाँ हेराफेरी का कोई काम नहीं है । ५-परमाणु-पुद्गल को काटने या जलाने में कोई समर्थ नहीं है । पमाणु का अर्थ है-स्कन्ध या देश से अलग हुआ पुद्गल का अति सूक्ष्म निरंश भाग। इससे स्पष्ट है कि जिस के टुकड़े हो जाएं वह द्रव्य परमाणु नहीं होता। इसलिए सूत्रकार फरमाते हैं कि परमाणु को कोई काट नहीं सकता, इस के खण्ड नहीं हो सकते और इसे कभी अग्नि जला नहीं सकती। वास्तव में, परमाणु वह द्रव्य है जिसे खण्डित न किया जा सके, सुखाया या जलाया न जा सके। ६-लोक से बाहिर जाने में कोई समर्थ नहीं है । सिद्धान्त कहता है कि द्रव्यों की गति और स्थिति में धर्मास्तिकाय और अधर्मास्तिकाय ये दो द्रव्य कारण हैं। धर्मास्तिकाय द्रव्यों की गति में और अधर्मास्तिकाय उनकी स्थिति में निमित्त बनता है, परन्तु लोक से बाहिर अलोकाकाश में इन द्रव्यों का सर्वथा अभाव होता है, अत: गति और स्थिति का कोई साधन न होने से कोई जीव अलोक में जाने में समर्थ नहीं है ।

ऊपर की पंक्तियों में ६ बोलों की जो चर्चा की गई है, उस का इतना ही उद्देश्य है कि जीव कभी अजीव नहीं बन सकता। परिणाम-स्वरूप ज्ञानावरणीय कर्म कितना भी प्रगाढ हो जाए, कितना भी आत्मप्रदेशों को आवृत कर ले परन्तु उसके रहते हुए भी आत्मा में ज्ञान का अस्तित्व अवश्य बना रहता है, वह जड़ पदार्थों के अन्तर्गत नहीं माना जा सकता। इसके अतिरिक्त, यहाँ एक प्रश्न उपस्थित होता है कि ज्ञानावरणीय कर्म आत्मप्रदेशों को आच्छादित कर देने के साथ ही अपना फल देना आरम्भ कर देता है या कुछ समय तक आत्मप्रदेशों से सम्बद्ध रहने पर भी फलोन्मुख नहीं होता ? इस प्रश्न का समाधान करते हुए जैनाचार्य फरमाते हैं कि ज्ञानावरणीय कर्म का अबाधाकाल तीन हज़ार वर्ष का माना गया है। अर्थात्-यह कर्म तीन हज़ार वर्ष तक फलोन्मुख नहीं हो पाता। इसके अनन्तर यह कर्म अपना फल देना आरंभ कर देता है। अबाधाकाल

का शाब्दिक अर्थ है-बाधा न पहुँचाने वाला काल। कर्म के बन्ध-काल लेकर उस कर्म के उदय आने तक, जो मध्यकाल है, अर्थात्-अनुदयकाल है, उसे अबाधा-काल कहते है

२—दर्शनावरणीय कर्म—

दर्शन शब्द अनेकार्थक होता है। दर्शन- सिद्धान्त, विश्वास और देखने का नाम भी है, परन्तु प्रस्तुत में दर्शन शब्द सामान्य बोध का सूचक है। कई बार मनुष्य को वस्तु का विशेष बोध होता है, और कई बार उस बोध की स्थिति सामान्य सी होती है। ज्ञान की इसी सामान्य अवस्था को दर्शन कहते हैं। जो कर्म आत्मा की दर्शन-शक्ति को ढक लेता है, उस पर परदा डाल देता है, वह दर्शनावरणीय कर्म कहलाता है। इस कर्म को द्वारपाल (दरबान) के समान कहा गया है। जिस प्रकार द्वारपाल द्वार पर पहरा दे रहा होता है तो वह प्रत्येक व्यक्ति को बिना आज्ञा के राजदरबार में प्रविष्ट नहीं होने देता। जैसे द्वारपाल राजा के दर्शन करने में बाधा डालता है, ठीक वैसे ही दर्शनावरणीय कर्म पदार्थों के सामान्य बोध में रुकावट बन जाता है। यह कर्म जहाँ सामान्य बोध की प्राप्ति में बाधक बनता है, वहाँ इस कर्म के प्रभाव से प्राणियों को निद्रा आती है, जीव सो जाते हैं, ऊंघते हैं, सोना, ऊंघना, यह सब कार्य इसी कर्म के प्रभाव से होते हैं। दर्शनावरणीय कर्म की जघन्य स्थिति अन्तर्मुहूर्त्त की और उत्कृष्ट स्थिति तीस कोटाकोटी सागरोपम की मानी गई है। इस कर्म का अबाधाकाल (फलोन्मुख न होने का काल) ज्ञानावरणीय कर्म की तरह तीन हजार वर्ष का समझना चाहिए। यह कर्म भी आत्मा की दर्शन-शक्ति को केवल आच्छादित ही करता है, उसे समाप्त नहीं कर सकता।

३-वेदयनीकर्म—

जिस कर्म के प्रभाव से सुख औरदुःख की अनुभूति होती है, उसे वेदनीय कर्म कहते हैं। वह अनुभूति जो तन और मन को भाए,

अनुकूल लगे उसे सुख कहते हैं। हृदय की कामना जब पूर्णता की ओर बढ़ती है, तब व्यक्ति को एक आनन्दमय अनुभूति होती है, उस से चैन पड़ती है, यह चैन ही सुख समझना चाहिए। वह अनुभूति जो हृदय को प्रिय न लगे, कष्टजनक या क्लेश-जनक हो, उसे दुःख कहते हैं। जब मनुष्य-जीवन में इच्छा की पूर्ति नहीं होती, चारों ओर से ठोकरें खानी पड़ती हैं, तब मनुष्य के हृदय में निराशा एवं हताशा उत्पन्न होती है, और यह निराशा एक प्रकार की वेदना को जागृत करती है, यह वेदना ही दुःख है। सुख और दुःख इन दोनों का जो अनुभव होता है, इस का कारण वेदनीय कर्म माना गया है। वेदनीय शब्द का अर्थ वेदन के योग्य, जो वेदा जाए, अनुभव किया जाए, ऐसा भी होता है, परन्तु प्रस्तुत में यह अर्थ अभीष्ट नहीं है। यहां तो यह एक पारिभाषिक शब्द है। प्रस्तुत में यह साता-सुख और असाता-दुःख का अनुभव कराने वाले कर्म-विशेष के अर्थ ही में रूढ़ समझना चाहिये। इसलिए वेदनीय शब्द अन्य किसी कर्म का बोधक नहीं है। इस कर्म के **१—सातावेदनीय और २—असातावेदनीय** ये दो भेद होते हैं। सुख का अनुभव कराने वाला कर्म सातावेदनीय और दुःख का अनुभव कराने वाला असातावेदनीय कर्म कहलाता है। यह कर्म मधु से भरी हुई तलवार की धार को चाटने के समान माना गया है। मधुलिप्त तलवार की धार को चाटने से मिठासरूप सुख और जिह्वा के कट जाने से व्रणरूप दुःख इन दोनों की प्राप्ति होती है। भाव यह है कि वेदनीय कर्म जीवन में कभी सुख लाता है, और कभी दुःख। अनुकूल और प्रतिकूल घड़ियों के दर्शन इसी कर्म के प्रताप से होते हैं। इस की जघन्य स्थिति अन्तर्मुहूर्त्त की और उत्कृष्ट स्थिति तीस कोटाकोटी सागरोपम की होती है। ज्ञानावरणीय कर्म की भाँति वेदनीय कर्म का अबाधाकाल भी तीन हज़ार वर्ष का माना गया है।

४—मोहनीयकर्म—

जो कर्म आत्मा को मोहित करता है, हित और अहित, हानि या लाभ के विवेक से जीव को शून्य बना देता है, उसे मोहनीय कर्म कहते हैं। कई बार यह जीव इतना बेभान हो जाता है, कि पागलों की सी स्थिति अपना लेता है, उसे यह भी बोध नहीं रहता, कि यह कार्य मेरे जीवन का पतन कर रहा है, इस से मेरा भविष्य अन्धकारपूर्ण बन रहा है। यदि कोई इसे समझाने का प्रयत्न करता है, इसे हिताहित की बात कहता है तो यह उसे सुनने को तैयार नहीं होता, यदि कोई ज़बर्दस्ती सुनाने का यत्न करता है तो फिर भी यह एक कान से सुन कर दूसरे कान से उसे निकाल देता है। समझाने वाले को अपना शत्रु समझता है। यह सब मोहनीय कर्म का ही चक्र होता है, इसी के कारण जीव हित को हित नहीं समझता और अहित को अहित नहीं मानता। मोहनीय कर्म सम्यक्त्व (सत्य विश्वास) और सम्यक् चारित्र का घातक होता है। इस कर्म को मदिरा के समान माना गया है। जैसे मदिरासेवी व्यक्ति मदिरा का पान करके अपने हानि-लाभ के विवेक को खो बैठता है, तथा पर-वश होता है, अपने आप की उसे कोई सुधबुध नहीं रहती, ठीक उसी प्रकार मोहनीय कर्म के प्रभाव से यह जीव सत्य और असत्य का विवेक खो बैठता है, कामना और वासना का दास बन जाता है। इस कर्म के **दर्शनमोहनीय और चारित्रमोहनीय** ये दो भेद होते हैं। दर्शन-मोहनीय दर्शन-सच्चे विश्वास, और चारित्रमोहनीय चारित्र का अपघात कर देता है। देखा गया है कि हज़ारों वर्षों की साधना करने वाले सन्त जन, अन्न-जल का परित्याग करके केवल वायु के सहारे जीवन यापन करने वाले तपस्विजन भी समय आने पर जो वासना देवी के दास बन जाते हैं, नारी-जीवन के हावभाव में उलझ कर अपने जीवन की दिशा ही बदल देते हैं, हाथी पर बैठे हुए गधे की सवारी करने को तैयार हो जाते हैं, यह सब मोहनीय कर्म के भीषण

प्रहारों का ही कटु परिणाम होता है । अतएव मोहनीय कर्म सब कर्मों से प्रबल और शक्तिशाली माना जाता है । यह कर्मसैनिकों का सेनापति है, इस के हाथ बड़े लम्बे होते हैं, यह बड़ी दूर से मार करता है । इस का मारा हुआ व्यक्ति न इधर का रहता है और न उधर का । वह लोक और परलोक दोनों ही खो बैठता है । इस की जघन्य स्थिति अन्तर्मुहूर्त्त की और उत्कृष्ट स्थिति सत्तर कोटाकोटि सागरोपम की होती है । आठों कर्मों में इस कर्म की स्थिति सब से अधिक मानी गई है । इस का अबाधाकाल सात हजार वर्षों का होता है ।

५—आयुष्कर्म—

जिस कर्म के रहते प्राणी जीवित रहता है, तथा जिस कर्म की समाप्ति हो जाने पर यह प्राणी मर जाता है, मृत्यु की गोद में सो जाता है, उस कर्म को आयुष्कर्म कहते हैं । अथवा जिस कर्म के प्रभाव से यह जीव एक गति से दूसरी गति को प्राप्त करता है वह कर्म आयुष्कर्म है । अथवा स्वकृत कर्म के अनुसार प्राप्त हुई नरक और तिर्यञ्च आदि गतियों से निकलना चाहते हुए भी इस जीव को जो कर्म उसी गति में रोके रखता है, उसे निकलने नहीं देता उसे आयुष्कर्म कहते हैं । अथवा जो कर्म प्रतिक्षण भोगा जाए अथवा जिस कर्म के उदय में आने पर भवविशेष में भोगने योग्य ज्ञानावरणीय आदि समस्त कर्म अपना फल देने लगते हैं, उस कर्म को आयुष्कर्म कहा जाता है । यह कर्म कारागार (जेल) के समान माना गया है । जिस प्रकार राज्य अधिकारियों की आज्ञा से कारागार में डाला हुआ मनुष्य चाहते हुए भी नियत अवधिपूर्ण हुए बिना वहां से निकल नहीं पाता ठीक उसी प्रकार आयुष्कर्म के कारण यह जीव नियत समय तक औदारिक आदि अपने शरीर में बन्धा रहता है, अवधि पूर्ण होने पर ही वह शरीर को छोड़ सकता है, उस से पहले नहीं । आयुष्कर्म के- १-नरकायु, २-तिर्यञ्चायु, ३-मनुष्यायु, और ४-देवायु-ये चार

भेद होते हैं। नरकगति के जीवों का जो आयुष्कर्म है, वह नरकायुष्कर्म कहलाता है, इसी प्रकार तिर्यञ्च-गति के जीवों के आयुष्कर्म को तिर्यञ्चायुष्कर्म, मनुष्यगति के जीवो के आयुष्कर्म को मनुष्यायुष्कर्म और देवगति के जीवो के आयुष्कर्म को देवायुष्कर्म कहते है। नरकगति और देव गति के जीवो की जघन्य आयु दस हजार वर्ष और उत्कृष्ट आयु तेतीस सागरोपम की होती है। तिर्यञ्च तथा मनुष्य गति के जीवो की आयु जघन्य अन्तर्मुहूर्त्त और उत्कृष्ट तीन पल्योपम की मानी गई है। इसके अतिरिक्त, यह भी समझ लेना चाहिये कि आयुष्कर्म का अबाधाकाल नही होता क्योंकि जीव जब तक जीवित रहता है, तब तक तो वह वर्तमान-कालिक आयुष्कर्म का उपभोग करता ही है, परन्तु जब जीव इस भव को छोड कर दूसरे भव मे जाता है तो दूसरे भव मे जाने के साथ ही वह आगामी भव के आयुष्कर्म को उदयाभिमुख कर लेता है। इस तरह दोनों स्थितियो मे आयुष्कर्म का उदय चलता ही रहता है, ससारी जीव के जीवन मे ऐसी कोई घडी नही रहती, जब यह आयुष्कर्म के परमाणुओ से असम्बन्धित रहे या उनके फल का उपभोग न करे, अर्थात् आयुष्कर्म का उदय सदेव बना रहता है, इसका अनुदयकाल होता ही नही है। परिणामस्वरूप आयुष्कर्म का अबाधा-काल नही माना जाता।

६--नामकर्म--

जिस कर्म के उदय से जीव नारक, तिर्यञ्च, मनुष्य और देव इन नामो से पुकारा जाता है उसे नामकर्म कहते है। नामकर्म के कारण ही जीव को, यह नारकीय है, यह तिर्यञ्च-पशु है, यह मनुष्य है, और यह देव है, इस प्रकार पुकारा जाता है। अथवा जो कर्म जीव को विचित्र पर्यायो मे परिणत करता है, अथवा जो कर्म जीव को नरकगति आदि पर्यायों-अवस्थाओ का अनुभव करने के लिए उन्मुख करता है, उसे नामकर्म कहते है। नामकर्म चित्रकार

के समान माना गया है। चित्रकार जैसे अनेक वर्णों के अनेकविध सुन्दर तथा असुन्दर चित्र बनाता है उसी प्रकार यह कर्म भी जीव को नारक आदि अनेक-विध आकृतियों में ले आता है। जीव की अच्छी और बुरी, प्रशस्त और अप्रेशस्त, अनुकूल और प्रतिकूल, आदरणीय और अनादरणीय, आदेय और अनादेय आदि जितनी भी अवस्थाएं है इन सब का निर्माता या जनक नामकर्म ही है। एक व्यक्ति की आकृति वड़ी सुन्दर होती है. उसे देखते ही सुखविपाक-सूत्र के सेठ सुबाहुकुमार की याद ताज़ा हो जाती है, इसके विपरीत एक व्यक्ति इतनी खराब आकृति वाला होता है कि उसे कोई देखना भी पसन्द नहीं करता। वैदिक संसार के जाने-माने ऋषिवर अष्टा-वक्र और जैनजगत के प्रसिद्ध मुनिराज चाण्डालपुत्र हरिकेशिबल जी महाराज की आकृति-गत वक्रता को कौन नहीं जानता? आकृति-गत यह विभिन्नता नामकर्म के कारण ही जगत के सामने आती है। इसी प्रकार किसी व्यक्ति की रसना में बड़ा मिठास होता है, जब वह बोलता है, मानों फूलों की वर्षा होती है, व्यस्तता अपने यौवन पर हो तथापि जनता दूर-दूर से उस के वाणीविलास का आनन्द लूटने भागी चली आती है, इस के विपरित एक व्यक्ति जब बोलने लगता है, तो उसकी ओर कोई ध्यान नहीं देता, भले ही वह शास्त्रों के रहस्यों को साकार रूप दे डालता हो, आत्मा, परमात्मा, पुण्य, पाप और कर्मसिद्धान्त की व्याख्या बड़ी प्राञ्जल भाषा में प्रकड करता हो, सभी शास्त्रों के ठोस प्रमाण उपस्थित करता हो, परन्तु उसे कोई सुनना पसन्द नही करता, जनता उठना आरम्भ कर देती है, सब के हृदयों में एक ही विचारणा चलती है कि यह कब बोलना बन्द करता है? इस तरह एक व्यक्ति के भाषण में जनता को रस आता है, और दूसरे के भाषण में सर्वथा नीरसता ही नीरसता ही रहती है। यह सब भी नामकर्म का ही चक्र समझा जाना चाहिए। नामकर्म का क्षेत्र अन्य सब कर्मों के क्षेत्र में बड़ा माना जाता है। नामकर्म की जघन्य स्थिति अन्तर्मुहूर्त की और उत्कृष्ट स्थिति २०

कोटाकोटि सागरोपम की होती है। इस का अबाधाकाल-अनुदयकाल दो हज़ार वर्षों का होता है।

७-गोत्र कर्म —

कोषकारों के मत में गोत्र शब्द कुल, वंश, गोत्रप्रवर्तक माने हुए ऋषियों की सन्तान-परंपरा, आदि-पुरुष के नाम से प्राप्त वंश-संज्ञा, समूह, संघ, वृद्धि आदि अर्थों का परिचायक माना जाता है, परन्तु प्रस्तुत में यह एक पारिभाषिक (अर्थ-विशेष का बोधक) पद है। जिस कर्म के उदय से जीव उच्च और नीच शब्दों से कहा जाता है, उसे गोत्र-कर्म कहते हैं। इसी गोत्र-कर्म के प्रभाव से जीव जाति और कुल आदि की अपेक्षा बड़ा और छोटा समझा जाता है। जाति का अर्थ है-मातृपक्ष, माता का वंश और कुल पिता के वंश को कहते हैं। माता का वंश आचार, विचार की दृष्टि से उच्च भी हो सकता है और नीच भी, यही स्थिति पिता के वंश की समझनी चाहिये। जाति की उच्चता और नीचता-हल्कापन, तथा कुल की साधारणता और असाधारणता गोत्र-कर्म के प्रभाव से उपलब्ध होती है। गोत्र-कर्म के स्वरूप को समझाने के लिए कुम्हार का दृष्टान्त दिया जाता है। जैसे कुम्हार जिन घड़ों का निर्माण करता है उनमें कई घड़े बड़े सुन्दर होने से आदरास्पद माने जाते हैं, कुछ घड़ों को "कलश" के रूप में रख कर लोग अक्षत, चन्दन आदि से उन की पूजा करते हैं, इस के विपरीत, कई घड़े ऐसे होते हैं, जो बनावट की खराबी के कारण घृणास्पद माने जाते हैं, लोग मदिरादि घृणित पदार्थों के लिए उन का प्रयोग करते हैं। कुम्हार की भाँति गोत्र-कर्म भी जीवन-घट में उच्चता और नीचता लाकर उसे उच्च और नीच बना देता है। देखा गया है कि एक व्यक्ति धन और ज्ञान आदि की दृष्टि से हीन होता है, उसके पास न चान्दी सोने के सिक्के होते हैं, और नाँही उस के पास विद्या की दौलत होती है, तथापि वह लोगों में आदरास्पद माना जाता है। इसके विपरीत, एक व्यक्ति आर्थिक

दृष्टि से बड़ा सम्पत्ति-शाली है बड़ी-बड़ी कोठियों और हवेलियों का मालिक है, कारों में भ्रमण करता है। यह व्यक्ति देखने-पाखने में भी सुन्दर है, इसकी जबान में बड़ा मिठास है, किन्तु जनता में उस के लिए कोई आदर की भावना नही पाई जाती। लोग उस को अनादर की दृष्टि से देखते हैं। प्रात: समय यदि यह दिखाई पड़ जाए तो लोग अपशकुन समझते है, व्यक्ति के जीवन में सम्मान के साधन न होने पर जो सम्मान प्राप्त होता है, तथा सम्मान की सामग्री को पूर्ण सुविधा रहने पर भी जो अपमान के प्याले पीने पड़ते हैं, यह सब गोत्रकर्म का ही प्रभाव समझा जाना चाहिए। गोत्रकर्म उच्च और नीच इन भेदों से दो प्रकार का होता है। उच्च गोत्रकर्म उच्चता का और नीच गोत्रकर्म नीचता का कारण बनता है। गोत्रकर्म की जघन्य स्थिति आठ मुहूर्त्त की और उत्कृष्ट स्थिति बीस कोटाकोटि सागरोपम की होती है। इस कर्म का अबाधाकाल दो हजार वर्ष का होता है।

८—अन्तराय कर्म—

अन्तराय विघ्न या बाधा का नाम है। जो कर्म जीवन में विघ्न पैदा करता है, बनते हुए काम को बिगाड देता है, उसे अन्तराय कर्म कहते है। यह कर्म-**१-दानान्तराय, २-लाभान्तराय, ३-भोगान्तराय, ४-उपभोगान्तराय** और **५-वीर्यान्तराय,** इन भेदो से पाच प्रकार का होता है। दानान्तराय कर्म दान में रुकावट पैदा करता है। लाभान्तराय कर्म से लाभ होता हुआ रुक जाता है। भोगान्तराय कर्म भोग्य पदार्थो के सेवन और उपभोगान्तराय कर्म उपयोग्य पदार्थों के सेवन में विघ्न उपस्थित करता है। भोग शब्द फल, जल और भोजन आदि उन पदार्थों का परिचायक है, जिनका केवल एक बार ही प्रयोग किया जाता है और उपभोग शब्द वस्त्र, आभूषण और मकान आदि उन पदार्थो का बोधक है, जिन को जीवन में अनेकों बार उपयोग में लाया जाता है। तथा वीर्यान्तराय कर्म वीर्य-शक्ति का ह्रास करता है, उसकी उपलब्धि में

बाधक बन जाता है। अन्तराय कर्म के कारण ही चाहता हुआ भी मनुष्य दान नही दे सकता, आमदनी का अवसर प्राप्त होने पर भी उसे खाली ही रहना पड़ता है खाने-पीने, पहनने-ओढने को पूर्ण सामग्री अवस्थित होने पर भी उससे वह लाभ नही उठा पाता तथा शक्ति-सम्वर्धक सामग्री का संयोग मिलने पर भी उसे शक्ति की प्राप्ति नहीं होती। अन्तराय कर्म को दुष्ट कोषाध्यक्ष (भण्डारी) के समान माना गया है, राजा की आज्ञा होने पर भी कोषाध्यक्ष के प्रतिकूल होने के कारण जैसे याचक को धन की प्राप्ति में बाधा पड़ जाती है, वैसे यह अन्तराय कर्म आत्मा-रूप राजा की दानादि की इच्छा होते हुए भी ऐसा विघ्न उपस्थित कर देता है कि उसकी इच्छा मूर्त्तरूप नहीं ले पाती, इच्छा, इच्छा के रूप में ही रह जाती है। दाता दान देना चाहता है, भिखारी लेना चाहता है, वस्तु भी उपस्थित है, परन्तु अन्तराय कर्म की कृपा से ऐसा वातावरण बन जाता है कि दाता दान कर नहीं सकता, भिखारी दान ले नहीं पाता। अन्तराय कर्म की जघन्य स्थिति अन्तर्मुहूर्त्त और उत्कृष्ट स्थिति तीस कोटाकोटि सागरोपम की होती है, इसका अबाधाकाल तीन हज़ार वर्षों का माना गया हैं।

ऊपर की पंक्तियों में ज्ञानावरणीय आदि आठ कर्मों के स्वरूप का संक्षेप में परिचय कराया गया है। यह कर्मों का सैद्धान्तिक रूप है, परन्तु यही कर्म जब जीवन में साकार रूप अंगीकार कर लेते हैं, तब ये कहानी या जीवनी के रूप में हमारे सामने आते हैं। संसार उस जीवनी को कभी मर्यादा-पुरुषोत्तम भगवान राम के रूप में देखता है, कभी यह ससार उस कहानी को योगिराज भगवान कृष्ण, अहिंसा और सत्य के अमरदूत मङ्गलमूर्ति भगवान महावीर और बौद्धमत के संस्थापक महात्मा बुद्ध आदि महापुरुषों के रूप में सुनता है और कभी कर्मों की इस कहानी को लंका के अधिपति रावण, अभिमान की जीती जागती मूर्ति कुरुनरेश दुर्योधन, और अपनी ही बहिन के बच्चों का वध करने वाले राजा कंस आदि के रूप में भी सुनता है। जहाँ तक

विचारक और दूरदर्शी मनुष्य का सम्बन्ध है, वह कर्मों की वास्तविकता को समझ करके उन बुरे कर्मों से सदा बचता रहता है, जो उस का परलोक बिगाडते हैं, उसके समुज्ज्वल भविष्य को अन्धकारमय बना डालते हैं। हानि और लाभ का विवेक रखने वाला मनुष्य सदा ऐसे कार्य करने का प्रयास करता है जो ज्योति बनकर उस के जीवन को ज्योतित कर दें। परिणाम-स्वरूप कर्मवाद के सन्देश का अमृत घर-घर बांटने वाले जैनाचार्यों का फरमान है कि मनुष्य को सबसे पहले कर्मवाद की रूपरेखा समझनी चाहिए। तदनन्तर अशुभ कर्मों से उसे बचना चाहिए और शुभ कर्मों के उपार्जन में ही जीवन की समस्त शक्तियों का प्रयोग करना चाहिए, ताकि आने वाली पीढ़ियां सत्यता के प्रकाश-स्तंभ के रूप में उसे देख सकें।

इस विश्व में जितने भी मनुष्य हैं, पशु हैं, पक्षी हैं, सिंह आदि हिंसक जन्तु हैं, और इन के जीवनों में जितने भी आचरण और क्रियाकलाप दिखाई देते हैं, तथा इनकी जीवनियों में सुख-दुःख का जितना भी चक्र चलता है, इस के पीछे कर्म की शक्ति ही काम कर रही है, और ये सब दृश्य कर्म के ही व्यावहारिक चित्र होते हैं। जैनाचार्यों ने यही कर्म ज्ञानावरणीय आदि भेदों से आठ प्रकार के बतलाए हैं, इन्हीं का संक्षेप में वर्णन ऊपर की पंक्तियों में किया गया है।

कर्म के दो-दो भेद--

वैसे तो कर्म के मूल भेद आठ होते हैं, किन्तु अपेक्षावाद या दृष्टिवाद को आगे रख कर जैनाचार्यों ने कर्म के दो-दो भेद और भी कर दिए हैं। कर्मों के ये दो-दो भेद इस प्रकार हैं—

१-घाती कर्म--

जो कर्म आत्मा के ज्ञान और दर्शन आदि स्वाभाविक गुणों का घात करते हैं, उन्हें हानि पहुँचाते हैं, उन पर परदा बनकर छा जाते हैं, उनको घाती कर्म या घातक कर्म कहते हैं। ज्ञानावरणीय, दर्शनावरणीय, मोहनीय और अन्तराय ये चार घातक कर्म कहलाते हैं।

ज्ञानावरणीय कर्म आत्मा के ज्ञान-गुण को हानि पहुँचाता है, जैसे मेघ सूर्य को आच्छादित करके उसकी ज्योति को आवृत कर लेते हैं, ऐसे ही ज्ञानावरणीय-कर्म के कृष्णतम मेघ आत्मा की ज्ञान-ज्योति को ढक लेते हैं। अनन्त ज्ञान का धनी होकर भी आत्मा इसी के प्रभाव से बुद्धू के समान बनता है। दर्शनावरणीय कर्म सामान्य बोध का घातक बन कर आत्मा को पदार्थों का सामान्य बोध भी अच्छी तरह नहीं होने देता। मोहनीय आत्मा को मोहित बनाए रखता है, जो मनुष्य भगवान का प्रतिनिधि माना जाता है, मोहनीय कर्म इसी मनुष्य को पशु-तुल्य बना के रख देता है। क्रोध, मान, माया और लोभ की चाण्डाल चौकड़ी इसी कर्म की कृपा से फलती-फूलती है तथा अन्तराय कर्म दानादि कार्यों में रुकावट डालता है, बनते हुए कार्य को भी बिगाड़ देता है, इस के कारण बना-बनाया खेल खराब हो जाता है। इस तरह ज्ञानावरणीय आदि चारों कर्म आत्मिक गुणों का घात करते हैं, फलतः इन्हें घातीकर्म कहा जाता है। जब तक घातक कर्मों का यह जीव नाश नहीं कर लेता, तब तक जीव को न केवल-ज्ञान होता है और नाँ-ही यह जीव मोक्ष-मन्दिर में प्रवेश कर सकता है, मोक्ष के महामन्दिर में जाने के लिए सर्वप्रथम केवल-ज्ञान की आवश्यकता है और केवल-ज्ञान की उपलब्धि के लिए इन घाती कर्मों का विनष्ट होना बहुत ज़रूरी है।

२—अघाती कर्म--

जो कर्म आत्मा के ज्ञान आदि स्वाभाविक गुणों का घात या ह्रास नहीं करते, उन्हें नुक्सान नहीं पहुँचाते वे अघाती कर्म या अघातक कर्म कहलाते हैं। वेदनीय, आयुष्, नाम और गोत्र ये चार अघाती कर्म माने जाते हैं। इन का भावार्थ पीछे ९३ आदि पृष्ठों पर लिखा जा चुका है। इन अघाती कर्मों का असर शरीर, इन्द्रिय और आयु आदि पर होता है। ये कर्म केवल-ज्ञान की प्राप्ति में भी बाधा नहीं डालते। जब तक शरीर रहता है, तब तक ये अघातक कर्म जीव के साथ रहते हैं।

१—सोपक्रम कर्म—

जिस कर्म का फल उपदेश, सन्तसमागम, सत्संग, आत्मचिन्तन और तपस्या आदि आध्यात्मिक साधनों से शान्त किया जा सके वे कर्म सोपक्रम कहलाते हैं।

२—निरुपक्रम कर्म—

जो कर्म किसी भी अध्यात्मसाधना के द्वारा क्षीण न किया जा सके और बन्ध के अनुसार ही जीव को अपने फल का भुगतान कराए उस कर्म को निरुपक्रम कहते हैं। निरुपक्रम कर्म को निकाचित कर्म भी कह सकते हैं क्योंकि निकाचित कर्म भी अपना फल दिए बिना जीव का कभी पिण्ड नहीं छोड़ता। निकाचित कर्म के आगे, सभी आध्यात्मिक साधनाएं निस्तेज पड़ जाती हैं, भगवती तपस्या का भी निकाचित कर्म के सामने कोई वश नहीं चलता।

जीव कर्मों का बन्ध क्यों करता है?—

सिद्धान्त कहता है कि यह जीव कर्म के कारण ही इस चतुर्गति-रूप संसार में भ्रमण करता है, और नाना प्रकार की यातनाओं का उप-भोक्ता बनता है। कर्म के कारण ही इस जीव को नरकगति में यमदूतों की असह्य मार खानी पड़ती है, और कर्म के कारण ही यह जीव गन्दगी जैसे अपवित्र स्थानों में जन्म धारण करता है। सारांश यह है कि जीव की जो भी दीन से दीन दशा दिखाई देती है, उसका मूल या जनक कर्म ही है। परन्तु यहां एक प्रश्न उपस्थित होता है कि जब कर्म इतनी निकम्मी और खराब वस्तु है और जीव की बुरी दशा बना डालता है, तब जीव इस का उपार्जन ही क्यों करता है। ऐसी कौन सी शक्ति है जो इसे पागल बना कर इस से कर्म करा लेती है और फिर उस के जाल में बुरी तरह फंस कर यह जीव दुःख उठाता है? जैनाचार्यों ने इस प्रश्न का बड़ा ही सुन्दर समाधान किया है। वे फरमाते हैं—

कर्मों का बन्ध अपने-आप नहीं हो जाता, किन्तु इस की सामग्री

जीव स्वयं एकत्रित करता है। वास्तव में देखा जाए तो जीवनगत हिंसा, असत्य, चौर्य, मैथुन, असन्तोष, क्रोध, मान और माया (कपट) आदि जो विकार हैं, दुर्गुण हैं, यही कर्मों को पैदा करते हैं, इन्हीं के कारण कर्मों का बन्ध होता है। राग-द्वेषादि विकार ही आत्मा को कर्मों की बेडियों में जकड़ते हैं और नरक, तिर्यञ्च आदि दुर्गतियों के दुःख-समुद्र में धकेल देते हैं। जहाँ-जहाँ विकारों का अस्तित्व होता है, वहाँ-वहाँ कर्मबन्ध का अस्तित्व मिलता है। विकारों के अभाव में ढूंढने पर भी कर्मबन्ध का चिह्न नहीं मिल सकता। एक वार महाभारत के पाण्डुपुत्र अर्जुन ने भगवान कृष्ण से इसी सम्बन्ध में पृच्छा की थी। अर्जुन के अपने शब्दों में कहें तो—

अथ केन प्रयुक्तोऽयं, पापं चरित पूरुषः,
अनिच्छन्नपि वार्ष्णेय !, बलादिव नियोजितः।

—भगवद्गीता अ० ३/३६

—हे कृष्ण ! यह आत्मा किस शक्ति के द्वारा प्रेरित हुआ पाप कर्म का आचरण करता है ? पाप करना न चाहता हुआ भी मनुष्य किस शक्ति के द्वारा पाप के गढहे में धकेल दिया जाता है ?

पाप क्यों हो जाते हैं ? यह समस्या वीर-शिरोमणि अर्जुन के सामने भी थी, इस का समाधान प्राप्त करने के लिए उसने अपनी बुद्धि के घोडे खूब दौडाए थे, परन्तु जब मन का समाधान नहीं हुआ तो निराश हो कर भगवान कृष्ण के चरणों में उपस्थित हुए, और उन्होंने सादर निवेदन किया कि भगवन् ! मैं तो हार गया हूं, अब आप ही फरमाओ कि यह मनुष्य पाप क्यों करता है ? क्यों पाप के जाले बुनता है ? क्यों पाप के विष-भरे प्यालों को मस्ती से पी जाता है ? अर्जुन के इस प्रश्न को सुन कर भगवान कृष्ण ने बड़ा सुन्दर समाधान किया था। वे कहने लगे—

काम एषः क्रोध एषः, रजोगुण-समुद्भवः।
महाशनाः महापाप्मा, विद्ध्येनमिह वैरिणम्॥

—भगवद्गीता अ० ३/३६

हे अर्जुन ! रजोगुण से उत्पन्न होने वाले काम और क्रोध आदि विकार ही आत्मा को पापकार्यों की ओर प्रवृत्त कराते हैं, इन दोनों को ही तू पाप में प्रवृत्ति कराने वाले अपने शत्रु समझ।

श्रमण भगवान महावीर ने राग और द्वेष को कर्म-बन्ध का कारण माना है, राग शब्द से माया (कपट) और लोभ का तथा द्वेष शब्द से क्रोध और मान का परिग्रहण किया जाता है। क्रोध जीवन का एक भयंकर शत्रु माना गया है। भगवान महावीर क्रोध को×प्रेम का संहारक मानते हैं, जहाँ क्रोध की ज्वालाएं उठती हैं वहाँ प्रेम का देवता विराजमान नहीं रह सकता। भगवान कृष्ण के शब्दों में क्रोध से मूढता उत्पन्न होती है, मूढता से स्मृति भ्रान्त हो जाती है, स्मृति भ्रान्त होने से बुद्धि का नाश और बुद्धि के नष्ट होने पर प्राणी का नाश हो जाता है।+

क्रोध की भाँति अभिमान भी जीवन का शत्रु होता है, जहाँ अभिमान होता है, वहाँ नम्रता, विनीतता, गुरुजनों के प्रति आदर और सम्मान की भावना नष्ट हो जाती है। भगवान महावीर के शब्दों में—"**माणो विणयनासणो**" अर्थात्-अभिमान विनय की भावनाओं का सत्यानाश कर देता है। सुकरात जी अभिमान को छोड़ने की प्रेरणा देते हुए कहते है, कि संसार में आदरपूर्वक जीने का सब से सरल और शर्तिया उपाय यह है कि हम जो कुछ बाहिर से दिखाना चाहते हैं, वैसे ही वास्तव में भी हों। भक्तप्रवर रहीम जी मान पद को जब अहंकारार्थक मानते हैं तब तो इसका वे सर्वथा निषेध

× कोहो पीइं विणासेइ। दशवै० अ० ८।३८

+ क्रोधात् भवति समोहः, संमोहात् स्मृति-विभ्रमः,
स्मृति-भ्रंशाद् बुद्धि-नाशो, बुद्धिनाशात् प्रणश्यति।

—भगवद्-गीता अ० २।६४

करते ही हैं, किन्तु जब मानशब्द सम्मानार्थक होता है, तब उस की उपयोगिता और अनुपयोगिता को आगे रख कर कितनी सुन्दर बात कह रहे हैं—

मानसहित विष खाइके, सम्भु भए जगदीस,
बिना मान अमृत पिये, राहु कटायो सीस ।

मान शब्द के-सम्मान और अभिमान ये दोनों अर्थ होते है, रहीम जी प्रस्तुत दोहे में मान शब्द को सम्मानार्थ में प्रयुक्त कर रहे हैं। रहीम जी कहते है कि यदि मान ही करना इष्ट है तो सम्मान के साथ जीना सीखो, अपमानित जीवन का कोई मूल्य नहीं, शंकर जी मान सहित विष का सेवन करके जगदीश बन गए और राहु ने विना मान के अमृत का सेवन करके भी अपना सीस कटवा लिया।

अभिमान की तरह छल-कपट भी जीवन का बहुत बड़ा दुर्गुण होता है। छल का अर्थ है-अपने असली रूप को छिपाना, यथार्थ का गोपन करना, दूसरों को ठगने, धोखा देने की भावना। छल भी सब एक समान नही होते, किन्तु विचारक महापुरुषों का विश्वास है कि सब धोखों में प्रथम और खराब अपने आपको धोखा देना है। लोगों को बुराई न करने की बात कहना किन्तु स्वयं बुराई करते जाना, पाप के दु:खान्त परिणाम को जानते हुए भी उस के आचरण में ज़रा भी संकोच न करना, लोक और परलोक का मन में भय न रख कर, निश्चिन्त और नि:संकोच भाव से पापमय और असत्य प्रवृत्तियों में जुटे रहना, यही अपने आप को धोखे देने वाली बात समझनी चाहिए। इसके अतिरिक्त, जनता के सामने अपने बहिरङ्ग जीवन को प्रामाणिकता एवं पवित्रता के साथ प्रस्तुत करना किन्तु अन्तरङ्ग में जीवन को अनाचार और भ्रष्टाचार का घर बनाए रखना, यह बक-वृत्ति भी अपने आप को धोखा देने का ही अवान्तर रूप होता है। भक्त-राज कबीर तो धोके को बहुत ही ज्यादा हानिकारक मानते हैं, यही कारण है कि वे धोखेबाज़ को इतना अधिक घृणास्पद कहते हैं कि

उसके मुँह लगना भी पसन्द नहीं करते । उन्हीं के शब्दों में उनका अभिप्राय प्रस्तुत किए देता हूं—

हेत प्रीति से जो मिले, ताको मिलिए धाय ।
अन्तर राखे जो मिले, तासौं मिले बलाय ।।

भगवान महावीर कपट के अहित-करता का निर्देश करते हुए फरमाते हैं कि—"**माया मित्ताणि नासेइ**" । अर्थात्-कपट की अवस्थिति में मित्रता का अभाव हो जाता है । स्वार्थ या कपट की जहाँ पर घोर दुर्गन्ध होती है, वहाँ मैत्री की पावन सुगन्धि तत्काल समाप्त होनी आरम्भ हो जाती है । मायाचार-कपटाचार मित्रता के लिए एक कलक माना गया है । छल एक कैंची है । मायावी मनुष्य कपट की इस कैंची से अपने समस्त सद्‌गुणों के बहुमूल्य वस्त्र को काट फेंकता है । उस के अन्तःकरण की कालिमा रूपी नदी मे उसके अन्यान्य समुज्ज्वल गुण सदा के लिए डूब जाते है ।

लोभ सब अवगुणों का सरदार है । भगवान महावीर फरमाते हैं कि क्रोध प्रीति का, मान विनय-नम्रता का और माया (कपट) मित्रता का इस तरह क्रोधदि दुर्गुण मानव के केवल एक-एक सद्‌गुण का नाश करते है किन्तु लोभ ही ऐसा भयकर दुर्गुण है कि जो अकेला ही प्रीति, विनय और मित्रता इन सब को विनष्ट कर देता है । इसीलिए भगवान महावीर-"**लोहो सव्वविणासणो**" यह कह कर लोभ की सर्वप्रसिद्ध विनाशकता को उद्‌घोषित कर रहे हैं । लोभ सदा हेय है, परिहेय है, इस तथ्य को विश्व के सभी मनीषी व्यक्तियों ने सहर्ष स्वीकार किया है । श्री शेख-सादी लिखते हैं कि जिस व्यक्ति पर धन का लोभ छा गया उसने अपने जीवन के खलिहान को मानों हवा में उड़ा दिया है । एक विचारक लिखता है कि मनुष्य बूढा हो जाता है, किन्तु लोभ बूढा नही होता ।

काम का अर्थ है-इन्द्रिय या विषय जन्य सुख की इच्छा । वैषयिक इच्छा का ही दूसरा नाम वासना है । वासना जीवन की बहुत बड़ी,

कमजोरी होती है। एक विद्वान लिखते हैं कि जब तक वासना है, तब तक कर्म जारी रहेगें, कर्म को समाप्त करना है, तो वासना को मारना होगा, वह भगवान का नाम लेने से मरती है। एक और विचारक कहता है कि वासना की दीवानगी थोड़ी देर रहती है किन्तु उस का पछतावा बहुत देर तक। विषयभोग में धन का ही सर्वनाश नहीं होता, इससे भी कहीं अधिक बुद्धि और बल का सर्वनाश होता है। योगिराज भगवान कृष्ण काम-वासना को नरक के तीन द्वारों में से पहला द्वार स्वीकार करते हैं। भगवद्‌गीता के अध्याय सोलहवें के २१ वें श्लोक में नरक के तीन द्वारों का उल्लेख करते हुए भगवान कृष्ण फरमाते हैं-

त्रिविधं नरकस्येदं, द्वारं नाशनमात्मनः ।
कामः क्रोधस्तथा लोभस्तस्मादेतत् त्रयं त्यजेत् ॥

—काम, क्रोध तथा लोभ ये त्रिविध नरक के द्वार होते हैं, जीव इन्हीं तीन द्वारों के द्वारा नरक-गति में प्रवेश करते हैं, ये तीनों द्वार आत्मा का नाश करते है, इसे अधोगति में ले जाते है, इसलिए विचारशील मनुष्य को इन का परित्याग कर देना चाहिये।

विषय भोगों का चिन्तन यदि आगे ही बढता चला जाए और इस पर किसी प्रकार का कोई भी नियन्त्रण न किया जाए तो इस से जीवन का कितना भयंकर ह्रास होता है ? और व्यक्ति सर्वनाश के गढहे में कैसे गिर पड़ता है ? इस सम्बन्ध में भगवान कृष्ण ने एक बार अपने सखा अर्जुन के सामने बड़ा सुन्दर ऊहापोह प्रस्तुत किया था। उन्हीं के शब्दों में सुनिए—

ध्यायतो विषयान्पुंसः, संगस्तेषूपजायते ।
सङ्गात् संजायते कामः, कामात्क्रोधोऽभिजायते ॥
क्रोधाद् भवति सम्मोहः, सम्मोहात् स्मृतिविभ्रमः ।
स्मृतिभ्रंशाद् बुद्धिनाशो, बुद्धिनाशात् प्रणश्यति ॥

—भगवद्‌गीता अ० २। ६२-६३

—यदि इन्द्रियों को वश में नहीं किया जाता तो मन के द्वारा विषयों का चिन्तन होता है, विषयों का चिन्तन करने से व्यक्ति का उन में सङ्ग (आसक्ति) हो जाता है, आसक्ति से उन विषयों की कामना उत्पन्न होती है, कामना की पूर्ति में विघ्न उपस्थित होने से क्रोध उत्पन्न होता है, क्रोध से सम्मोह-अविवेक पैदा होता है, अविवेक से स्मृति भ्रमित हो जाती है, स्मृति के भ्रमित हो जाने से बुद्धि-ज्ञान शक्ति का नाश होता है, और बुद्धि का नाश हो जाने से यह पुरुष अपने श्रेयः-साधन से गिर जाता है।

अहिंसा सत्य के अमरदूत भगवान महावीर कामवासना के दुःखान्त परिणाम का वर्णन करते हुए कितनी सुन्दर पद्धति से उस के परित्याग का उपदेश दे रहे है—

सल्लं कामा, विसं कामा, कामा आसीविसोवमा।
कामे पत्थेमाणा, अकामा जंति दुग्गइं ॥१॥

—उत्तराध्ययन, अ० ९।५३

—कामभोग शल्य-काण्टे के समान होते है। जैसे इस मानवी प्राणी के शरीर के किसी अङ्ग में कांटा लगने पर समस्त शरीर ही वेदना से आकुल-व्याकुल हो जाता है और जब तक कांटा नहीं निकलता तब तक वह वेदना, बनी ही रहती है, इसी प्रकार काम-भोग की अभिलाषा यदि बनी रहे तो वह तन और मन में व्याकुलता को बनाए रखती है। कामभोग विष के समान कहे गए हैं। विष का भक्षण करने वाला मनुष्य जैसे पहले मूच्छित होता हे, और अन्त में प्राणों से हाथ धो बैठता है, वैसे ही काम-भोग की इच्छा उत्पन्न होते ही मनुष्य पहले मोह-मुग्ध होता है, हानि-लाभ के विवेक को खो देता है, और अन्त में संयम-जीवन से किनारा कर जाता है। विष और विषय में एक और भी बहुत बड़ा अन्तर होता है। विष तो केवल सेवन करने के अनन्तर ही जीवन का घात करता है किन्तु विषय तो इतने

भयंकर होते हैं कि इन का केवल+स्मरण करने से ही जीवन पतनोन्मुख होना आरम्भ हो जाता है। कामभोग दृष्टिविष के समान माने गए हैं। दृष्टिविष-सर्प ऐसा भीषण विषधर होता है कि वह जिस व्यक्ति की ओर दृष्टि दौड़ाता है, उसी को अपने विष से प्रभावित करके मार डालता है। यह सर्प अन्य सभी सर्पों से अत्यधिक प्राणघातक, हिंसक और भयंकर माना गया है। जैसे केवल सर्प की दृष्टि से ही प्राणिजगत के जीवन का अन्त हो जाता है वैसे विषय-भोगों की ओर दृष्टि जाने से ही धीरे-धीरे जीवो का धर्म-जीवन समाप्ति की ओर बढता है। भगवान महावीर फरमाते हैं कि कामभोग की अभिलाषा रखने वाले भले ही कामभोगों का उपभोग न कर सकें किन्तु कामभोगों की केवल यह अभिलाषा ही उन्हें दुर्गतियों के गहरे सागर में धकेल देती है, जहाँ से निकलना उनके लिए कठिन ही नहीं असंभव हो जाता है। भगवान महावीर फरमाते है—

> **जहा किंपागफलाणं, परिणामो न सुन्दरो।**
> **एवं भुत्ताण भोगाणं, परिणामो न सुन्दरो॥**
>
> —उतराध्ययन०, अ० १९।१८

किम्पाक नाम का एक फल होता है, जो खाने में स्वादिष्ट, सूंघने में सुगन्धि-युक्त और देखने में बड़ा ही सुन्दर होता है, किन्तु वह होता है विष-स्वरूप। विषमय होने के कारण उस का भक्षण जीवन का घात कर देता है। इसीलिए भगवान महावीर फरमाते हैं कि जैसे किम्पाक फल के भक्षण का परिणाम अच्छा नही होता, उसी प्रकार बाह्य सौन्दर्य से मुग्ध होकर जो लोग विषयों का उपभोग करते हैं, उन के भोगे हुए भोगों का परिणाम भी अच्छा नहीं होता।

ऊपर की पंक्तियों में क्रोध, मान. माया, लोभ तथा वासना को

+विषस्य विषयाणाञ्च, दृश्यते महदन्तरम्।
उपभुक्त विषं हन्ति, विषयाः स्मरणादपि॥१॥

लेकर जो चिन्तन प्रस्तुत किया गया है इससे हम यह अभिव्यक्त करना चाहते हैं, ये सब जीवन के विकार है, ये आध्यात्मिक जीवन को बड़ा नुकसान पहुँचाते है और यही ससार के विषवृक्ष की जड़ों को सींचते हैं और इन्ही के बदौलत यह आत्मा पाप-कर्म में प्रवृत्ति करती है। यदि सक्षेप मे-"जीव कर्मो को बन्ध क्यों करता है?" इस प्रश्न का समाधान प्राप्त करना चाहे तो-"क्रोध, मान, माया, लोभ और बासना ये जीवनगत विकार ही जीव को कर्मो मे प्रवृत्त कराते हैं।" यही कहना उपयुक्त प्रहीत होता है।

कर्म-फल भोगने में जीव परतन्त्र है-

कर्मवाद की मान्यतानुसार जीव कर्म करने मे स्वतन्त्र है, अच्छा या बुरा जेसा भी कर्म करना चाहे, वह कर सकता है, परमात्मा या कोई देवी देवता उसके मार्ग मे बाधक नही बन सकता किन्तु उस का फल भोगने में वह स्वतन्त्र नही है, इसी दृष्टि से वह सर्वथा परतन्त्र माना गया है, उस की इच्छा या अनिच्छा से कर्म का फल रुक नहीं सकता और उस में कोई परिवर्तन भी नही लाया जा सकता। जैसा भी कृत कर्म है, उस के अनुसार उसे फल भोगना ही पडता है। कर्म करना या न करना जैसे यह मनुष्य के हाथ में होता है, वैसे कर्म का फल भोगना या न भोगना. यह उसके वश की बात नही होती। कृत कर्म को यदि जीव ने अहिंसा, सयम और तप आदि आध्यात्मिक अनुष्ठानो के द्वारा क्षीण नही किया तो उस का उपभोग अवश्य करना होता है। कर्मपरमाणुओ मे ऐसी क्षमता अवस्थित है जिसके आधार पर वे कर्म-कर्त्ता जीव को समय आने पर अपने फल को भुगतान स्वयं ही करा डालते है। इसीलिए भगवान महावीर फरमाते है-

"कडाण कम्माण न मोक्ख अत्थि"

-कृत कर्म का नाश नहीं होता, समय आने पर उस का फल अवश्य भोगना पड़ता है। हां, एक बात अवश्य है, यदि तप का आराधन हो जाए और वह भी इतनी मात्रा में कि उस से कृत कर्मों को

क्षीण किया जा सके, तो ऐसी स्थिति में कृत कर्मों से पिण्ड छुड़ाया जा सकता है, अन्यथा कृत कर्म के उपभोग को संसार की कोई शक्ति रोक नहीं सकती। जिस प्रकार भगवान महावीर कृत कर्म का भोग अवश्यंभावी स्वीकार करते हैं, ठीक वैसे ही वैदिक-परम्परा के जाने-माने ग्रन्थ महाभारत में भी कृत कर्म का भोग अवश्यं-भावी बतलाया गया है। महाभारत के पर्व ३, अध्याय २०७, श्लोक २७ में लिखा है—

अन्यो हि नाश्नोति कृतं हि कर्म,
मनुष्यलोके मनुजस्य कश्चित् ।
यत्तेन किंचिद्धि, कृतं हि कर्म,
तदश्नुते नास्ति कृतस्य नाशः ।

—इस मनुष्य-लोक में एक मनुष्य के द्वारा किए गए कर्मों का फल दूसरा मनुष्य नहीं भोग सकता, जिस मनुष्य ने जैसे शुभ और अशुभ कर्मों की उपार्जना की है, उन के फल का उपभोक्ता भी वही जीव होता है। कारण यह है कि बिना फल भोगे स्वकृत कर्मों से छुटकारा नहीं हो सकता।

इन शास्त्रीय उद्धरणों से हम यह अभिव्यक्त करना चाहते हैं कि जैसे जीव कर्म के सम्पादन में स्वतंत्र है, यथेच्छ कर्म की सृष्टि कर सकता है, वैसे वह कर्मफल भोगने में स्वतन्त्र नहीं है, कर्म के फल की दृष्टि से उस की स्वतन्त्रता समाप्त हो जाती है, इस दृष्टि से जीव सर्वथा परतन्त्र है, न चाहने पर भी कृत कर्म का उसे भुगतान करना ही पड़ता है। जीव की परतन्त्रता का यह भी अर्थ नहीं समझ लेना चाहिए कि जीव जो कर्म करता है, उसका फल परमात्मा देता है, और यह फल प्रदान करना परमात्मा के अधीन है, फलतः जीव कर्म-फल भोगने के लिए पराधीन है, परतन्त्र है या परमात्मा के वश में है। जैनदर्शन के कर्म-वाद की यह मान्यता है कि जीव जो कर्म करते हैं, उनका फल परमपिता परमात्मा नहीं देता, परमात्मा का तो जीवों के कर्म-फल के साथ कोई सम्बन्ध है ही नहीं, क्योंकि आत्मप्रदेशों के साथ

जो कर्म-परमाणु आबद्ध हो रहे हैं, उन में स्वयं ही फल देने की क्षमता या शक्ति अवस्थित है। देखा गया है कि मदिरा का नशा मदिरासेवी को स्वतः ही चढ़ जाता है। मदिरा का नशा चढ़ाने के लिए जैसे किसी अन्य शक्ति को आवश्यकता या अपेक्षा नहीं होती, वैसे कर्म-परमाणुओं के फल का भुगतान कराने के लिए भी किसी अन्य शक्ति को माध्यम बनाने की आवश्यकता नहीं रहती, समय आने पर ये कर्म-परमाणु स्वतः ही जीव को कृत कर्म का फल प्रदान कर देते है। कर्मपरमाणु जीव को अपना फल कैसे प्रदान करते है? इस सम्बन्ध मे पीछे पृष्ठ ४० मे लेकर पृष्ठ ५४ तक चिन्तन प्रस्तुत किया जा चुका है। अतः जिज्ञासु महानुभावों को वह स्थल देख लेना चाहिए। प्रस्तुत में तो हम केवल इतना ही निवेदन करना चाहते है कि जीव कृत कर्म-का-फल भोगने में परतन्त्र है, जीव की इस परतन्त्रता का इतना ही रहस्य समझना चाहिए कि जीव की अनिच्छा से कर्म-परमाणुओ का शुभ और अशुभ परिणाम-फल रुक नही सकता, वह तो प्रत्येक दशा में उसे भोगना ही पड़ता है–

कर्म बड़े बलवान होते हैं–

यह जीव अपने शुभ-अशुभ संकल्प-विकल्पों के द्वारा जिन कर्म-योग्य परमाणुओं को अपनी ओर आकृष्ट करके अपने से सम्बन्धित कर लेता है, वे परमाणु द्रव्यकर्म के नाम से पुकारे जाते है, और यह द्रव्य-कर्म ही जीव को सुख और दुःख प्रदान करता है। जीवन में जो पतझड़ या बसन्त आता है, अनुकूल या प्रतिकूल वातावरण दृष्टि-गोचर होता है, उस का मूल कारण जीव का अपना ही कृत कर्म होता है। अब यहाँ एक प्रश्न उपस्थित होता है, कि आत्मा बलवान है या कर्म? दोनो में कौनसा शक्ति-शाली है? इस प्रश्न का समाधान करते हुए कर्मवाद के मर्मज्ञ विद्वान जैनाचार्य फरमाते हैं कि आत्मा और कर्म ये दोनों ही बलवान है, और दोनों निर्बल भी है, जब आत्मा बलवान होती है, तो उसके सामने कर्म की शक्ति नगण्य हो

जाती है, और जब कर्म प्रबल होता है, तो उसके आगे आत्मा सर झुका देती है। इस तथ्य को एक उदाहरण से समझिए। जब जीवकृत एक कर्म तप, जप आदि आध्यात्मिक साधनों से, सत्पुरुषार्थ से नष्ट कर दिया जाता है, तब आत्मा बलवान दिखाई देती है, किन्तु जब कर्म तप, जप से क्षीण नहीं किया जाता या निकाचित रूप ले लेता है, तब वह जीवात्मा के छक्के छुडा देता है, नरकादि दुर्गतियो में ले जा कर उस का हुलिया ही बिगाड देता है। इसी दृष्टि को आगे रखकर कहा गया है कि कर्म बड़े बलवान होते हैं।

कर्म एक शक्ति है, यह बड़ी बलवान होती है, इसके आगे किसी का वश नहीं चलता, कर्मशक्ति का प्रकोप जिस जीवन में हो जाता है, उसे बड़ी भयंकर तथा लोमहर्षक परिस्थितियों का सामना करना पड़ता है। जन-साधारण की बात तो जाने दीजिए। कर्मशक्ति के प्रकोप की भयंकरता ने अनन्तबली तीर्थंकर, ६ खण्ड के नाथ चक्रवर्ती; तीन खण्ड के अधिनायक वासुदेव तथा महान ऐश्वर्य के स्वामी बलदेव आदि महापुरुषों को ऐसे-ऐसे भीषण दुःख दिए हैं कि जिन्हें सुन कर तथा जिनका स्मरण करके यह कलेजा मुंह को आता है। इतिहास इस सत्य का गवाह है। आदिम-तीर्थकर भगवान ऋषभदेव को बारह-महीने तक अन्न-जल का एक कण भी प्राप्त नहीं हुआ, उनको इतने लम्बे काल तक निराहार ही रहना पड़ा। कर्मशक्ति की प्रतिकूलता या उसके प्रकोप के कारण ही चरम-तीर्थंकर भगवान महावीर को साढे बारह वर्ष तक अनेकानेक असह्य और भीषण उपसर्गों का सामना करना पड़ा। मनुष्यों, तिर्यञ्चों और देवताओं ने उन के जीवन में यातनाओं का एक जाल सा विछा दिया था, अनार्यदेश में जब भगवान पधारते हैं तो अनार्यों ने दुःख देने की कोई कसर नहीं छोड़ी, शिकारी कुत्ते उन के पीछे लगाए गए, शिकारी कुत्तों ने उन के शरीर में से मांस के लोथडे निकाले, इस पर भी शिकारियों ने उन के ज़ख्मों पर नमक डाल कर उन को दुःख दिया, अपमानित किया। सगर चक्र-

वर्ती को एक साथ ६० हज़ार पुत्रों के मरण-जन्य वियोग का कष्ट भुगतना पड़ा, छह खण्ड के नाथ सनत्कुमार चक्रवर्ती को १६ रोगों का भयंकर कष्ट सहन करना पड़ा, जिस राजाधिराज के आगे ३२ हज़ार मुकुटबन्द राजा सर झुकाया करते थे, हज़ारों देवता जिन की सेवा किया करते थे, उन के कंचन जैसे शरीर को कोढ जैसे दुःखद रोगों ने आक्रान्त कर लिया। मर्यादापुरुषोत्तम भगवान राम को राजतिलक के स्थान पर वनवास मिला, १४ वर्षों तक वे वन-वन की धूलि चाटते रहे, कर्मयोगी वासुदेव भगवान कृष्ण को कारागार (जेल) में ही जन्म लेना पड़ा। आज जिस जेल का नाम लेकर बड़े-बड़े पहलवानों के पेट में पानी पड़ जाता है, कर्मों का प्रकोप देखिए कि उसी जेल में कृष्ण भगवान का जन्म होता है। जिन की शक्ति की धाक दुनिया मानती थी, उन बलधारी पाण्डवों को भी १२ वर्ष तक वनवासजन्य कष्ट झेलने पड़े और एक वर्ष तो छिपकर अज्ञात-वास में ही समय व्यतीत करना पड़ा। अधिक क्या, कर्म-शक्ति के प्रकोप से निस्तेज और खेदखिन्न बने व्यक्तियों की जीवनियों को देख कर बिना झिझक के यह कहना पड़ता है—

दशा कर्म की गहन है, कभी न आवे पार,
इसी कर्म के कारणे, तड़पत है संसार।

कर्म की दशा बड़ी गहन है, गम्भीर है, बड़े-बड़े ऋषि, महात्मा, और अवतारी पुरुष भी इसका पार नहीं पा सके। संसार में जितने भी दुःख, क्लेश दिखाई देते हैं, अशान्त और विक्षुब्ध वातावरण देखने को मिलता हैं, इस के पीछे कर्म की शक्ति ही काम कर रही है। संक्षेप में कहें तो, समस्त संसार के छोटे-बड़े सब जीव कर्म के प्रकोप से ही तड़प रहे हैं। इस कर्म-शक्ति के प्रकोप से और क्या-क्या होता है? यह भी एक हिन्दी-कवि की भाषा में सुनिए—

सीता को हरण भयो, लंका को जरण भयो,
रावण मरण भयो, सती के सराप ते ।
पांडव अरण्य भयो द्रुपद-सुता को साथ,
भामा को डरन भयो, नारद मिलाप ते ।
राम वनवास गयो सीता अविसात भयो,
द्वारिका-विनाश भयो, योगी के दुराप ते ।
बड़े-बड़े राजा केते संकट सहे अनेक,
सोहन बखाना एक कर्म के प्रताप ते ।

कर्म-शक्ति की विलक्षणता अभिव्यक्त करते हुए हिन्दी कवि कह रहे है कि सीता का अपहरण हुआ, रावण की स्वर्ग जैसी लंका जलकर भस्म हो गई, पाण्डुपुत्र युधिष्ठिर आदि पाण्डवो को, तथा मर्यादा-पुरुषोत्तम भगवान राम को वन-वन भ्रमण करना पड़ा, अग्नि-परीक्षा हो जाने पर भी सीता को कलंकित होना पड़ा, सोने की द्वारिका जलकर राख की ढेरी हो गई। इसके अतिरिक्त, बड़े-बड़े राजे-महाराजों ने भीषणातिभीषण सकट झेले हैं, यह सब कर्म का ही प्रताप समझना चाहिए। और भी देखिए–

कोईक बतावे दोष माता भेरु देवता को,
कोईक बतावे ग्रहगोचर की छाया है ।
कोई जो कहत देख लिख्यो है विधाता लेख,
कोई जो कहत सब राम जी की माया है ।
एक रोगी नो नो मता, पूरा नहीं पावे पता,
ज्ञान बिन खावे खता, भोला भरमाया है ।
कहत हजारी मल ज्ञानी वचनों के बल,
अपना कमाया कर्म अब उदय आया है ।

यह दुनिया है, इसमें नाना प्रकार की मान्यताएं पाई जाती हैं। रोगी एक होता है किन्तु उस को लेकर कोई कहता है कि यह माता का प्रकोप है, भैरों देवता इस पर रुष्ट हो रहे हैं, कोई कहता है कि इस की ग्रहचाल खराब है, कोई कहता है कि विधाता ने इस के लेख ही ऐसे लिखे हैं, कोई कहता है कि यह सब भगवान की माया है, वस्तुस्थिति न जानने कारण लोग इस तरह की अपनी-अपनी बोलियाँ बोलते रहते हैं, परन्तु ज्ञानी पुरुष फरमाते हैं कि रोग के बहाने इस जीव का अपना किया हुआ कर्म ही उदय में आया हुआ है। भाव यह है कि देवी-देवता और ग्रह आदि जीव का कुछ नुक्सान नहीं कर पाते, जीवन में जो दु:ख की घड़ियां आती हैं यह तो सब कर्मो का ही चक्र होता है। कर्म-फल की अवश्यंभाविता को ले कर एक और हिन्दी कवि कहता है--

तारों की ज्योत में चन्द्र छुपे नहीं, सूर्य छुपे नहीं बादल छाएं,
रणचढ्यो रजपूत छुपे नहीं, दाता छुपे नहीं मांगन आए ।
चंचल नारी का नयन छुपे नहीं, प्रीत छुपे नहीं, बात बनाए,
योगी का रूप अनूप करो पर, कर्म छुपे न भभूत लगाए ।

हिन्दी कवि कहते हैं कि तारों की ज्योति से जैसे चन्द्रमा छुप नहीं सकता, आकाश के मेघाच्छन्न होने पर भी जैसे सूर्य की ज्योति नहीं छुपती, रणभूमि में गया राजपूत जैसे छुपा नहीं रहता, याचक के आने पर जैसे दाता छुप नहीं सकता, चंचल नारी का चञ्चल नेत्र जैसे छुपा नहीं रहता, बातें बनाने से जैसे व्यक्ति का प्रेम छुप नहीं सकता ऐसे ही भभूत लगाने से जीव के कर्म छुपाए नहीं जा सकते। भाव यह है कि ऊपर का वेष कितना ही परिवर्तित कर लिया जाए परन्तु कर्म के फल का भुगतान अवश्यमेव करना पड़ता है, इसे कोई रोक नहीं सकता।

ऊपर की पंक्तियों में कविता की भाषा में कर्मशक्ति की क्षमता का दिग्दर्शन कराया गया है। वस्तुत: कर्मशक्ति का प्रकोप बड़ा ही

भयंकर होता है, इसके सामने किसी का वश नहीं चलता, संसार की बड़ी से बड़ी शक्ति को भी इसके सामने नतमस्तक होना पड़ता है, कर्मों की इस सबलता को निहार कर महाराजा भर्तृहरि ने "तस्मै कर्मणे नमः"''[1] यह कह कर कर्मराज के चरणों में अपना अभिनन्दन प्रस्तुत किया था। कर्म की इस महाशक्ति पर जिस व्यक्ति ने विजय प्राप्त करली है, वही संसार में सुखी रह सकता है, और ऐसा व्यक्ति ही धीरे-धीरे कर्मबन्धनों को तोड़ कर निष्कर्मता को पगडण्डियां को नापता हुआ एक दिन निर्वाण पद की उपलब्धि करने में सफल हो सकता है।

कर्म आत्मा का गुण नहीं है—

कुछ दार्शनिक कर्मों को आत्मा का गुण मानते हैं, परन्तु जैनदर्शन का कर्मवाद कर्मों को आत्मा के गुण के रूप में स्वीकार नहीं करता, क्योकि कर्मो को यदि आत्मा का गुण स्वीकार कर लिया जाए, तो ये बन्धन रूप नही हो सकते। आत्मा के गुण आत्मा को बान्ध लें, उसे दुःख दे, नरकादि दुर्गतियों मे ले जा कर इसे जन्ममरण की चक्की में पिसवाते रहें, यह कैसे सम्भव हो सकता है ? यदि आत्मा के गुण ही आत्मा को बान्धने लगे तो उसकी मुक्ति कैसे हो सकती है ? सिद्धान्त के अनुसार बन्धन मूल वस्तु से भिन्न हुआ करता है और वह सदा विजातीय होता है, अत. कर्मों को आत्मा का गुण नही माना जा सकता, इसके अतिरिक्त, यदि कर्मों को आत्मा का गुण मान लिया जाए, तब तो कर्मो का विनाश हो जाने पर आत्मतत्त्व का विनाश भी स्वीकार करना होगा। गुण और गुणी का नित्यसम्बन्ध होता है, ये कभी जुदा-जुदा नही हो सकते, यह सैद्धान्तिक तथ्य आबाल-वृद्ध प्रसिद्ध है। इस सैद्धान्तिक मान्यता के अनुसार गुण का नाश मान लेने पर गुणी का विनष्ट हो जाना स्वीकार करना ही

---

१ उस कर्मराज को मैं नमस्कार करता हूं।

होगा, गुण के नष्ट हो जाने पर गुणी का नष्ट हो जाना स्वाभाविक होता है। आत्मा की नित्यता को सभी दार्शनिक बिना किसी मतभेद के स्वीकार करते हैं। श्रीमद्‌भगवद्‌गीता आत्मा की नित्यता को कितनी स्पष्टता के साथ स्वीकार कर रही है—

न जायते म्रियते वा कदाचिन्नायं भूत्वा भविता वा न भूयः,
अजो नित्यः शाश्वतोऽयं, पुराणो न हन्यते न हन्यमाने शरीरे।

—भगवद्‌गीता अ० २।२०

—यह आत्मा किसी काल में न तो जन्मता है, जन्म धारण करता है, और नाँही यह मरता है, तथा न उत्पन्न होकर फिर होने वाला ही है, क्योंकि यह आत्मा अजन्मा है-जन्म नही लेता है, नित्य है-तीनों कालों मे रहने वाला है, सनातन है-सदा बना रहने वाला है, पुरातन है-प्राचीन है, और शरीर के मारे जाने पर भी नही मारा जाता।

वासांसि जीर्णानि यथा विहाय, नवानि गृह्णाति नरोऽपराणि।
तथा शरीराणि विहाय, जीर्णान्यन्यानि संयाति नवानि देही॥

—भगवद्‌गीता अ० २।२२

—जैसे पुराने वस्त्रों को उतार कर मनुष्य दूसरे नये वस्त्रों को ग्रहण करता है, पहन लेता है, वैसे ही यह जीवात्मा पुराने शरीर को त्याग कर दूसरे नये शरीरों को प्राप्त होता है। भाव यह हैं कि मृत्यु केवल शरीर के परिवर्तन का ही नाम है अतः इससे केवल शरीर का ही परिवर्तन होता है, आत्मा ज्यों की त्यों रहती है। उस का आत्मत्व समाप्त नही होने पाता।

नैनं छिन्दन्ति शस्त्राणि, नैनं दहति पावकः।
न चैनं क्लेदयन्त्यापो, न शोषयति मारुतः।

—भगवद्‌गीता अ० २।२३

—इस आत्मा को शस्त्र काट नही सकते, आग जला नहीं सकती। भाव यह है, आत्मा अमर है, शस्त्र, अग्नि, जल और वायु आदि ये

सब शक्तियाँ एकत्रित हो करके भी आत्मा के अमरत्व को समाप्त करना चाहें, तो यह कभी हो नहीं सकता।

भगवद्‌गीता के उक्त उदाहरणों से यह भलीभाँति स्पष्ट हो जाता है कि आत्मा नित्य है, उस का कभी विनाश नहीं हो सकता, परन्तु यदि कर्म को आत्मा का गुण मान लिया जाए तो कर्म के विनष्ट हो जाने पर आत्मा के विनिष्ट होने का भो प्रसग आ जायगा परन्तु आत्मा अमर है, अविनाशी है, सदा रहने वाला स्थायो तत्त्व है, अतः विनश्वर (विनाश को प्राप्त होने वाले) कर्म नित्य आत्मा के कभी गुण नहीं माने जा सकते।

क्या कर्मों के बन्धन टूट सकते हैं ?—

यह सत्य है कि कर्म आत्मा का गुण नही है परन्तु इस सत्य से भी इन्कार नहीं किया जा सकता कि कर्म ने ही इस आत्मा को आक्रान्त या आबद्ध कर रखा है। अनादि काल से यह आत्मा इन कर्मों के प्रवाह में ही प्रवाहित होती चली आ रही है, इसके जीवन में एक भी ऐसा क्षण नही आया कि जब यह कर्मों से सर्वथा उन्मुक्त हो! कर्मों के जाल ने इसे बुरी तरह फसा रखा है। अतः यहां एक प्रश्न उत्पन्न होता है कि क्या यह आत्मा अतीतकाल की भाँति अनागत काल में भी कर्मों के जाल में सदा ऐसे ही फंसी रहेगी? कोई भी ऐसी घड़ी नहीं आएगो कि जब यह कर्मों के जाल तोड़ कर सर्वथा स्वतंत्र हो सकेगी? इस प्रश्न का समाधान प्राप्त कर लेना भी आवश्यक है। जैन-दर्शन का विश्वास है कि इस आत्मा को कर्मबन्धन में डालने वाले राग और द्वेष हैं, क्रोध, मान, माया और लोभ आदि विकार हैं, इन्हीं विकारों के कारण आत्मा अनादि काल से कर्मों के विविध प्रहार सहन करती चली आ रही है, जब इन विकारों का आत्यन्तिक क्षय हो जाता है, और तपस्या के द्वारा पूर्व-संचित कर्मों का सर्वथा नाश कर दिया जाता है तब यह आत्मा निष्कर्म हो जाती है, कर्मों के बन्धनों को तोड़ कर मुक्ति-धाम में जा विराजती है। समल स्वर्ण जैसे कुठाली में

पड़ कर शुद्ध हो जाता है वैसे ही क्षमा, सरलता, निर्लोभता और निरभिमानता आदि साधनों द्वारा आत्मा अपने वास्तविक विशुद्ध स्वरूप को प्राप्त करके कर्मों से सर्वथा उन्मुक्त हो जाती है। अतः "आत्मा कभी कर्म-बन्धनों को तोड़ कर उन्मुक्त हो नहीं सकती" यह सोच कर निराश या हताश होने की आवश्यकता नही है । सम्यग्-दर्शन के आलोक से अलोकित हो जाने पर आत्मिक जीवन में ऐसा एक दिन अवश्य आएगा, जब यह आत्मा कर्मो की बेड़ियों को तोड़ देगी, और परमसाध्य मोक्ष-धाम को उपलब्ध कर लेगी।

क्या मुक्त आत्मा को कर्म पुनः घेर लेते हैं ?–

यह सत्य है कि अहिंसा, संयम और तप की त्रिवेणी में गोते लगाने वाली आत्मा एक दिन कर्मो का आत्यन्तिक नाश करके मक्तिधाम में जा विराजती है, परन्तु यहाँ एक जिज्ञासा उत्पन्न होती है कि जिस आत्मा ने कर्म-बन्धनों का आत्यन्तिक नाश कर दिया है, क्या वह आत्मा मुक्ति का सुख भोगते-भोगते फिर भी कभी कर्म के बन्धनों में फंस जाती है ? बड़ी सुन्दर जिज्ञासा है, इस का समाधान करते हुए पूज्य जैनाचार्य फरमाते है कि जो आत्मा कर्मो का आत्यन्तिक नाश कर देती है, उन से सर्वथा उन्मुक्त हो जाती है, वह पुनः कर्मों के बन्धन को प्राप्त नहीं करती है। जहां विकार ही नही होते, जहाँ विकारों का सर्वथा नाश कर दिया गया है, वहाँ कर्म-बन्ध का क्या प्रश्न रह सकता है ? विकारों का आत्यन्तिक नाश कर देने के अनन्तर ही जीव मुक्ति में जा सकता है, यदि उसके साथ विकारों का सम्पर्क हो, वह मुक्त ही नही हो सकता अतः विकारों का अभाव ही मुक्त जीव को कर्म-बन्धनों से दूर रखता है। बीज में जब तक पैदा होने की शक्ति है, तभी तक वह अकुरित, पुष्पित या पल्लवित हो सकता है, परन्तु वीज की उत्पादन-शक्ति के समाप्त हो जाने पर फिर उस में पैदा होने की स्थिति नही आ सकती। बीज के उत्पादन शक्ति से हीन हो जाने पर जैसे अंकुर की उत्पत्ति नहीं होती, वैसे ही कर्मरूप

बीज के समाप्त हो जाने पर संसाररूप अंकुर का प्रादुर्भाव नहीं होता। इस सम्बन्ध में संकृत-भाषा के एक मनीषी एवं विद्वान आचार्य कितनी रहस्यपूर्ण बात फरमा रहे हैं—

दग्धे बीजे यथाऽत्यन्तं, प्रादुर्भवति नांकुरः।

कर्मबीजे तथा दग्धे, न रोहति भवांकुरः।

—बीज के जल जाने पर जैसे अंकुर पैदा नही होता, वैसे कर्म रूप बीज के जल जाने के अनन्तर भवरूप अंकुर पैदा नहीं होता! भाव यह है कि जो जीव निष्कर्म हो चुका है, वह पुनः जन्ममरण के चक्र में नहीं फंस सकता।

कर्मों की वेड़ियों को तोड कर जो जीव मुक्ति में जा विराजमान होता है, और वह वहाँ मे पुन वापिस इस मर्त्यलोक में नही आने पाता, इस बात का श्री भगवद्गीता में पूर्णरूप से समर्थन प्राप्त होता है। वहाँ लिखा है—

"यद्गत्वा न निवर्तन्ते, तद्धाम परमं मम"

—अध्याय ८, श्लोक २१

—भगवान कृष्ण अर्जुन से कहते है कि हे अर्जुन! जहां जाकर जीव पुनः ससार में नही आता, जन्म धारण नही करता, वही मेरा अर्थात् आत्मा का परमधाम है, निवास-स्थान है।

कर्मवाद और साम्यवाद—

साम्यवाद मार्क्स द्वारा प्रतिपादित एक सिद्धान्त है जिसका उद्देश्य, वर्ग-हीन समाज की स्थापना है, जिस में सम्पत्ति पर समाज का समान अधिकार होता है. और व्यक्ति से शक्तिभर काम लेकर उस की सारी आवश्यकताएं पूरी की जाती है। साम्यवाद की इस परिभाषा का जब सूक्ष्म दृष्टि से चिन्तन करते है तो साम्यवाद समानता की भावना का ही बोधक प्रतीत होता है, इस की जब जैन-दर्शन के कर्मवाद के साथ तुलना करते हैं, तो ऐसा लगता है, कि जैन-दर्शन के कर्मवाद को आज की भाषा में बिना किसी संकोच के साम्यवाद

कहा जा सकता है। जिस प्रकार साम्यवाद संसार को समानता का उपदेश देता है, उसी प्रकार जैनदर्शन का कर्मवाद भी प्रत्येक आत्मा को समानता की बात कहता है। जैनदर्शन का कहना है कि जैसी आत्मा ब्राह्मण में है, वैसी ही आत्मा शूद्र में भी पाई जाती है, जैसी आत्मा राजा में है, वैसी ही रंक में भी है। इसी प्रकार जैसी आत्मा योगियों में है, वैसी ही भोगियों में है। जैनदर्शन के कर्मवाद ने आत्मा को ही महत्त्व दिया है, इसके यहाँ जड़ शरीर का कोई महत्त्व नहीं। शरीर काला है या गोरा, छोटा है या वड़ा, सुन्दर है या असुन्दर, इस से जैनदर्शन के कर्मवाद को कोई मतलव नहीं है, यह तो आत्मिक आचरण को आगे रख कर ही मनुष्य के सुन्दर या असुन्दर होने का निर्णय करता है, कर्मवाद का विश्वास है कि जन्म से कोई व्यक्ति सुन्दर या असुन्दर नहीं होता, पूज्य या अपूज्य नहीं होता, और किसी मनुष्य को जन्म से उच्च या नीच भी नहीं समझा जा सकता। सुन्दरता या असुन्दरता का, उच्चता या नीचता का तथा पूज्यता या अपूज्यता का सम्बन्ध केवल आत्मिक जीवन से ही रहता है। जाति के साथ भी आत्मिक जीवन का कोई सम्वन्ध नहीं है। जैन-दर्शन जन्मना जाति को कोई महत्त्व नहीं देता, वह तो कर्म को ही महत्त्व प्रदान करता है। जैन-दर्शन कर्मगत संयम की ही पूजा करता है। इसीलिए जैनसंस्कृति की छाया तले जीवन यापन करने वाले सज्जनों की हृदयवीणा से यही स्वर निकलता है–

"जाति को काम नहीं जिन मारग,
संयम को प्रभु आदर दीने।"

जैनदर्शन मनुष्य की जाति नहीं पूछता, वह तो उसके संयमी जीवन की ओर ही दृष्टिपात करता है। यदि जीवन में संयम है, सदाचार है, कर्त्तव्य-पालन की भावना है, देश, जाति के उत्थान एवं कल्याण की साधना है तो उसकी दृष्टि में वही जीवन आदरणीय है, वही जीवन देश, जाति का शृंगार बन सकता है। जैन-दर्शन में

यदि जातिवाद का आश्रयण है, तो वह भी कर्म के आधार पर ही है। कर्म को आधार बना कर ही जैनदर्शन व्यक्ति की जाति का निर्धारण करता है। इसीलिए तो एक दिन भगवान महावीर को विश्व के मंच पर यह सत्य उद्घोषित करना पड़ा था—

कम्मुणा बंभणो होइ, कम्मुणा होइ खत्तिओ,
वइसो कम्मुणा होइ, सुद्दो हवइ कम्मुणा।

—उत्तराध्ययन, अ० २५।३३

—मनुष्य कर्म से ब्राह्मण, कर्म से क्षत्रिय, कर्म से वैश्य और कर्म से ही शूद्र होता है। ब्राह्मणत्व, क्षत्रियत्व, वैश्यत्व या शूद्रत्व जन्म से किसी मनुष्य को सम्प्राप्त नहीं होता, भाव यह है कि जन्म से कोई व्यक्ति उच्च या नीच नहीं होता, अछूत या अस्पृश्य नहीं होता। जीवन की ऊंचाई से मनुष्य उच्च और जीवन की नीचता से मनुष्य नीच बनता है। कर्मवाद की भाषा में कहें तो जीवन की उन्नति और अवनति का कारण मनुष्य का अपना अच्छा और बुरा कर्म ही होता है, जाति या जन्म के साथ उस का कोई सम्बन्ध नहीं।

जैनदर्शन के कर्मवाद का दृष्टिकोण बड़ा विशाल है, वह व्यक्ति को अपने तक सीमित रहने का सदा विरोध करता है, उसका उद्घोष है कि अपनी आत्मा में संसार की आत्माओं के दर्शन करो, और संसार की आत्माओं में अपनी आत्मा को देखो। किसी को दूसरा मत समझो, सब में अपनत्व की भावना को ही प्रधानता दो, सब के हिताहित का ध्यान रखो और दूसरों की तृप्ति में अपनी तृप्ति समझो। कर्म-वाद के इस उद्घोष को हम-**उदारचरितानां तु वसुधैव कुटुम्बकम्,** इन शब्दों द्वारा उद्घोषित करके यदि सारे विश्व को अपने ही परिवार के रूप में देखें तो इसमें कर्मवाद का यह उद्घोष साकार रूप लेता हुआ दिखाई देता है। इसीलिए भगवान महावीर ने एक दिन बड़ी दृढता के साथ फरमाया था--

[1]"असंविभागी न हु तस्स मुक्खो"

–जो व्यक्ति बाँटकर नहीं खाता, वह मोक्ष का अधिकारी नहीं हो सकता। भगवान महावीर के इस फरमान से बढ़कर और साम्य-वाद क्या हो सकता है? यह बात भी विशेषरूप से अवगत कर लेनी चाहिए कि वर्तमान-कालिक साम्यवाद हिंसा पर आधारित है, या हिंसा की नींव पर ही टिका हुआ है परन्तु जैनदर्शन का कर्मवाद रूप साम्य-वाद पूर्णरूपेण अहिंसक है, हिंसा-रहित है। इस साम्यवाद में—

"मित्ती मे सव्वभूएसु, वेरं मज्झं न केणइ"[2]

-आवश्यक सूत्र १

इस परम सत्य की भावना मूर्त्तरूप लेती हुई दृष्टिगोचर हो रही है।

जनेतर दर्शन में कहीं [3]शूद्र और नारी को धर्मशास्त्र पढ़ने या सुनने का भी अधिकार नहीं है। कहीं लिखा है कि [4]नारी का जीवन कभी मुक्ति को प्राप्त नहीं कर सकता, नारी किसी भी स्थिति में स्वतन्त्र रहने के योग्य नहीं है, क्योंकि वह पुरुष-प्रधान है, अर्थात् उसके जीवन पर पुरुष का ही स्वामित्व है। कोई कहता है कि [5]स्त्रियाँ, वैश्य और शूद्र ये सब पाप-योनि हैं, पापों के उत्पत्ति-स्थान

---

१ दशवैकालिक० अ० ९, उद्देशक २. गा० २३

२ विश्व के सब प्राणियों से मेरा मैत्रीभाव है, किसी से कोई वैर विरोध नहीं है।

३ न स्त्री-शूद्रौ वेदमधीयताम्।

४ अस्वतन्त्रा स्त्री पुरुष-प्रधाना।-वशिष्ठ-स्मृतिः ५।१

५ "स्त्रियो वैश्यास्तथा शूद्रा. येऽपि स्यु; पापयोनयः"

—भगवद्-गीता अ० ९।३२

हैं। कोई विधान करता है कि [१]शूद्र को ज्ञान नहीं देना चाहिये, न यज्ञ का उच्छिष्ट भाग देना चाहिए, न उसे होम से बचा हुआ भाग मिलना चाहिए, तथा न उस को धर्म का उपदेश ही देना चाहिए। जैनेतर दर्शन के विश्वासानुसार, यदि कोई शूद्र को धर्मोपदेश और व्रत का आदेश देता है तो वह उस शूद्र के साथ असंवृत नामक अन्धकार-मय घोर नरक में जा पड़ता है। ये सब मान्यताएं जैनेतर दर्शन की हैं किन्तु जैन-दर्शन के यहाँ इन मान्यताओं का कोइ मूल्य नहीं है। जैन-दर्शन का कर्मवाद सभी प्राणियों को धर्मशास्त्र पढ़ने और सुनने का अधिकार प्रदान करता है, उसका यह उद्घोष है कि प्रत्येक आत्मा योग्य साधनसामग्री अपनाने पर ऊपर उठता हुआ आत्मा से महात्मा और महात्मा से एक दिन परमात्मा के पद को प्राप्त कर सकता है। व्यवहार में देखा जाता है कि लोहा सदा लोहा नहीं रहता वह भी एक दिन पारस का सान्निध्य या सम्पर्क पाकर स्वर्ण बन सकता है। लोहे की भांति यह जीव भी धर्म-रूप पारस का सम्पर्क मिलने पर एक दिन पारस बन जाता है, परमसाध्य निर्वाण पद को प्राप्त कर सकता है। वस्तुतः यह भव्य आत्मा सम्यग्दर्शन और सम्यक् चारित्र के महापथ पर चलने पर एक दिन कर्मों के मल से छूट जाता है, अहिसा, संयम और तप की त्रिवेणी में स्नान करके जब यह आत्मा सर्वथा निर्मल हो जाता है तो मुक्ति उस से दूर नहीं रहती, जैनदर्शन का कर्म-सिद्धान्त सभी जीवों के लिये स्वर्ग और अपवर्ग का द्वार खोल देता है। इसके सामने ब्राह्मण, क्षत्रिय या वैश्य का कोई प्रश्न नहीं है। सदाचारी चाण्डाल भी यदि इसके सामने आ जाता है

---

१ न शूद्राय मति दद्यान्नोच्छिष्ट न हविष्कृतम्।
न चास्योपदिशेद् धर्मं, न चास्य व्रतमादिशेत्॥
यश्चास्योपदिशेद् धर्मं, यश्चास्य व्रतमादिशेद्।
सोऽसवृत तमो घोर, सह तेन प्रपद्यते॥

—वशिष्ठ-स्मृतिः, अ० १८।१२,१३

तो यह उसका भी पूरा-पूरा आदर करता है, उसे भी मुक्ति के शाश्वत सुख से मालामाल बना डालता है १जैनेतरदर्शन की "—ब्राह्मण दुश्शील हो, दुश्चरित्र हो, तथापि वह पूज्य है, और शूद्र जितेन्द्रिय होने पर पूज्य नही हो सकता"—इस मान्यता के अनुसार जैनदर्शन किसी पूज्य व्यक्ति की पूज्यता, श्रेष्ठता तथा उच्चता का अपलाप नहीं करता। पूज्य व्यक्ति की पूज्यता को सम्मान देकर जैनदर्शन का कर्मवाद मानव जगत को साम्यवाद का वास्तविक सन्देश दे रहा है और यह सन्देश यदि वैयक्तिक, पारिवारिक, सामाजिक और राष्ट्रीय जीवन में साकार रूप धारण कर ले तो सर्वत्र शान्ति का साम्राज्य स्थापित किया जा सकता है, कविता की भाषा में यदि कहें—

साम्यवाद का दे रहा, कर्मवाद सन्देश,
"ज्ञानमुनी" जो मान ले, कभी न पाए क्लेश।

१दु:शीलोऽपि द्विजः पूज्यो, न शूद्रो विजितेन्द्रियः।—पाराशरस्मृतिः

ज्ञानावरणीय कर्म

कर्म क्या होता है ? उस की क्या रूपरेखा है ? आदि सभी बातों को ले कर पीछे की पक्तियो मे चिन्तन प्रस्तुत किया जा चुका है। कर्म का निरूपण करते हुए बताया गया था कि कर्म द्रव्य और भाव इन भेदों से दो प्रकार का होता है। द्रव्य-कर्म के स्वरूप का दिग्दर्शन कराते हुए जैनाचार्यो द्वारा उस के आठ प्रकार निर्दिष्ट किए गए है। कर्म के उन आठ प्रकारो मे सब से पहला प्रकार ज्ञानावरणीयकर्म है। जो कर्म आत्मा की ज्ञानशक्ति को ढक लेता है, उसे आवृत या आच्छादित कर लेता है, या उस पर परदा बन कर छा जाता है, उसे ज्ञानावरणीय कर्म कहा जाता है।

ज्ञानावरणीयकर्म का सीधा प्रहार ज्ञान पर होता है। अतः ज्ञान क्या होता है ? यह जान लेना भी आवश्यक है। जिस के द्वारा पदार्थों को जाना जाता है, उनके स्वरूप का बोध प्राप्त होता है उसे ज्ञान कहते है। भारत के दार्शनिक लोग ज्ञान को आत्मा का गुण मानते हैं, उन की दृष्टि मे आत्मा ज्ञानस्वरूपा होती है। इसलिए तत्त्वार्थ सूत्र मे आचार्यप्रवर श्री उमास्वाति जीव का लक्षण करते हुए फरमाते हैं—

उपयोगो जीवलक्षणम्। तत्त्वार्थ सूत्र अ० २।८

उपयोग—जानने की क्रिया, यह जीव का लक्षण है, स्वरूप है। उप उपसर्गपूर्वक युज् युञ्जने धातु, भाव में घञ् प्रत्ययान्त होने से उपयोग शब्द बनता है। इसका अर्थ है—जिसके द्वारा जीव वस्तु-तत्त्व को जानने का व्यापार करता है। वस्तुतः जीव का बोधरूप व्यापार ही उपयोग समझना चाहिए। यह उपयोग जीव का लक्षण, [स्वरूप] माना गया है। जीव को चेतन, आत्मा आदि नामों से भी

व्यवहृत किया जाता है, अतः जीव कहो या आत्मा, चेतन कहो या जीव, इस में कोई अन्तर नहीं पड़ता। तत्त्वार्थ सूत्र के उक्त सूत्र में आचार्य उमास्वाति जीव के स्वरूप का व्याख्यान करते हुए फरमाते है कि उपयोग अर्थात् ज्ञान आत्मा का स्वरूप होता है, जैसे प्रकाश सूर्य का गुण माना गया है, वैसे ही ज्ञान भी आत्मा का गुण स्वीकार किया गया है। ससार की कोई भी शक्ति आत्मा से ज्ञान को पृथक् नही कर सकती, ये दोनों सदा नित्य सम्बन्ध से सम्बन्धित रहते हैं। १पीछे बताया गया था कि कोई शक्ति जीव को अजीव नही बना सकती और कोई शक्ति अजीव में जीवत्व नही ला सकती। अतः ज्ञान आत्मा का नैसर्गिक गुण है, यह भी कभी आत्मा से जुदा नही किया जा सकता। इस के अतिरिक्त, यह भी समझ लेना चाहिए कि जीव अतीन्द्रिय पदार्थ है, यह चर्मचक्षुओं से देखा नही जा सकता। श्री स्थानाङ्ग सूत्र के अनुसार केवल आत्मद्रव्य ही नही, अन्य भी अनेको ऐसे द्रव्य है जिन्हें यह छद्मस्थ जीव देख नहीं पाता, स्थानाङ्ग सूत्र के पांचवें स्थान, तृतीय उद्देशक तथा ४५०वे सूत्र में भगवान महावीर का फरमान है कि पांच वोल छद्मस्थ ●साक्षात् नही जानता, जैसे कि १—**धर्मास्तिकाय**—वह द्रव्य जो गति-परिणाम वाले जीव और पुद्गलो की गति में सहायक बनता है, जैसे मछली के लिए पानी। २ **अधर्मास्तिकाय**-वह द्रव्य जो स्थिति-परिणाम वाले जीव और पुद्गलों की स्थिति में सहायक बनता है। जैसे श्रान्त पथिक के लिए छायादार वृक्ष। ३—**आकाशास्तिकाय**—वह द्रव्य जो जीवादि द्रव्यों को रहने के लिये स्थान देता है। जैसे जल से परिपूरित भाजन में भी जो रंग को स्थान

१देखो पृष्ठ ६१······

●धर्मास्तिकाय आदि द्रव्य अमूर्त्त हैं, अतः अवधिज्ञानी उन्हें नही जानता, किन्तु परमाणुपुद्गल मूर्त्त द्रव्य है, रूपी पदार्थ है, और उसे अवधिज्ञानी जानता है, अतः यहां छद्मस्थ शब्द से अवधिज्ञान आदि के अतिशय से रहित छद्मस्थ प्राणी ही समझना चाहिए।

मिल जाता है,यह आकाश द्रव्य का ही प्रताप है। ४-शरीर-रहित-जीव, और ५. परमाणु-पुद्गल—पुद्गल का अत्यधिक सूक्ष्म और निरंश भाग। श्री स्थानाङ्ग सूत्र ●के इस वर्णन से यह भली-भाँति स्पष्ट हो जाता है कि जीव का साक्षात्कार नहीं हो पाता, अतएव उसे अतीन्द्रिय कहा जाता है।

ऊपर की पंक्तियों में स्पष्ट रूप से यह व्यक्त किया जा चुका है कि ज्ञान आत्मा का गुण है, उसका अपना स्वरूप है। इसी ज्ञानगुण के आधार पर जीव में सुख और दुःख की अनुभूति चलती है, यदि ज्ञान का अस्तित्व न हो तो जीव में चेतना के दर्शन नहीं हो सकते, चेतन की चेतना का मूल आधार ज्ञान या बोध ही होता है। ज्ञान के कारण ही जीव-द्रव्य, अजीव द्रव्य से पृथक् माना जाता है। अन्यथा जीव और अजीव में कोई अन्तर नहीं रह सकता। जीव को अजीव से पृथक् करने वाली संसार में यदि कोई शक्ति है तो वह केवल ज्ञान ही है। जीव के इसी ज्ञान-गुण को परदा या बुर्का बनकर जो शक्ति ढाँप लेती है, उसी शक्ति को शास्त्रीय भाषा में ज्ञानावरणीय कर्म कहते हैं। इस शक्ति के प्रभाव से ज्ञान का विशाल भण्डार होने पर भी यह जीव ऐसा लगता है कि जैसे यह सर्वथा अबोध हो, इसे कुछ आता ही नहीं हो या यह कोरा निरक्षर भट्टाचार्य हो। ज्ञानावरणीय कर्म की शक्ति जीव के ज्ञानप्रकाश को कैसे आवृत या आच्छादित कर लेती है? इस सत्य को निम्नोक्त उदाहरणों से समझ लीजिए।

सूर्य आपके सामने है, यह संसार को प्रकाश प्रदान करता है।

●स्थानांगसूत्र के दसवें स्थान में तथा भगवतीसूत्र के शतक ८, उद्देशक २ में छद्मस्थ के न देखने वाली दस बातें लिखी हैं। उपर्युक्त ५ के अतिरिक्त अवशिष्ट ५ बातें ये है—१-वायु, २-शब्द, ३-गन्ध, ४-यह पुरुष केवली होगा या नहीं? और ५. यह सामान्य पुरुष सर्वदुःखों का अन्त करके सिद्ध, बुद्ध और मुक्त बन सकता है या नहीं? श्री जैनसिद्धान्त-बोलसंग्रह तृतीय भाग पृष्ठ ३८९ और ३९०।

अन्धकार को भगा देता है। इसके प्रताप से घर-घर में उजाला हो जाता है। परन्तु प्रकाशस्वरूप इस सूर्य को जब काली-काली घनघोर घटायें आकर घेर लेती हैं तो चारों ओर अन्धकार फैल जाता है, कई बार तो इतना अधिक अन्धकार छा जाता है कि दिन में ही दीपक जगमगाने पड़ते हैं। ऐसी स्थिति में भी, सूर्य भले ही अपना प्रकाश बिखेरता रहता है, परन्तु घनघोर घटायें उसमें रुकावट डाल देती हैं, उसे अपना काम नहीं करने देतीं। सूर्य प्रकाशपुञ्ज होने पर भी जैसे घनघोर घटाओं से आवृत हो जाने के कारण जगती को प्रकाशमयी नहीं बना पाता, प्रकाश नहीं बिखेर सकता, वैसे ही आत्म-सूर्य पर जब ज्ञानावरणीय कर्म की काली-काली घनघोर घटाएं आकर छा जाती हैं तो उसका ज्ञानप्रकाश भी ढका जाता है, और उसके चारों ओर अज्ञानरूप अन्धकार छा जाता है। ज्ञानपुञ्ज होने पर भी जीव ज्ञान-शून्य सा अनुभव होने लगता है। तीन लोक का एक साथ ज्ञान प्राप्त करने की क्षमता रखने वाले इस जीव को यह भी पता यहीं चलता कि इस ससय मेरी पीठ के पीछे कौन बैठा है?, बिल्कुल पास की सीढ़ियों से ऊपर कौन व्यक्ति चढ़ रहा है? जीव की यह सब अबोधपूर्ण दशा का मूलकारण ज्ञानावरणीय कर्म का प्रभाव ही होता है।

इसके अतिरिक्त, यह भी समझ लेना चाहिए कि सूर्य को आवृत करने वाले मेघ जितने अधिक गहरे होते चले जाते हैं। उतना ही अधिक अन्धकार फैलता चला जाता है। इसके विपरीत, मेघ जितने-जितने हलके होते चले चाते हैं उतना-उतना अन्धकार भी कम होता रहता है और धीरे-धीरे प्रकाश बढ़ने लगता है। ठीक यही दशा ज्ञानावरणीय कर्म के छा जाने पर आत्मा की होती है, ज्ञानावरणीय-कर्म का परदा जितना अधिक बलवान और शक्तिशाली होता है, उतना ही जीव में अज्ञानान्धकार बढता चला जाता है, और ज्ञाना-वरणीय कर्म के बादल जितने हलके और शक्तिहीन होते हैं उतना ही उसके अज्ञान का अन्धकार हलका हो जाता है। इसीलिए विचा-

एक महापुरुषों ने आत्मा को एक सूर्य के समान माना है और ज्ञानावरणीय कर्म को मेघ की उपमा से उपमित किया है।

दूसरा उदाहरण लीजिए। पूर्णिमा का चन्द्रमा है। यह सोलह कलासम्पूर्ण होता है, संसार को प्रकाश देता है। चन्द्रोदय होने पर मुरझाए हुए चन्द्रमुखी फूलों को नया जीवन प्राप्त होता है, उन में नव चेतना सी जाग उठती है, अन्धकार चोरों की भाँति दुम दबा कर भागने लगता है, चारों ओर चान्दनी प्रसारित हो जाती है, वातावरण बड़ा सुरम्य और सरस बन जाता है, परन्तु पूर्णिमा के इसी चन्द्रमा को जब ग्रहण लग जाता है, राहु मानों इसे दबोच लेने का प्रयास करता है तो अन्धकार होना आरम्भ हो जाता है, ज्यों-ज्यों ग्रहण बढ़ता चला जाता है, त्यों-त्यों अन्धकार भी बढ़ता चला जाता है। यही स्थिति ज्ञानावरणीय कर्म से आच्छादित आत्मा की भी समझ लेनी चाहिये। कल्पना करो, आत्मा पूर्णिमा का चन्द्रमा है और ज्ञानावरणीय कर्म ग्रहण बन कर उसे आक्रान्त या आच्छादित किए हुए है। जैसे ग्रहण चन्द्रमा के प्रकाश को आवृत कर लेता है, या आच्छादित कर देता है, बिल्कुल इसी तरह ही ज्ञानावरणीय कर्म का ग्रहण भी आत्मा के ज्ञान को ढक लेता है उस पर परदा बन कर छा जाता है। भले ही यह आत्मा अनन्त ज्ञान का धनी है, मालिक है तथापि ज्ञानावरणीय कर्म से आवृत होने पर ऐसा अनुभव होता है कि जैसे यह ज्ञान के प्रकाश से बिल्कुल शून्य या खाली हो रहा हो। आत्मा की इस अज्ञानमय दशा का मूल कारण ज्ञानावरणीय कर्म का ग्रहण ही होता है। जैसे ग्रहण के दूर हो जाने पर चन्द्रमा प्रकाश बिखेरने लगता है, और अन्धकार हटना आरम्भ हो जाता है वैसे ही ज्ञानावरणीय कर्म का ग्रहण दूर होने पर यह जीवात्मा अज्ञानता के अन्धकार से निकल कर ज्ञान के प्रकाश में आना आरम्भ कर देता है। इस विवेचन से यह स्पष्ट हो जाता है कि ज्ञानावरणीय कर्म के ग्रहण से जब यह जीवात्मा ग्रसा जाता है तो यह अपने को अबोध दशा में

उपलब्ध करता है, किन्तु ज्यों ही यह इस ग्रहण से छूट जाता है, तो यह प्रकाशमय होने की अनुभूति करता है और सर्वत्र प्रकाश बिखेरना आरम्भ कर देता है।

तीसरा उदाहरण लीजिए। लालटेन आपके सामने है। लालटेन हाथ में लटकाने लायक एक लैम्प होता है, अंग्रेजी भाषा में इसे लैंटर्न कहते हैं। इसकी चिमनी के अन्दर शिखा (बत्ती) जलती है। शिखा से हलका-हलका धुआँ निकलता रहता है। शिखा के इस धूम से चिमनी धीरे-धीरे काली होनी आरंभ हो जाती है। यदि धूमजन्य इस कालिमा को दूर न किया जाए तो धीरे-धीरे यह चिमनी को विल्कुल काला-स्याह वना देता है, चिमनी के बिल्कुल स्याह हो जाने पर लालटेन का प्रकाश वाहिर आना रुक जाता है। लालटेन से पदार्थों को प्रकाशमय बनाने का जो उद्देश्य है, वह पूरा नहीं हो पाता। कालिमा की अधिकता के कारण ही चिमनी अन्धकार को समाप्त करने की क्षमता खो बैठती है। यह सत्य है कि चिमनी के अन्दर शिखा जल रही है, अपना प्रकाश बिखेर रही है, परन्तु चिमनी की कालिमा उस के प्रकाश को वाहिर लाने में रुकावट बन जाती है, यही कारण है कि ज्योति-सम्पन्न हाने पर भी चिमनी अन्धकार का विनाश करने में समर्थ नहीं रहती। जैसे चिमनी की कालिमा शिखा के प्रकाश को बाहिर नहीं जाने देती, ठीक इसी तरह ज्ञानावरणीय कर्म की कालिमा आत्मा-रूपी शिखा की ज्ञान-ज्योति को बाहिर नहीं आने देती! आत्मा ज्ञान की ज्योति से सदा ज्योतिर्मय रहता है, इस की ज्योति में इतनी अधिक क्षमता है कि विश्व का कण-कण उस से ज्योतित हो सकता है, संसार का ऐसा कोई भी पदार्थ नहीं है, जो इस ज्योति से ज्योतिर्मान न हो जाए। अधिक क्या, अनन्तानन्त सूर्यों की ज्योति भी इस जीवात्मा में अवस्थित ज्योति की समानता नहीं कर सकती, किन्तु ज्ञानावरणीय कर्म की कालिमा इतनी शक्तिशाली एवं भयंकर होती है कि उसने आत्मा की ज्ञान-ज्योति को बुरी तरह

आच्छादित कर रखा है। आत्मा ज्ञान-ज्योति का निधान होने पर भी ऐसा बन जाता है कि जैसे उस में ज्ञान-ज्योति का अभाव ही चल रहा हो। इस वर्णन से हम यह अभिव्यक्त करना चाहते हैं कि आत्मा की ज्ञान-ज्योति लालटेन की शिखा की ज्योति के समान समझनी चाहिए, और लालटेन की चिमनी पर लगी कालिमा को ज्ञानावरणीय कर्म का रूप दिया जाना चाहिए। इसके अतिरिक्त, यह भी समझ लेना चाहिये कि यदि लालटेन की चिमनी की कालिमा को वस्त्रादि से साफ करना आरम्भ कर दिया जाए और इसे इतना साफ कर दिया जाए कि चिमनी अपने असली स्वरूप में आ जाए तो उस में अवस्थित शिखा की ज्योति स्पष्टरूप मे अभिव्यक्त होने लगती है, परिणाम-स्वरूप उस की प्रकाश-किरणें अन्धकार से लड़ सकती हैं, उसे भगाने में सफल हो सकती हैं। जैसे कालिमा का अपहार हो जाने से चिमनी प्रकाश फैलाना आरम्भ कर देती है। बिल्कुल वैसे ही ज्ञानावरणीय कर्म की कालिमा जब आत्मरूप शिखा से दूर होनी आरम्भ हो जाती है तो उस का ज्ञानप्रकाश भी प्रकट होकर अज्ञान के अन्धकार को दूर कर डालता है। इस वर्णन से यह भी स्पष्ट हो जाता है कि चिमनी की कालिमा जितने-जितने अंश में साफ होती चली जाती है, उतने-उतने अंश में जैसे वह प्रकाश का प्रसार कर पाती है, इसी भाँति ज्ञानावरणीय कर्म की कालिमा जितने-जितने अंश में आत्मा की शिखा से दूर होती रहती है, उतने-उतने अंश में ही आत्मरूप शिखा ज्ञान का प्रकाश कर सकती है, उससे अधिक नहीं।

आत्मा, ज्ञान से शून्य नहीं होती–

यह सत्य है कि ज्ञानावरणीय कर्म आत्मा की ज्ञानज्योति को आवृत कर लेता है, परन्तु यह बात विशेष रूप से समझ लेनी चाहिये कि ज्ञानावरणीय कर्म आत्मा के ज्ञानगुण को केवल परदा बन कर ढाँप ही सकता है, उसे समाप्त नहीं कर सकता, क्योंकि ज्ञान आत्मा का ऐसा नैसर्गिक और स्वाभाविक गुण है, जो सदा इसके साथ रहने

वाला है और जिसे विश्व की बड़ी से बड़ी कोई भी शक्ति आत्मा से पृथक् नहीं कर सकती। उपर के प्रकरण में ज्ञानावरणीय कर्म के स्वरूप को समझाने के लिए जितने भी उदाहरण प्रस्तुत किए गए हैं, वे सब के सब भी इस सत्यता की पुष्टि कर रहे हैं। सब से पहले सूर्य और उस को आच्छादित करने वाले बादलों का उदाहरण दिया गया है।सर्व-प्रथम इसी पर विचार करलें। काली-काली घनघोर घटाएँ भले ही सूर्य को आवृत कर लें, सूर्य के प्रकाश का आच्छादित कर दें, और सर्वत्र अन्धकार ही अन्धकार प्रसारित कर दें, यह सब कुछ होने पर भी वे घटाएँ सूर्य की ज्योति का विनाश नहीं कर सकतीं, उसे आमूल-चूल समाप्त नहीं कर पातीं,। इस सत्य से कौन इन्कार कर सकता है कि कितने भी भंयकर से भंयकर मेघों के दल सूर्य को आक्रान्त करलें परन्तु सूर्य की किरणों में प्रकाश प्रदान करने की क्षमता ज्यों की त्यों बनी रहती है, इस का किसी भी मूल्य पर अपहरण नहीं हो सकता। व्यवहार इस सत्य का गवाह है सूर्य को कितनी भी काले-काले घनघोर बादल आवृत करलें, तथापि दिन, दिन ही रहता है, वह कदापि रात्रि का रूप नहीं ले सकता। यही स्थिति चन्द्रग्रहण की होती है। चन्द्रमा जब ग्रहण से ग्रस लिया जाता है, भले ही उस समय सर्वत्र अन्धकार की कालिमा व्याप्त हो जाए, तथापि ग्रहण चन्द्रमा की ज्योति का मूलरूप से विनाश नहीं कर सकता, केवल वह उसे आच्छादित तो कर लेता है, परन्तु उसे समाप्त करने का उसमें सामर्थ्य नहीं है। इसी प्रकार लालटेन की चिमनी जितनी-जितनी मात्रा में काली होती चली जाती है, उतना-उतना अन्धकार बढता चला जाता है, अन्धकार के बढ जाने का यह अर्थ नहीं है कि उस कालिमा ने शिखा की ज्योति का स्वरूप ही समाप्त कर दिया हो। जैसे मेघ सूर्य को घेर लेते हैं, ग्रहण चन्द्रमा को ग्रस लेता है और लालटेन की चिमनी की कालिमा शिखा के प्रकाश को बाहिर आने में रुकावट पैदा कर देती है, ठीक वैसे ही ज्ञानावरणीय कर्म के मेघ आत्मारूपी सूर्य

को आक्रान्त कर लेते हैं, ज्ञानावरणीय कर्म का ग्रहण आत्मारूपी चन्द्रमा की ज्योति को रोक लेता है तथा ज्ञानावरणीय की कालिमा आत्मारूपी शिखा की ज्योति को आवृत करके उसे बाहिर नहीं आने देती। कुछ भी हो, इन सब दशाओं में भी आत्मा का ज्ञानप्रकाश पहले की भांति अवस्थित रहता है, मूलरूप से उस का कभी नाश नहीं हो सकता।

बुद्धिगत विभिन्नता क्यों ?—

ऊपर की पंक्तियों में जो उदाहरण प्रस्तुत किए गए हैं, इनका परिशीलन करने पर एक बात बिल्कुल स्पष्ट हो जाती है कि ज्ञानावरणीय कर्म जितना अधिक बलवान होता है, अज्ञानता का उतना ही अधिक ज़ोर होता है, इस के विपरीत, ज्ञानावरणीय कर्म जितना-जितना हलका और शक्तिहीन होता रहता है, उतनी-उतनी अज्ञानता हलकी और कमज़ोर होती जाती है। कहा जा चुका है कि सूर्य पर छा जाने वाले बादल जितने गहरे और बलवान होते हैं उतना ही अन्धकार अधिक होता है. और बादल जितने हलके होते हैं, अन्धकार भी उतना ही हलका हो जाता है। इसी प्रकार ज्ञानावरणीय कर्म की जितनी अधिक सघनता रहती है. अज्ञानान्धकार उतना ही अधिक सघन होता है, और जितना यह कर्म हलका होता है, उतना ही अन्धकार हलका हो जाता है। वस्त्र के उदाहरण से भी इस तथ्य को सुविधापूर्वक जाना जा सकता है। कल्पना करो, एक सफेद कपड़ा है, उस पर मल की तहें जितनी हलकी और कमज़ोर होती हैं, कपड़ा उतना ही कम मैला दृष्टिगोचर होता है, इस के विपरीत, वस्त्र पर जितनी-जितनी मल की तहें बढ़ती चली जाती हैं, और उनमें जितनी-जितनी स्थूलता आती जाती है, वस्त्र उतना-उतना ही अधिक समल (मैला) होता जाता है, उसकी श्वेतिमा (सफेदी) घटती चली जाती है। यही स्थिति इस जीवात्मा की होती है। जीवात्मारूपी कपड़े पर ज्ञानावरणीय कर्म के मल की तहें जितनी मोटी, स्थूल और

अधिक शक्तिशाली होती चली जाती हैं, ज्ञान की श्वेतिमा उतनी ही अधिक कम होती चली जाती है, और जितना यह मल कमज़ोर होता जाएगा, ज्ञान की श्वेतिमा उतनी ही अधिक बढ़ने लग जाएगी।

व्यवहार के क्षेत्र में हम प्रतिदिन देखते हैं कि कुछ बालक ऐसे प्रतिभाशाली होते हैं कि स्कूल में मास्टर उन्हें जो कुछ पढ़ाता है वह तत्काल सुनते ही याद कर लेते हैं, कुछ बालक ऐसे भी देखने में आते हैं, जो स्कूल में अध्ययन करते समय अपने पाठ को याद नहीं कर पाते, वे अपना पाठ घर आकर याद करते हैं और कुछ बालक ऐसे भी पाए जाते हैं जो सारा दिन घर बैठ कर पाठ याद करने का प्रयत्न करते हैं, दिल लगा कर परिश्रम भी करते हैं। अधिक क्या, तोते की तरह अपने पाठ को रटते रहते है, तथापि उनको अपना पाठ बड़ी कठिनता से याद होता है, इस पर भी रात्रि भर विश्राम कर के जब प्रातः सो कर उठते हैं तो याद किया कराया सब चौपट हो जाता है। इसके अतिरिक्त, कुछ बालक ऐसे भी उपलब्ध होते हैं जो एक पाठ को कई-कई दिन तक याद करने में लगे रहते हैं, घर वाले ट्यूशन के द्वारा भी उन बालकों की अध्ययन-गत कमी को पूरा करने में प्रयास करते हैं, इतना कुछ होने पर भी उन बालकों के पल्ले कुछ नहीं पड़ता, खाली के खाली ही रहते हैं, एक छोटा-सा पाठ भी वे याद नहीं कर पाते और अन्त में फेल हो जाते हैं। ये सब उदाहरण देने का हमारा इतना ही उद्देश्य है कि इस तरह बालकों के अन्दर बुद्धि की अधिकता, सामान्यता, न्यूनता और अत्यधिक न्यूनता देखने को मिलती है। प्रश्न उपस्थित होता है, कि बुद्धि-गत इस विचित्रता या विभिन्नता का मूल कारण क्या है? कौनसी ऐसी शक्ति है, जो बालकों की बुद्धि में यह विषमता उत्पन्न करती रहती है?

कुछ लोगों का विचार है कि बालकों के विद्या-जीवन में जो यह विभिन्नता या विचित्रता दृष्टिगोचर हो रही है, इस का मूल कारण ईश्वर है या कोई देवी-देवता है। उन की मान्यता है कि जिस बालक

पर ईश्वर प्रसन्न होता है, अपनी कृपा का वरद-हाथ उस के सर पर रख देता है, तो वह बालक विद्या के प्रकाश से प्रकाशमान हो उठता है, विद्या की सम्पत्ति उस की चरण-सेविका बनकर उस की सेवा करती है, और जिस बालक पर ईश्वर असन्तुष्ट हो जाता है, दया का अपना सुखद हाथ उसके सर से उठा लेता है, तो लाख प्रयत्न करने पर भी वह बालक सफल नहीं हो पाता, सर्वत्र उसे निराशा एवं हताशा के ही दर्शन होते हैं किन्तु जैन-दर्शन बुद्धिगत इस विभिन्नता का कारण ज्ञानावरणीय कर्म स्वीकार करता है। जिस बालक के जीवन में ज्ञानावरणीय कर्म का बहुत अधिक प्रभाव या प्रकोप होता है, उस बालक की बौद्धिक शक्ति बहुत अधिक कमज़ोर होती है, और जिस बालक के जीवन में ज्ञानावरणीय कर्म का प्रकोप न बहुत अधिक और न बहुत स्वल्प अर्थात् दरमियानी अवस्था में होता है वह बालक दरमियानी दशा में शिक्षण-क्षेत्र में आगे बढ़ सकता है और जिस बालक पर ज्ञानावरणीय कर्म के प्रकोप ने पूर्ण रूप से अधिकार जमा रखा है, उस बालक की बौद्धिक शक्ति बहुत दुर्बल होती है, और वह लाख प्रयत्न एवं प्रयास करने के अनन्तर भी विद्या को अधिगत करने में सफल नहीं हो सकता। इस ऊहापोह से यह स्पष्ट हो जाता है कि व्यक्तियों की बुद्धियों या मस्तिष्कों में जो अन्तर या वैचित्र्य दृष्टिगोचर होता है, अर्थात् किसी व्यक्ति में बौद्धिक शक्ति अधिक होती है, और किसी में बौद्धिक शक्ति की स्वल्पता पाई जाती है, ये सब बातें ज्ञानावरणीय कर्म के प्रभाव से ही सम्पन्न होती हैं। जिस व्यक्ति के आत्मप्रदेशों पर ज्ञानावरणीय कर्म के परमाणुओं का ज़ोरदार प्रभाव चलता है, उसकी बौद्धिक शक्ति अत्यधिक दुर्बल और जिस पर इन का प्रभाव बहुत अधिक शिथिल होता है, उस की बौद्धिक शक्ति अत्यधिक प्रबल होती है। बौद्धिक शक्ति की इस प्रबलता या प्रकर्षता की कुछ एक चमत्कार-पूर्ण घटनाएं अग्रिम पंक्तियों में निवेदन करता हूं—

आचार्य श्री भद्रबाहु स्वामी—

बौद्धिक शक्तियों की विलक्षणता के चमत्कार यदि अतीतकालीन इतिहास में देखना चाहें तो अनेकों देखे जा सकते हैं। महामहिम आचार्य भद्रबाहु स्वामी श्रुत-केवली थे और इनको १४ पूर्व कण्ठस्थ थे। जैन-शास्त्रों की मान्यतानुसार पूर्व कोई साधारण शास्त्र नहीं होता। किसी पूर्व में ९६ लाख पद होते हैं तो किसी पूर्व में एक करोड़ पदों की संख्या पाई जाती है। चौदह पूर्वों के समस्त पद ८३ करोड़, २६ लाख, आठ हजार पांच (८३,२६,०८००५) माने जाते हैं, ये सब पद आचार्य श्री भद्रबाहु स्वामी को याद थे। महा-महिम मुनिवर स्थूलिभद्र जी महाराज को दस पूर्वो का ज्ञान था। वीर-निर्वाण से ९८० वर्ष बाद तक पूज्य देवर्द्धिगणी क्षमाश्रमण के समय तक के साधुओं ने गुरुपरम्परा के अनुसार समस्त जैनागमों को कण्ठस्थ ही कर रखा था यह उनकी अद्भुत स्मरणशक्ति का ही निराला चमत्कार था।

शकडाल की सात पुत्रियाँ—

शकडाल महाराज नन्द के महामन्त्री थे, महामन्त्री सातपुत्रियों और दो पुत्रों के पिता थे। लडकियां बडी सुशीला और शिक्षिता थीं। सातों की बौद्धिक शक्ति बड़ी विचित्र थी। पहली लड़की किसी पाठ को पहली बार सुनकर याद कर लेती थी। दूसरी दो बार सुनकर, इसी प्रकार तीसरी तीन बार, चौथी चार बार, पांचवीं पांच बार, छठी छह बार और सातवीं सात बार। महाराजा नन्द बड़े दानी व्यक्ति थे। संस्कृत के नए-नए श्लोक सुनने में उन्हें बड़ा रस आता था। इसी लिए यदि कोई व्यक्ति महाराजा को कोई नया श्लोक सुना देता था तो वे आनन्द-विभोर होकर उस व्यक्ति को एक लाख स्वर्णमुद्राएं दे दिया करते थे। इन्हीं दिनों वररुचि नाम के ब्राह्मण बड़े विद्वान् और कविता के क्षेत्र में बड़े प्रसिद्ध थे। परि-णाम-स्वरूप पता लगाने पर पण्डित वररुचि जी प्रतिदिन राजदर-

बार में आने लगे और महाराज नन्द को एक नया श्लोक सुनाकर एक लाख स्वर्णमुद्राओं का पुरस्कार प्राप्त करने लगे। यह दशा देखकर महामन्त्री शकडाल ने एक दिन विचार किया कि ऐसे तो राज्य का सारा कोष ही समाप्त हो जायगा। इस रोग का शीघ्र ही उपचार करना चाहिए। उन्हें पता था कि मेरी लड़कियों के पास ऐसी स्मरण शक्ति है कि पहली एक बार सुनने से श्लोक याद कर लेती है, दूसरी दो बार, तीसरी तीन बार और चौथी लड़की चार बार इसी तरह सातवीं सात बार श्लोक का श्रवण करके उसे हृदयंगम कर लेती है। महामन्त्री ने विचार किया कि लड़कियों की स्मरण शक्ति का प्रयोग करके पण्डित-राज वररुचि से अपना पिण्ड छुड़ाना चाहिए। अगले दिन जब पण्डित वररुचि जी ने महाराजा नन्द को नया श्लोक सुनाया तो महामन्त्री की पहली पुत्री अपने पिता के संकेतानुसार वररुचि से सामने आकर कहने लगी—पण्डित जी ! यह तो पुराना श्लोक है, नया नहीं है। लड़की की बात सुनकर पण्डित जी सटपटाए, बोले-श्लोक बिल्कुल नया है, मैंने अभी-अभी इस की रचना की है। तुम्हारे पास क्या प्रमाण है कि श्लोक पुराना है, नया नहीं है ? पण्डित जी की बात सुनकर लड़की बोली—इस में प्रमाण की क्या आवश्यकता है। यह श्लोक तो मुझे भी याद है। पण्डित जी के—सुनाओ, यह कहने की देर थी कि लड़की ने तत्काल वह श्लोक सुना दिया। फिर दूसरी बोली–यह तो मुझे भी याद है, उसके सुनाने पर तीसरी ने कहा—इस श्लोक को तो मैं भी जानती हूं, इसी प्रकार चौथी, पांचवी, छठी और सातवीं लड़की ने भी उस श्लोक को सब के सामने सुना दिया। सब लड़कियों से श्लोक सुनकर पण्डित वररुचि जी बड़े लज्जित हुए और बिना दक्षिणा लिए ही वहां से विदा हो गए।

महामन्त्री शकडाल की सातपुत्रियों के उक्त उदाहरण से यह स्पष्ट हो जाता है कि जिस आत्मा पर ज्ञानावरणीय कर्म का प्रभाव

जितना स्वल्प होता है, उस आत्मा में उतने ही अधिक ज्ञान के दीपक जगमगाने लग जाते हैं तथा वहां बुद्धि इतनी अधिक निखर जाती है कि दुनिया उसे चमत्कार के रूप में देखती है।

ऊपर की पंक्तियों में अतीतकालीन बौद्धिक चमत्कारों के कुछ दृश्य प्रस्तुत किए गए हैं। अतीत काल की भांति आधुनिक काल में भी बौद्धिक शक्तियों के चमत्कार देखने और सुनने को मिलते हैं। जानकारी के लिए कुछ एक चमत्कार अग्रिम पंक्तियों में निवेदन करने लगा हूं।

लाला हरदयाल M.A. –

भारत का ऐसा कौन व्यक्ति होगा, जो लाला हरदयाल एम.ए. को नहीं जानता होगा ! लाला जी के सम्बन्ध में कहा जाता है कि इनकी बौद्धिक शक्ति बहुत तीव्र थी, तेज़ थी। ये इतने अधिक प्रतिभाशाली व्यक्ति थे, कि जिस बात को एक बार सुन लेते थे या जिस वस्तु को एक बार देख लेते थे कभी उसे भूलते नहीं थे। पुस्तक का जो अक्षर एक बार उनके नयनों ने निहार लिया, ध्यानपूर्वक पढ़ लिया तो वह सदा के लिए इनका ही हो जाता था, उसे कभी मस्तिष्क से निकलने नहीं देते थे, अधिक क्या, इनकी स्मरण शक्ति कुछ निराली ही थी, अन्यत्र जिसकी कोई दूसरी उपमा नहीं मिल रही थी, उसकी विलक्षणता के सम्बन्ध में कहा जाता है कि लाला जी जिस किसी पुस्तक को जब आरम्भ से अन्त तक पढ़ लेते थे तो वह सारी की सारी पुस्तक इनको याद हो जाती थी और इस पर भी यह विलक्षणता थी कि लाला जी पुस्तक को अन्त की ओर से आरम्भ करके अथ तक मौखिक ही सुना दिया करते थे। यह तो आमतौर पर देखने में आता है कि याद किए हुए पाठ को आरम्भ से अन्त तक सुनाया जाता है, किन्तु यह देखने में नहीं आता कि जिस तरह पाठ को अन्त से इति तक मौखिक सुनाया जा सकता है बिल्कुल उसी तरह पाठ को इति से आरम्भ करके अथ तक सुना

दिया जाए, परन्तु लाला हरदयाल एम.ए. के जीवन में यह सत्य साकार रूप ले रहा था, प्रकृति का चमत्कार समझिए कि लाला जी में ऐसी बौद्धिक विलक्षणता थी कि वह पठित पुस्तक को जिस मस्ती के साथ अथ से इति तक मौखिक सुना दिया करते थे उसी मस्ती के साथ बिना किसी घबराहट के उसी पठित पुस्तक को इति से आरम्भ करके अथ तक सुना डालते थे। यह बौद्धिक शक्ति का एक अनूठा चमत्कार नहीं तो और क्या है ? परन्तु यह बौद्धिक चमत्कार ज्ञानावरणीय कर्म की अत्यधिक दुर्बलता के कारण ही व्यक्ति को सम्प्राप्त हो सकता है, अन्यथा नहीं।

शतावधानी श्री रत्नचन्द्र जी महाराज—

जैन—समाज की विभूतियों में शतावधानी, पंडितरत्न श्रद्धेय, श्रीरत्नचन्द्रजी महाराज का अपना एक महत्त्वपूर्ण स्थान था, संस्कृत-प्राकृत भाषा के ये बड़े ऊँचे विद्वान थे, इन्होंने प्राकृत-भाषा के विकास एवं प्रचार के लिए समाज को बड़ा सुन्दर साहित्य प्रदान किया है। अपने युग में ये भी बड़े जाने माने और सम्मानास्पद एक विद्वान मुनिराज थे, स्थानक-वासी जैन-समाज को इनके वैदुष्य पर बड़ा मान रहा है। इनके जीवन की एक बहुत-बड़ी विशेषता थी —अवधान करना। वैसे कोषकारों के मत में अवधान शब्द ध्यान, मनोयोग, किसी विषय में मन की एकाग्रता, इन अर्थों का बोधक समझा जाता है, परन्तु प्रस्तुत में अवधान शब्द प्रश्न के समाधान का परिचायक ही समझना चाहिए। श्रद्धेय श्री रत्नचन्द्र जी-महाराज एक साथ किए गये सौ प्रश्नों के एक साथ १०० उत्तर दे दिया करते थे इसलिए ये जैन-जगत में तथा अजैन-जगत में शतावधानी के नाम से प्रख्यात हो रहे थे। एक बार यही शतावधानी श्री रत्नचन्द्र जी महाराज लुधियाना पधारे थे। उन दिनों लुधियाना में महामहिम, गणावच्छेदक प्रातःस्मरणीय परम श्रद्धेय स्वामी श्री गणपतराय जी महाराज, इन के सुशिष्य स्वनामधन्य,

स्थविर-पद-विभूषित, सेवा-धर्म के महान आराधक मुनिराज **परम श्रद्धेय श्री स्वामी शालिग्रामजी महाराज** तथा उनके सुशिष्य जैन-धर्म—दिवाकर, आचार्य-सम्राट् परम श्रद्धेय **पूज्य श्री आत्माराम जी महाराज*** अपनी शिष्य मण्डली सहित विराजमान थे। मुझे अच्छी तरह याद है कि मैं (इन पंक्तियों का-लेखक) उस समय वैराग्य-दशा की ओर अग्रसर हो रहा था। इसी लुधियाना में श्रद्धेय श्री रत्नचन्द्र जी महाराज के सर्व-प्रथम पावन दर्शन करने का सौभाग्य मुझे प्राप्त हुआ था। इनके साथ उस समय पंजाब-केसरी हृदय-सम्राट् पंजाब के मनोनीत आचार्य **पूज्य श्री कांशीराम जी महाराज,** भी अवस्थित थे। श्रद्धेय पूज्य श्री-कांशीराम जी महाराज इन्हें पंजाब का भ्रमण करवा रहे थे पंजाब के क्षेत्रों को पावन करते हुए ये पंजाब की जानी-मानी प्रसिद्ध संस्था श्री जिनेन्द्र गुरुकुल पंचकूला में पधारे। जिनेन्द्र गुरुकुल पंचकूला स्थानकवासी जैन-समाज की एक समानास्पद शिक्षण-संस्था है। स्वामी घनीराम जी और पण्डितप्रवर श्री कृष्ण-चंद्र जी आचार्य के हाथों इस संस्था का संस्थापन हुआ है। इसी गुरुकुल की पावन धरती पर वार्षिक महोत्सव के शुभ अवसर पर श्रद्धेय श्री रत्नचन्द्रजी महाराज ने सौ अवधान किए थे। इस अवधान में जनता की ओर से महाराज जी से भिन्न-भिन्न प्रकार के एक साथ लगातार सौ प्रश्न किए गए थे, इन प्रश्नों में बड़े-बड़े आंकड़ों में गणित के भी प्रश्न थे। जब ये १०० प्रश्न किए जा रहे थे तो उस समय महाराज श्री खामोशी के साथ उनका श्रवण करते जा रहे थे। जब सौ प्रश्न पूरे हो गए तब इन्होंने क्रमशः उसी तरतीब से एक-एक प्रश्न का समाधान किया। प्रश्न और उसके समाधान में पूर्ण सत-

* उन दिनों हमारे प्रातःस्मरणीय, आचार्य-सम्राट् गुरुदेव पूज्य श्री आत्माराम जी महाराज पंजाब के स्थानकवासी जैनश्रमण-संघ के उपाध्याय पद पर आसीन थे। उपाध्याय जी इस उपनाम से इनको याद किया जाता था।

कता से काम लिया जा रहा था, सभी प्रश्नों की तालिका में कोई अन्तर नहीं आने दिया और महाराज श्री जी ने जो समाधान किये उनमें कोई भी गड़बड़ी नहीं थी। समाधान सब के सब सवा सोलह आने सन्तोष-जनक थे। ज़रा गंभीरता से विचार कीजिए, कि लगातार १०० प्रश्नों को याद रखना, उनकी क्रमगत तालिका में कोई अन्तर न आनेदेना और फिर उनका लगातार क्रमशः समाधान करना, समाधान भी सर्वथा यथार्थ करना जिसमें एक भी भूल न हो, कितनी विलक्षण बात है? बुद्धि के वैभव और ऐश्वर्य की यह कितनी विशिष्ट प्रकर्षता है? किन्तु यह बौद्धिक प्रकर्षता प्रत्येक व्यक्ति को उपलब्ध नहीं होती, यह उसी व्यक्ति को उपलब्ध हो सकती है, जिसके आत्मप्रदेशों पर ज्ञानावरणीय कर्म के परमाणुओं का प्रभाव बहुत कमज़ोर हो गया हो। ज्ञानावरणीय कर्म की दुर्बलता से ही व्यक्ति में इस प्रकार की बौद्धिक शक्ति का प्रादुर्भाव हुआ करता है।

आचार्य-सम्राट् पूज्य श्री आत्माराम जी महाराज—

जैन-धर्म-दिवाकर, साहित्यरत्न जैनागमरत्नाकर श्री वर्धमान स्थानकवासी जैन श्रमणसंघ के आचार्य-सम्राट् परमश्रद्धेय गुरुदेव पूज्य श्री आत्माराम जी महाराज बहुत बड़े तेजस्वी और वचस्वी महापुरुष थे, चारित्र-चूडामणि होने के साथ-साथ आप श्री एक क्रांतिकारी युगपुरुष भी थे, आपका जीवन एक आध्यात्मिक उपवन था, इसमें त्याग, वैराग्य, क्षमा, दया, सहिष्णुता, विद्वत्ता, उदारता तथा गंभीरता आदि ऐसे अनेकानेक सुमन खिल रहे थे कि जिनके सौरभ से उसका कण-कण सुरभित हो रहा था। संस्कृत और प्राकृत भाषा पर आपका पूर्ण अधिकार था, आपका शास्त्रीय ज्ञान इतना गम्भीर और विलक्षण था कि कुछ कहते नहीं बनता, पटना यूनिवर्सिटी के एक जर्मन प्रोफेसर के शब्दों मे आपका शास्त्रीय जीवन एक जीवित विश्वकोष था, चलता फिरता एक विशाल पुस्तकालय था। आप

बालब्रह्मचारी, साधक-शिरोमणि, परम उदार, बड़े सहिष्णु और सन्त-हृदय मुनिराज थे, छोटी सी ११ वर्ष की आयु में आप जैनसाधु बने थे। जीवन-गत कठोर अध्यात्म साधना में उपलब्ध सफलता के कारण आप एक लोकप्रिय व्यक्तित्व के धनी महामानव थे। प्रतिष्ठा आपके जीवन की सदा चेरी रही है। पहले आप पंजाब स्थानकवासी जैनसमाज के उपाध्याय रहे। उपाध्याय का अर्थ है—अध्यात्म विद्या के प्रदाता महापुरुष। फिर आप पंजाब स्थानकवासी जैनसमाज के आचार्य पद पर आसीन हुए। आचार्य जैन जगत का अध्यात्म पिता होता है, जो साधु, साध्वी श्रावक और श्राविका रूप चतुर्विध संघ का संरक्षक, सम्वर्धक और सम्पोषक होने के साथ-साथ उसका नेतृत्व करता है। अन्त में, आपकी लोकप्रियता इतनी अधिक महानता के शिखर पर पहुंची कि अखिल-भारतवर्षीय स्थानकवासी जैन समाज ने आपको सर्वसम्मति से अपने आचार्य-सम्राट् के समुच्च तथा श्रद्धास्पद सिंहासन पर प्रतिष्ठित किया। इस तरह आपका व्यक्तित्व धार्मिक और सामाजिक दृष्टि से बड़ा ही सम्मानित एवं आदरास्पद रहा है।

आचार्यसम्राट् पूज्य श्री आत्माराम जी महाराज जहां गंभीरता उदारता और सहनशीलता के अखूट भण्डार थे, वहां ये शास्त्रीय ज्ञान के भी गंभीर सागर थे। आपकी बौद्धिक शक्ति भी कुछ निराली ही थी। *औत्पातिकी बुद्धि आपके जीवन में साकार रूप ले रही थी। जिस किसी व्यक्ति को आप श्री के चरणों में थोड़ी देर भी बैठने का अवसर प्राप्त हुआ वह आप के महान वैदुष्य, आदर्श योग्यता और अद्भुत स्मरण शक्ति के चमत्कारों से प्रभावित हुए बिना नहीं रहा, अधिक क्या निवेदन करूं, श्रद्धा के केन्द्र, वन्दनीय पूज्यपाद

---

* बिना देखे, बिना सुने और बिना सोचे हुए पदार्थों को सहसा ग्रहण करके कार्य को सिद्ध करने वाली बुद्धि औत्पातिकी बुद्धि कहलाती है। यह बुद्धि स्फुरणाशक्ति का स्रोत मानी जाता है।

आचार्य-सम्राट् श्री जी महाराज को ३२ जैनागम ऐसे याद पड़े थे जैसे स्कूल के अध्यापक को एक से लेकर सौ तक की गणना याद होती है। जैनशास्त्रों में भगवती सूत्र बहुत बड़ा शास्त्र है, इसमें महामहिम अनगार इन्द्रभूति गौतमजी महाराज आदि के ३६ हजार प्रश्न हैं, और विश्ववन्दच मङ्गलमूर्ति श्रमण भगवान महावीर के द्वारा दिए गए उन प्रश्नों के ३६ हजार समाधान हैं। अनुमान लगाइए कि भगवती सूत्र कितना बड़ा शास्त्र है, परन्तु पाठक विस्मित होंगे कि हमारे आराध्य शास्त्रविशारद आचार्य-सम्राट् पूज्य श्री आत्माराम जी महाराज को भगवती सूत्र जैसे बड़े-बड़े शास्त्र अपने नाम की भांति याद रहते थे। इतने बड़े-बड़े शास्त्रों का पार पाना बच्चों का खेल नहीं है। शास्त्रों के महासागर में कौन मोती कहां पड़ा है? और किस रूप में पड़ा है? हमारे महामान्य आचार्य-सम्राट् श्री इस से भली-भांति परिचित थे। मैंने स्वयं अपनी आंखों से देखा है कि इनसे किसी भी शास्त्र की कोई बात पूछ ली जाती थी तो ये तत्काल बतला दिया करते थे कि यह अमुक शास्त्र के अमुक अध्याय की अमुक गाथा में लिखी है।

तत्त्वार्थ सूत्र दिगम्बर और श्वेताम्बर इस तरह समस्त जैनजगत का एक श्रद्धास्पद और सर्वजन-प्रिय शास्त्र माना जाता है, इसके सम्बन्ध में कुछ वर्ष पहले दिगम्बर परम्परा के लोगों का कहना था कि यह शास्त्र दिगम्बर आचार्यों की मौलिक रचना है, श्वेताम्बर जैनागमों के साथ उसका कोई सम्बन्ध नहीं है, परन्तु महान अन्वेषक तथा ज्ञान के सागर हमारे आचार्य-सम्राट् पूज्य श्रीआत्माराम जी महाराज ने अपने महान, विलक्षण वैदुष्य के चमत्कार दिखलाते हुए यह प्रमाणित कर दिया कि तत्त्वार्थ सूत्र दिगम्बर आचार्यों की मौलिक रचना नहीं है, इसका निर्माण श्वेताम्बर परम्परा के आगमों के आधार पर किया गया है। अतः तत्त्वार्थ सूत्र का मूल श्वेताम्बर जैनागम हैं, इन्हीं के बीच में से इसे निकाला गया है। पूज्य आचार्य-

सम्राट् श्री केवल यह बात कहकर मौन हो गए हों, ऐसी बात नहीं परन्तु इन्होंने तत्त्वार्थसूत्र के जो भी उद्गमस्थान थे। उनको जनता के सामने लाकर रख दिया। श्वेताम्बर आगमों में जिस-जिस स्थान से तत्त्वार्थ सूत्र के जो-जो पाठ लिए गए हैं उन सबका इन्होंने एक संग्रह तैयार किया और तत्त्वार्थसूत्र-जैनागमसमन्वय के रूप उसे व्यवस्थित किया। ३२ आगमों में तत्त्वार्थसूत्र सम्बन्धी कौनसा पाठ है ? और वह कहां पड़ा है ? यह सब जानना और उसे संकलित तथा संगृहीत करके "जैनागमसमन्वय" के नाम से सम्पादित करना साधारण बात नहीं है, बौद्धिक शक्ति की विलक्षणता का यह बहुत बड़ा चमत्कार, है इस चमत्कार से भारतवर्षीय विद्वान् ही चमत्कृत नहीं हुए किन्तु पश्चिम विद्वानों को भी इस चमत्कार ने आश्चर्य-चकित कर दिया। जिस किसी विद्वान् ने जैनागमसमन्वय का परिशीलन किया वह आनन्दविभोर हुए बिना नहीं रहा। परमश्रद्धेय आचार्य-सम्राट् पूज्य श्री आत्माराम जी महाराज के इस बौद्धिक चमत्कार के पीछे भी ज्ञानावरणीय कर्म के प्रभाव की सबल स्वल्पता ही समझनी चाहिये।

हज़ार श्लोकों का स्मरण करना—

एक बार एक पुस्तक पढ़ने को मिली, उसमें एक कथानक दे रखा था। लिखा था कि एक बहुत बड़े जैनाचार्य अपनी शिष्य-मण्डली सहित एक नगर में विराजमान थे, एक दिन उनके चरणों में एक विद्वान् ब्राह्मण उपस्थित हुआ, उसने करबद्ध होकर विनम्रता पूर्वक श्रद्धेय आचार्य श्री से प्रार्थना करते हुए निवेदन किया—

वन्दनीय आचार्यदेव ! हम लोग ब्राह्मण होते हैं, हमारे पूर्वज बड़े विद्वान् थे, अनेक ग्रन्थों की उन्होंने रचनाएं की हैं। लेखक तो आज नहीं है, किन्तु उनकी रचनाएं आज भी एक भण्डार के रूप में हमारे घर में हैं। एक दिन भण्डार का निरीक्षण कर रहा था तो मुझे वहां से संस्कृत-भाषा का एक ग्रन्थ मिला, इस ग्रन्थ में एक हज़ार श्लोक हैं, मैंने उन्हें बहुत बार पढ़ने का प्रयास किया किन्तु

उन श्लोकों का अभिप्राय समझने में मैं सफल नहीं हो सका। विचार था कि कोई विद्वान् महापुरुष मिले तो उससे इन श्लोकों का अभिप्राय समझूं। आज प्रातः ही पता चला है कि आप श्री हमारे नगर में पधारे हैं। सुनता हूं कि आप श्री उच्चकोटि के विद्वान् हैं, संस्कृत और प्राकृत भाषा पर आपका पूर्णरूप से अधिकार हैं, और अनेक ग्रन्थों के आप निर्माता भी हैं। मैंने सोचा कि क्यों न आप श्री से लाभ लिया जाए। परिणाम-स्वरूप इसी विचार को लेकर अब मैं आपकी सेवा में उपस्थित हुआ हूं। कृपया संस्कृत के श्लोकों का अर्थ समझा दें। यह कह कर विद्वान् ब्राह्मण ने हजार श्लोक वाला ग्रन्थ पूज्यपाद आचार्य श्री के चरणों में रख दिया।

आगन्तुक ब्राह्मण की विनति सुन कर कृपालुता के सागर पूज्य आचार्य श्री ने उस ग्रन्थ को उठा लिया और हाथ में लेकर जब आरम्भ किया तो वह सचमुच उनके लिए एक नया ग्रन्थ था, पहले कभी इन्होंने उसे देखा नहीं था। यह सब जानते हैं कि नया ग्रन्थ पढ़ने में समय लगता है, फलतः पूज्य आचार्य श्री आगन्तुक पण्डित जी से फरमाने लगे—

पण्डित जी ! यह ग्रन्थ बिल्कुल नया है, हमने इसे कभी देखा नहीं है, अतः आज इस ग्रन्थ को हमारे पास रहने दीजिए, समय मिलने पर इसका परिशीलन करेंगे और कल जब आप आने का कष्ट करेंगें, तब आपका मनोरथ पूर्ण करने का प्रयत्न किया जाएगा।

श्रद्धेय पूज्य आचार्यदेव की उक्त वार्ता सुनकर पण्डित जी ने शिष्टाचार के अनन्तर वहां से प्रस्थान किया। पण्डित जी के चले जाने पर पूज्य आचार्यदेव ने संस्कृत के उस ग्रन्थ को दो भागों में बांट दिया। एक भाग अपने पास रख लिया और दूसरा भाग अपने विद्वान् शिष्य को दे दिया और साथ में यह आज्ञा प्रदान कर दी कि इन श्लोकों का ध्यान-पूर्वक अध्ययन करो। इधर पूज्य आचार्य श्री

ने जब अपने भाग के पांच सौ श्लोक पढ़ें तो वे सबके सब उनको तत्काल याद हो गए और उधर विद्वान् शिष्य ने जब अपने भाग के पांचसौ श्लोक पढ़े तो उनको तत्काल वे याद हो गए। रात्रि को जब पूज्य आचार्य श्री और उनके विद्वान् शिष्य दोनों एकत्रित हुए तो शिष्य ने प्रार्थना करते हुए निवेदन किया—

वन्दनीय गुरुदेव ! आपने जिन पांच श्लोकों का अध्ययन किया है, कृपया वे मुझे सुनाने का कष्ट करें। मैंने अपने भाग के श्लोक तो पढ़ लिए हैं और उन्हें कण्ठस्थ कर लिया है, मेरी भावना है कि अवशिष्ट श्लोक भी सुन लूं ताकि मैं उनमें प्रतिपादद्य विषय का भी बोध प्राप्त कर लूं।

अपने विनीत विष्य की अभ्यर्थना सुनकर पूज्य आचार्यदेव ने पांच सौ श्लोक जिनका विहङ्गम दृष्टि के साथ अध्ययन किया गया था, अपने शिष्य को मौखिक ही सुना दिए। पूज्य आचार्यदेव से श्रवण करके विद्वान् शिष्य ने तत्काल वे श्लोक कण्ठस्थ कर लिये साथ में यह विनति करते हुए निवेदन किया कि गुरुदेव ! मैंने जो श्लोक पढ़े हैं, उन्हें भी आप श्री सुन लें। शिष्य की प्रार्थना को स्वीकार करते हुए पूज्य आचार्यदेव ने वे पांच श्लोक भी सुन लिए, सुनबे के साथ ही उन्हें वे भी कण्ठस्थ हो गए। कमाल की बात है कि शिष्य के श्लोक सुनकर गुरुमहाराज ने याद कर लिए और गुरुमहाराज से श्लोक सुनकर शिष्य ने याद कर लिये। इस तरह दोनों को हज़ार हज़ार श्लोक स्मरण हो गए। अगले दिन जब ग्रन्थ के मालिक विद्वान् ब्राह्मण आए और आचार्य श्री के चरणों में प्रणाम करने के अनन्तर वे कहने लगे—

पूज्य महात्मन् ! मैं जो ग्रन्थ कल दे गया था उसका आप श्री ने परिशीलन कर लिया होगा ? यदि कर लिया है तो मेरा मनोरथ पूर्ण करने का अनुग्रह करें।

पण्डित जी की विनति सुन कर पूज्य आचार्य श्री —पण्डित जी

का ग्रन्थ वापिस करते हुये बोले—पण्डित जी ! आप के ग्रन्थ का यथाशक्य हमने परिशीलन कर लिया है। अब आप जहां से चाहें पूछले और अपने मनोरथ को पूर्ण कर लें।

पूज्य आचार्य श्री का फरमान सुनकर पण्डित जी ने तब अपनी रुचि के अनुसार जब कुछ श्लोकों का अभिप्राय पूछा तो पूज्य आचार्य श्री जिस श्लोक का आदिम अक्षर सुनते तत्काल वे वह सम्पूर्ण श्लोक बोल देते और साथ ही उसका अभिप्राय समझा देते। आचार्य श्री श्लोकों का उच्चारण ऐसे कर रहे थे जैसे वे श्लोक उनको पहले से हों याद हो, श्लोकों का ऐसा उच्चारण सुनकर पण्डित जी आश्चर्य-चकित रह गए, उन्होंने करबद्ध होकर प्रार्थना की, कि महा राज ! आप श्री श्लोकों का उच्चारण इस पद्धति से कर रहे हैं, जैसे ये श्लोक आप श्री को पहले से ही याद हों। यह ग्रन्थ तो पहली बार भण्डार से बाहिर आया है, आप श्री ने ये श्लोक कैसे याद कर लिये ? पण्डित जी की आश्चर्यपूर्ण बात सुनकर पूज्य आचार्यदेव फरमाने लगे—

पण्डित जी ! यह सत्य है कि आपके लाने से पूर्व हमने इस ग्रन्थ को कभी नहीं देखा और पढ़ा भी नहीं था, परन्तु ये श्लोक तो कल ही कण्ठस्थ किए हैं, अब आपका सारा-का-सारा ग्रन्थ हमारे मस्तिष्क में आ गया है।

श्रद्धेय आचार्यदेव का प्रतिवचन सुनकर पण्डित जी आश्चर्य सागर में निमग्न हो गए, और विचार करने लगे कि हज़ार श्लोकों का ग्रन्थ एक दिन में ही कण्ठस्थ कर लिया गया है। बड़ी विचित्र बात है। यहां श्लोकों का केवल उच्चारण करना कठिन हो रहा है और इन्होंने इन्हें स्मरण भी कर लिया है, फिर एक दिन में, श्लोक भी दस-बीस नहीं। एक हज़ार हैं ? पण्डितजी के विस्मय की सीमा नहीं रही। आचार्यदेव की की बौद्धिक शक्ति का निराला चमत्कार देखकर पण्डित जी पूज्य आचार्य-देव के चरणों में नतमस्तक हो

गए। अन्त में, आभार प्रदर्शन करने के पश्चात् उन्होंने अपना राह लिया।

ऊपर की पंक्तियों में अतीतकालीन तथा वर्तमानकालीन जितने भी उदाहरण प्रस्तुत किये गये हैं उन सबका एक ही उद्देश्य है, वह यह कि जिस व्यक्ति का ज्ञानावरणीय कर्म कमज़ोर है, शक्तिहीन है उस की बौद्धिक शक्ति बहुत अधिक बढ़ जाती है, दूसरे शब्दों में, जब व्यक्ति के आत्म-नभ पर छाए हुये ज्ञानावरणीय कर्म के काले-काले घनघोर बादल फ़ट जाते हैं तब उस के लिए किसी पदार्थ का बोध प्राप्त करना कठिन नहीं रहता। इसके विपरीत, जिस व्यक्ति के आत्म-नभ पर ज्ञानावरणीय कर्म की काली-काली घनघोर घटाएं छाई रहती हैं उसकी बौद्धिक स्थिति इतनी खराब हो जाती है कि उस का मस्तिष्क ज़रा भी काम नहीं करता, वह परीक्षा में पांच-पांच बार बैठने पर भी उत्तीर्णता का मुख नहीं देख पाता, समझाने वाले उसे समझाते हैं, शिक्षा की विशेषताओं का उसके सामने बड़ी सुन्दरता से वर्णन करते हैं तथा पठित लोगों की महानता के चमत्कार प्रस्तुत करते हैं तथापि उस व्यक्ति पर कोई प्रभाव नहीं पड़ता। जैसे कुत्ते की पूंछ—बारह वर्ष तक भी सोधी करके किसी यन्त्र में रखी जाए, तथापि वह वहां से निकालने पर टेढो की टेढो रहती है, इसी तरह ज्ञानावरणीय कर्म के जाल में फंसे हुए मनुष्य पर भी हज़ार शिक्षाओं का कोई प्रभाव नहीं पड़ता और वह अनपढ़ ही रहता है।

ज्ञानावरणीय कर्म के भेद—

ज्ञान का अर्थ है—जानना। यह जीवात्मा जिस शक्ति के द्वारा संसार के समस्त पदार्थों का बोध प्राप्त करता है उसे ज्ञान कहते हैं। आत्मा की इस ज्ञानशक्ति को परदा बन कर जो शक्ति आवृत कर लेती है वह ज्ञानावरणीय कर्म कही जाती है। पूज्य जैनाचार्यों ने ज्ञानावरणीय कर्म के स्वरूप का विवेचन करते हुये उस के—१—

मतिज्ञानावरणीय, २—श्रुतज्ञानावरणीय, ३—अवधिज्ञानावरणीय, ४—मनःपर्याय-ज्ञानावरणीय और ५—केवल-ज्ञानावरणीय ये पांच भेद बतलाये हैं। मतिज्ञानावरणीय आदि पदों का क्या भाव है? यह अग्रिम पंक्तियों में निवेदन किया जा रहा है।

१. मतिज्ञानावरणीय—

जैन-शास्त्रों में ज्ञान पांच प्रकार का माना गया है, जैसे कि—१—मतिज्ञान, २—श्रुतज्ञान, ३—अवधिज्ञान, ४—मनः पर्यायज्ञान और ५—केवल ज्ञान। इन पाँच ज्ञानों में पहला स्थान मतिज्ञान का है। इन्द्रिय और मन की सहायता से योग्यदेश में रही हुई वस्तु को जानने वाला ज्ञान मतिज्ञान कहलाता है। इसे ★आभिनिबोधिक ज्ञान भी कहते हैं। मतिज्ञान के तीन सौ चालीस भेद होते हैं। जो कर्म इन सब ज्ञान के भेदों का आवृत्त कर लेता है उसे मतिज्ञानावरणीय कर्म कहा जाता है।

किसी भी पदार्थ का जब हम बोध प्राप्त करते हैं, तब उस बोध को प्राप्त करने के लिए एक पद्धति का अनुसरण करना पड़ता है, यह पद्धति अपनाए बिना ज्ञान की उपलब्धि नहीं हो सकती। जैसे सर्वप्रथम इन्द्रिय और पदार्थ का सम्बन्ध होता है, इसके अनन्तर इन्द्रिय का मन से सम्बन्ध जुडता है तत्पश्चात् ज्ञान की उपलब्धि होती है। इस सत्य को एक उदाहरण से समझिए। कल्पना करो, हमारे सामने एक घड़ी पड़ी है, हम उसका ज्ञान प्राप्त करना चाहते हैं, तब उस घड़ी को देखते हैं या आँखों और घड़ी का सम्बन्ध जुड़ता है, उसके अनन्तर आंख और मन उन दोनों का सम्बन्ध चलता है। आंख जब मन के साथ सम्बन्धित हो जाती है तब ‘यह

★ अभिमुखं-योग्यदेशे व्यवस्थित, नियतमर्थमिन्द्रियद्वारेण बुध्यते-परिच्छिनत्ति आत्मा येन परिणामविशेषेण, स परिणामविशेषो ज्ञानापर-पर्याय आभिनिबोधिकम्।

घड़ी है" इस प्रकार का ज्ञान होता है। यदि आंखों और मन का सम्बन्ध न जुड़े या किसी व्यवधान के कारण वह सम्बन्ध टूट जाये तो भले ही घडी आंखों के सामने स्थापित हो तथापि 'यह घड़ी है" यह ज्ञान नहीं हो सकता। अतः घडी का बोध प्राप्त करने के लिए जहां आंखों और घड़ी का सम्बन्धित होना आवश्यक है वहां मन और आंखों का जुड़ना भी अत्यावश्यक है। इस चिन्तना से यह स्पष्ट हो जाता है कि "यह घड़ी है" यह जो ज्ञान होता है, इस ज्ञान की प्राप्ति में आंखें और मन ये दोनों सहायक बनते हैं। इसीलिए जैनाचार्य फरमाते हैं कि जिस ज्ञान में आंख, नाक, रसना और स्पर्श ये इन्द्रियां तथा मन की सहायता की आवश्यकता पडे उस ज्ञान को मतिज्ञान कहते हैं। इस मतिज्ञान को आवरण बनकर जो कर्म शक्ति आवृत या आच्छादित करती है वह शक्ति मतिज्ञानावरणीयकर्म के नाम से व्यवहृत की जाती है।

प्रत्यक्ष और परोक्ष—

जैन-दृष्टि से ज्ञान के दो भेद भी होते हैं। जैसे कि १—प्रत्यक्ष और २—परोक्ष। जो ज्ञान इन्द्रिय और मन को सहायता के बिना ही केवल आत्मा की योग्यता के बल पर जीव को उत्पन्न होता है, उसे प्रत्यक्ष ज्ञान कहते हैं और जो ज्ञान इन्द्रिय और मन को सहायता से उत्पन्न होता है वह परोक्ष कहलाता है। मतिज्ञान और श्रुतज्ञान ये दोनों इन्द्रिय और मन की सहायता से उत्पन्न होने के कारण परोक्षज्ञान तथा अवधि, मन पर्याय और केवल ये तीनों इन्द्रिय और मन की सहायता की अपेक्षा विना केवल आत्मा की योग्यता के बल से उत्पन्न होने के कारण प्रत्यक्ष ज्ञान कहलाते हैं। न्यायशास्त्र वाले इन्द्रियजन्य ज्ञान को प्रत्यक्ष और हेतु तथा शब्दादि जन्य ज्ञान को परोक्ष कहते हैं, परन्तु जैनदर्शन को यह मान्यता इष्ट नही है। यह तो आत्ममात्र साक्षेप ज्ञान को प्रत्यक्ष और इन्द्रिय एवं मन की अपेक्षा रखने वाले ज्ञान को परोक्ष ज्ञान के रूप में देखता है।

मतिज्ञान के ३४० भेद—

मतिज्ञान इन्द्रिय और अनीन्द्रिय(मन) रूप निमित्त से पैदा होता है, अतः यह इन्द्रियजन्य और अनीन्द्रिय-जन्य इन भेदों से दो प्रकार का होता है, अर्थात् मतिज्ञान की प्राप्ति स्पर्शन, रसना, घ्राण, चक्षु: और श्रोत्र इन इन्द्रियों से होती है, इसलिये यह इन्द्रियजन्य और इस की उपलब्धि मन से भी होती है, अतः यह अनीन्द्रिय-जन्य भी होता है। मतिज्ञान के पुनः चार-चार भेद और होते हैं, जैसे कि **१-अवग्रह, २-ईहा, ३-अवाय और ४-धारणा**। इस तरह स्पर्शनादि पांच इन्द्रियां और एक मन इन छहों के अवग्रह, ईहा, अवाय और धारणा ये चार-चार भेद हो जाने से मतिज्ञान के २४ भेद बन जाते हैं। अवग्रह आदि पदों का अर्थ भी समझ लीजिए। नाम, जाति आदि की विशेष कल्पना से रहित जो सामान्य मात्र का ज्ञान है, वह अवग्रह होता है। उदाहरणार्थ, गाढ अन्धकार में पांव को कुछ छू जाने पर सर्वप्रथम ऐसा बोध होता है कि यह कुछ है। इस बोध में वस्तु क्या है ? यह मालूम नही देता, इस प्रकार का अव्यक्त, अस्पष्ट ज्ञान अवग्रह कहलाता है। अवग्रह के द्वारा ग्रहण किए हुए सामान्य विषय को विशेषरूप से निश्चित करने के लिए जो विचारणा चलती है, उसे ईहा कहते हैं। जैसे पांव को किसी वस्तु का स्पर्श हो जाने पर विचार करना कि यह रस्सी का स्पर्श है, या सर्प का ? यह स्पर्श तो रस्सी का होना चाहिए, क्योंकि यदि यह सर्प होता तो स्पर्श होते ही वह डंक मार देता ? इस तरह की संशयपूर्ण विचारणा या संभावना ईहा कहलाती है ईहा के द्वारा ग्रहण किए हुए विशेष का कुछ अधिक अवधान-एकाग्रता से जो निश्चय होता है, वह निश्चय अवाय कहलाता है। जैसे-किसी वस्तु का पांव को स्पर्श हो जाने पर "यह रस्सी है, या यह सर्प है ?" यह चिन्तन कुछ क्षणों तक चलता है, कुछ क्षणों के अनन्तर विचार करने से ऐसा निश्चय हो जाता है कि यह तो रस्सी का ही स्पर्श है, सर्प का नहीं। यही निश्चय अवाय होता है। अवायरूप निश्चय

कुछ काल तक कायम रहता है, फिर विषयान्तर में मन के चले जाने पर वह निश्चय लुप्त हो जाता है, परन्तु जाता-जाता वह ऐसे संस्कार डाल देता है कि जिस से आगे कभी कोई योग्य निमित्त मिलने पर इस निश्चित विषय का स्मरण हो आता है। निश्चय की यह सतत धारा, तज्जन्य संस्कार और संस्कारजन्य स्मरण, यह सब मतिव्यापार धारणा माना गया है।

अवग्रह दो प्रकार का होता है। जैसे कि-१-व्यञ्जनावग्रह और २-अर्थावग्रह। पदार्थ के अव्यक्त ज्ञान को अर्थावग्रह कहते हैं। इस में पदार्थ के वर्ण, गन्ध आदि का ज्ञान होता है, इसकी स्थिति एक समय की होती है। अर्थावग्रह से पहले होने वाला अत्यन्त अव्यक्त ज्ञान व्यञ्जनावग्रह कहलाता है। यह नेत्र और मन को छोड़ कर शेष चार इन्द्रियों से होता है। इस की जघन्य स्थिति आवलिका के असंख्यात भाग की और उत्कृष्ट २ से ९ श्वासोच्छ्वास* तक है।

ज्ञान के आविर्भाव के मन्द और पटु ये दो क्रम होते हैं। मन्द-क्रम में ग्राह्यविषय के साथ उस-उस विषय की ग्राहक उपकरणेन्द्रिय का व्यञ्जन- संयोग होते ही ज्ञान का आविर्भाव होता है! उपकरणेन्द्रिय क्या होती है? यह भी समझ लेना आवश्यक है। इन्द्रियों के दो प्रकार माने गए है-द्रव्य और भाव। पुद्‌गलमय जड़ इन्द्रियां द्रव्येन्द्रिय हैं और आत्मिक परिणामरूप इन्द्रियां भाव-इन्द्रिय कहलाती हैं। द्रव्येन्द्रिय के-१-निवृत्ति और २-उपकरण ये दो भेद होते हैं। शरीर के ऊपर दिखाई देने वाली इन्द्रियों की आकृतियां जो पुद्‌गल-

---

*नेत्र को बन्द करके तत्काल खोलने में असख्यात समय लगते हैं, ऐसे असंख्यात समयों की एक आवलिका, ३७७३ आवलिकाओं का एक श्वास (नीरोगी मनुष्य का), ३७७३ श्वासोच्छ्वासों का एक मुहूर्त (दो घड़ी, ४८ मिण्ट), ३० मुहूर्तों का एक अहोरात्र, (रात-दिन), १५ अहोरात्रो का एक पक्ष, दो पक्षों का एक मास, २ मासों की एक ऋतु, २ ऋतुओं का एक अयन, २ अयनों का एक सम्बत्सर, ५ सम्बत्सरों का एक युग होता है।

स्कन्धों की विशिष्ट रचनारूप हैं, उन को निवृत्ति—इन्द्रिय और निवृत्ति-इन्द्रिय की बाहिरी और भीतरी पौद्गलिक शक्ति, जिस के बिना निवृत्ति-इन्द्रिय ज्ञान पैदा करने में असमर्थ हैं, उसी को उपकरणेन्द्रिय कहते हैं। भावेन्द्रिय भी लब्धि और उपयोग रूप द्विविध होती है। मतिज्ञानावरणीय कर्म आदि का क्षयोपशम जो एक प्रकार का आत्मिक परिणाम होता है, लब्धि-इन्द्रिय है, तथा लब्धि, निवृत्ति और उपकरण इन समस्त इन्द्रियों के मिलने से रूपादि विषयों का सामान्य या विशेष जो बोध होता है, वह उपयोगेन्द्रिय है। कहा जा रहा था कि ज्ञान के मन्द क्रम में ग्राह्य विषय के साथ उस-उस विषय की ग्राहक उपकरणेन्द्रिय का व्यञ्जन-संयोग होते ही ज्ञान का प्रादुर्भाव होता है। आरम्भ में ज्ञान की यह मात्रा इतनी स्वल्प होती है कि उस से-"यह कुछ है-" ऐसा सामान्य बोध भी नहीं होने पाता, परन्तु ज्यों-ज्यों विषय और इन्द्रिय का संयोग परिपुष्ट होता चला जाता है, त्यों-त्यों ज्ञान की मात्रा भी बढती चली जाती है, उक्त व्यञ्जन-संयोग के साथ कुछ काल में तज्जनित ज्ञानमात्रा इतनी अधिक परिपुष्ट हो जाती है कि जिससे विषय का-"कुछ है-" ऐसा सामान्य बोध होने लगता है, यही सामान्य बोध अर्थावग्रह होता है। इस अर्थावग्रह का पूर्ववर्ती ज्ञानव्यापार जो उक्त व्यञ्जन से उत्पन्न होता है और उस व्यंजन की पुष्टि के साथ क्रमशः परिपुष्ट होता जाता है। वह सब व्यंजनावग्रह कहलाता है। व्यंजन सापेक्षित होने से यह व्यंजनावग्रह कहा गया है। यह व्यंजनावग्रह नामक दीर्घ ज्ञानव्यापार उत्तरोत्तर पुष्ट होने पर भी इतना अल्प होता है कि इससे विषय का सामान्य बोध तक नहीं होता। इस को अव्यक्त-तम, अव्यक्त-तर, अव्यक्त ज्ञान कहते हैं। यह व्यंजनावग्रह श्रोत्रेन्द्रिय, घ्राणेन्द्रिय, रसनेन्द्रिय और स्पर्शनेन्द्रिय के द्वारा होता है, फलतः व्यंजनावग्रह के चार भेद होते हैं। २४ पिछले और चार ये, ये सब भेद मिलाने से इन की संख्या २८ होती है। ये २८ मतिज्ञान के मूल भेद माने जाते हैं।

मतिज्ञान के २८ भेद होते हैं, यह ऊपर बताया जा चुका है। इन

२८ भेदों के पुनः १२ भेद होते हैं। जैसे कि-१- बहुग्राही, २-अल्पग्राही, ३-बहुविधग्राही, ४-एकविधग्राही, ५-क्षिप्रग्राही, ६-अक्षिप्रग्राही, ७-अनिश्रित-ग्राही, ८-निश्रित-ग्राही ९-असंदिग्ध-ग्राही, १०-संदिग्धग्राही ११-ध्रुवग्राही और १२-अध्रुवग्राही।

बहु अनेक को और अल्प एक को कहते हैं। दो या दो से अधिक पदार्थों को जानने वाले अवग्रह, और ईहा आदि चारों ज्ञान बहुग्राही अवग्रह, बहुग्राहिणी, ईहा, बहुग्राही अवाय और बहुग्राहिणी धारणा कहलाते हैं। और एक पदार्थ को अपना विषय बनाने वाले चारों मतिज्ञान अल्पग्राही अवग्रह, अल्पग्राहिणी ईहा, अल्पग्राही अवाय और अल्पग्राहिणी धारणा, इन नामों से व्यवहृत किए जाते हैं।

बहुविध का अर्थ है-अनेक प्रकार से, और एकविध शब्द-"एक प्रकार से" इस अर्थ का बोधक है। जैसे आकार, प्रकार, रूप, रंग या मोटाई आदि में विविधता रखने वाले पदार्थों को जानने वाले उक्त चारों ज्ञान क्रम से बहुविधग्राही अवग्रह, बहुविधग्राहिणी ईहा, बहुविधग्राही अवाय और बहुविधग्राहिणी धारणा और आकार, प्रकार, आदि में से एक ही प्रकार के पदार्थ को जानने वाले वे ज्ञान क्रमशः एकविधग्राही अवग्रह, एकविधग्राहिणी ईहा, एकविधग्राही अवाय और एकविधग्राहिणी धारणा रूप माने जाते हैं।

बहु तथा अल्प का अभिप्राय व्यक्ति की संख्या से है, और बहुविध तथा एकविध का हार्द प्रकार, किस्म या जाति की संख्या से है। इन दोनों में यही अन्तर समझना चाहिये।

शीघ्र जानने वाले चारों मतिज्ञान क्षिप्रग्राही अवग्रह आदि और विलम्ब से जानने वाले ये ज्ञान अक्षिप्रग्राही अवग्रह आदि कहलाते हैं। यह देखा जाता है कि इन्द्रिय, विषय आदि सब बाह्य सामग्री बराबर होने पर भी सिर्फ *क्षयोपशम की पटुता के कारण एक

---

*उदय में आए हुए कर्म का क्षय और अनुदीर्ण अंश का विपाक की अपेक्षा उपशम होना-उदय में न आना क्षयोपशम कहलाता है।

मनुष्य उस विषय का ज्ञान जल्दी कर लेता है और क्षयोपशम की मन्दता के कारण दूसरा मनुष्य देरी से कर पाता है।

अनिश्रित का अर्थ हेतु द्वारा असिद्ध वस्तु से है, निश्रित का मतलब हेतु द्वारा सिद्ध वस्तु से है। जैसे-पूर्व में अनुभूत शीत, कोमल और स्निग्ध स्पर्शरूप लिंग से वर्तमान में जूई के फूलों को जानने वाले उक्त चारों ज्ञान क्रम से निश्रितग्राही [सलिंगग्राही] अवग्रह आदि और उक्त लिंग के बिना ही उन फूलों को जानने वाले अनिश्रितग्राही (अलिंगग्राही) अवग्रह आदि कहलाते हैं।

असंदिग्ध का मतलब निश्चित से और संदिग्ध का मतलब अनिश्चित से है। जैसे यह चन्दन का ही स्पर्श है, फूल का नहीं, इस प्रकार से स्पर्श को निश्चित रूप से जानने वाले उक्त चारों ज्ञान निश्चितग्राही अवग्रह आदि कहलाते है। तथा यह चन्दन का स्पर्श होगा या फूल का ? क्योंकि ये दोनों शीतल होते है। इस प्रकार से विशेष की अनुपलब्धि के समय होने वाले संदेहयुक्त चारों ज्ञान अनिश्चितग्राही अवग्रह आदि कहलाते हैं।

ध्रुव का मतलब अवश्यंभावी और अध्रुव का मतलब कदाचिद्भावी से है। यह देखा गया है कि इन्द्रिय और विषय का सम्बन्ध तथा मनोयोगरूप सामग्री समान होने पर भी एक मनुष्य उस विषय को अवश्य ही जान लेता है और दूसरा उसे कभी जान पाता है, कभी नहीं। सामग्री होने पर विषय को अवश्य जानने वाले उक्त चारों ज्ञान ध्रुवग्राही अवग्रह आदि कहलाते हैं, और सामग्री होने पर भी क्षयोपशम की मन्दता के कारण विषय को कभी ग्रहण करने वाले और कभी न ग्रहण करने वाले उक्त चारों ज्ञान अध्रुवग्राही अवग्रह आदि माने जाते हैं।

बताया जा चुका है कि पांच इन्द्रियां और मन इन सब के अर्थावग्रह आदि चार-चार भेद हो जाने से तथा इन में चार व्यंजनावग्रह मिलाने पर इन भेदों की संख्या २८ बनती है, इन २८ भेदों को

बहु और अल्प आदि १२ भेदों से गुणा कर लेने पर ये ३३६ हो जाते हैं। इस तरह मति-ज्ञान ३३६ प्रकार का सम्पन्न होता है।

ऊपर की पंक्तियों में बहु, अल्प आदि जो बारह भेद कहे गए हैं, ये पदार्थ के विशिष्टस्वरूप का बोध कराते हैं। अर्थावग्रह का विषय तो सामान्यमात्र है, इसलिए वे अर्थावग्रह में कैसे संघटित हो सकते हैं? इस प्रश्न का समाधान प्राप्त कर लेना भी आवश्यक है। अर्थावग्रह दो प्रकार का माना गया है-१-व्यावहारिक और २-नैश्चयिक। बहु और अल्प आदि जो बारह भेद कहे गए हैं वे प्राय: व्यावहारिक अर्थावग्रह के ही समझने चाहियें, नैश्चयिक के नहीं। क्योंकि नैश्चयिक अर्थावग्रह में जाति-गुण-क्रिया-शून्य सामान्य मात्र प्रतिभासित होता है इसलिए उस में बहु, अल्प आदि विशेषों के ग्रहण का संभव ही नहीं है। नैश्चयिक और व्यावहारिक अर्थाग्रह में इतना ही अन्तर होता है कि जो अर्थावग्रह पहले पहल सामान्यमात्र को ग्रहण करता है वह नैश्चयिक और जिस-जिस विशेषग्राही अवायज्ञान के बाद अन्यान्य विशेषों की जिज्ञासा और अवाय होते रहते हैं वे सामान्य-विशेष-ग्राही अवायज्ञान व्यावहारिक अर्थावग्रह हैं। वही अवायज्ञान व्यावहारिक अर्थावग्रह नहीं होता, जिसके बाद अन्य विशेषों की जिज्ञासा न हो। अन्य सभी अवायज्ञान जो अपने बाद नये-नये विशेषों की जिज्ञासा पैदा करते हैं, वे व्यावहारिक अर्थावग्रह माने गये हैं।

अर्थावग्रह के बहु, अल्प आदि उक्त बारह भेदों के व्यावहारिक अर्थावग्रह ही लेने चाहिए, नैश्चयिक नहीं, यदि इस बात को मान कर चलते हैं तो मतिज्ञान के ३३६ भेद संगत नहीं बैठते, क्योंकि २८ प्रकार के मतिज्ञानों के बारह-बारह भेद गिनने से ३३६ भेद बनते हैं, इन २८ प्रकारों में चार व्यंजनावग्रह भी आते हैं जो नैश्चयिक अर्थावग्रह के पूर्ववर्ती होने से अत्यन्त अव्यक्तरूप हैं, इसलिए उनके बारह-बारह कुल ४८ भेद निकाल देने पड़ेंगे? इस प्रश्न का उत्तर भी समझ लेना आवश्यक है। अर्थावग्रह में तो व्यावहारिक को लेकर उक्त

बारह भेद स्पष्टतया घटाए जा सकते हैं, इसलिए स्थूल दृष्टि से वैसा उत्तर दिया गया है। वास्तव में नैश्चयिक अर्थावग्रह और उसके पूर्ववर्ती व्यंजनावग्रह के भी १२-१२ भेद समझ लेने चाहियें। सो कार्य-कारण की समानता के सिद्धान्त पर अर्थात् व्या-वहारिक अर्थावग्रह का कारण नैश्चयिक अर्थावग्रह है और उस का कारण व्यंजनावग्रह है। अब यदि व्यावहारिक अर्थावग्रह में स्पष्ट रूप से बहु, अल्प आदि विषयगत विशेषों का प्रतिभास होता है तो उसके साक्षात् कारणभूत नैश्चयिक अर्थावग्रह और व्यवहित कारण व्यंजनावग्रह में भी उक्त विशेषों का प्रतिभास मानना पड़ेगा, जो कि वह प्रतिभास अस्फुट होने से दुर्ज्ञेय है। अस्फुट हो या स्फुट, यहां सिर्फ संभव की अपेक्षा से उक्त बारह-बारह भेद गिनने चाहियें।*

बुद्धि के चार भेद--

कहा जा चुका है कि मतिज्ञान को आभिनिबोधिक ज्ञान भी कहते हैं, इसके श्रुतनिश्रित और अश्रुतनिश्रित ये दो भेद होते हैं। जो श्रुत-ज्ञान से सम्बन्धित मतिज्ञान है, वह श्रुतनिश्रित-आभिनिबोधिक और जो तथाविध क्षयोपशम भाव से उत्पन्न हो वह अश्रुतनिश्रित-आभिनि-बोधिक ज्ञान कहलाता है। अश्रुतनिश्रित-आभिनिबोधिक ज्ञान के चार प्रकार होते हैं। जैसे कि-१-औत्पातिकी बुद्धि, २-वैनयिकी बुद्धि, ३ कर्मजा बुद्धि और ४-पारिणामिकी बुद्धि। औत्पातिकी आदि शब्दों की अर्थविचारणा इस प्रकार है—

१-औत्पातिकी बुद्धि—

बिना देखे, बिना सुने और विना सोचे हुए पदार्थों को सहसा ग्रहण करके कार्य को सिद्ध करने वाली औत्पातिकी बुद्धि होती है। इस बुद्धि में व्यक्ति को ऐसी बात सूझती है कि वह तत्काल प्रश्न-कर्ता को मौन करवा देता है, स्फुरणाशक्ति की प्रबलता ही इस की अपनी विशेषता होती है। इस बुद्धि का धनी व्यक्ति बड़ा हाजिर-

---

* पण्डित सुखलाल जी के तत्त्वार्थसूत्र से साभार उद्धृत।

जवाब होता है। इस बुद्धि का हार्द समझाने के लिए श्री नन्दी सूत्र में अनेकों उदाहरण दे रखे हैं। वहाँ लिखा है कि नट-पुत्र रोहक बड़ा प्रतिभाशाली बालक था, एक दिन वह रोहक, नदी के किनारे बैठा था, वहां रेत पर उसने सामने दिखाई दे रही राजधानी का नक़शा तैयार किया, इधर अचानक राजा घोड़े पर सवार हो कर आरहा था, अपने नक़शे के उपर से उसे आते देखकर रोहक बोला-ओ आने वाले ! इधर से मत आओ, यह राजभवन है, यहां बिना आज्ञा के आना निषिद्ध हैं। यह सुनकर नरेश बडे विस्मित हुए, अपने घोड़े से नीचे उतरकर राजा ने जब वह नक़शा देखा, तो उन के आश्चर्य की सीमा नहीं रही। नक़शा सर्वथा यथार्थ था। राजा ने रोहक का नाम, ठिकाना आदि सब परिचय प्राप्त किया और वहाँ से चलकर अपने महल में आया। राजा रोहक की बौद्धिक शक्ति से बड़ा प्रभावित हो रहा था, फलतः उस ने विचार किया कि मेरे ४९९ मंत्री हैं, यदि इन के ऊपर एक और कुशाग्रबुद्धि महामंत्री नियुक्त कर दिया जाए तो मैं सुख-पूर्वक राज्य का संचालन कर सकता हूँ। बालक रोहक कितना बुद्धिमान है ? यह देखना चाहिए। यदि यह बुद्धिशाली प्रमाणित हो जाए तो महामंत्री के सिंहासन पर इसे ही बिठा दिया जायगा। राजा ने रोहक की जिस तरह परीक्षा ली थी, उसे एक दो उदाहरणों से प्रस्तुत करता हूँ। ये सब औत्पातिकी बुद्धि के उदाहरण हैं।

१—रेत के रस्से—

राजा ने नटपुत्र रोहक की बौद्धिक परीक्षा करने के लिए गाँव वालों को आदेश दिया कि तुम्हारे गांव का रेता बहुत बढ़िया है, अतः उस का एक रस्सा बना कर शीघ्र भेजो। राजा का आदेश पाकर गांव वाले हैरान रह गए। भला रेत का रस्सा भी होता है ? यह कौन बनाएगा ? नटपुत्र रोहक बड़ा बुद्धिशाली बालक है, गांव वालों को इस बात का पता था, फलतः लोगों ने रोहक से राजा के आदेश की सारी की सारी घटना कह सुनाई। रोहक बोला-चिन्ता न करो, मैं अभी इस

समस्या का समाधान किए देता हूं । उस ने राजा को समाचार भेज दिया कि हम सब नट हैं, नाचना-गाना ही हम जानते हैं, रस्से बनाने का धन्धा हमारा नहीं है, परन्तु आपका आदेश है, और उस का पालन करना हमारा धर्म है । अतः विनीत प्रार्थना है कि आप रेत के रस्से का एक नमूना भेज दे, उसके समान रस्सा तैयार करके भेज दिया जायगा । राजा यह उत्तर पाकर निरुत्तर होगए ।

२ मीठे जल वाला कूप—

एक दिन राजा ने फिर गाव वालों को आदेश दिया कि तुम्हारे गाव के कूप का पानी बड़ा मीठा है, अतः उसे महलों में पहुँचाओ, अन्यथा सारे गांव को उजाड़ दिया जाएगा । राजा के इस आदेश को सुनकर सभी ग्रामीण चिन्ता के सागर में निमग्न होगए । भला कूप भी कोई गाय या भैंस है, जिस को शहर में भेज दिया जाए ? अन्त में, गाव वालों ने रोहक से इस समस्या का समाधान पूछा । रोहक बोला– राजा के पास समाचार भेज दो कि आप की आज्ञा सर्वथा शिरोधार्य है, परन्तु हमारा कूप ग्रामीण है, उस ने नगर कभी देखा नहीं है, महल का मार्ग भी उसे आता नही है, ग्रामीण होने से नगर में आने के लिए उसे लज्जा भी अनुभव हो रही है । अत. कृपया आप अपने नगर-कूप को हमारे गाँव में भेज देवे । उसके साथ हम अपना ग्रामीण-कूप भेज देंगे । रोहक के कथनानुसार यह समाचार जब राजा के पास भेजा गया तो राजा रोहक के बौद्धिक चमत्कार से बड़ा ही चमत्कृत हुआ ।

श्री नन्दीसूत्र मे, रोहक कुमार के अनेकों ऐसे उदाहरण दे रखे हैं, जो उस की औत्पातिकी बुद्धि का भली-भाँति परिचय करा रहे हैं । इसी औत्पातिकी बुद्धि के प्रभाव से नटपुत्र रोहक एक दिन नगर-नरेश के हृदय-सिंहासन पर आसीन होने में सफल हो गया और अन्त में वह राज्य के महामंत्री पद पर प्रतिष्ठित कर दिया गया । नटपुत्र रोहक की भांति महामंत्री अभय कुमार भी औत्पातिकी बुद्धि के धनी थे । "अकबर-बीरबल-विनोद" नामक पुस्तक में राज्यमंत्री बीरबल के भी

ऐसे अनेकों कथानक देखने में आते हैं, जिनसे बीरबल की औत्पातिकी बुद्धि का स्पष्टता के साथ परिचय प्राप्त हो जाता है।

२—वैनयिकी बुद्धि—

सन्तजनों, गुरुजनों तथा वृद्ध-जनों की विनीतता से, सेवा तथा शुश्रूषा से प्राप्त होने वाली बुद्धि वैनयिकी बुद्धि कहलाती है। जो साधक विनय-धर्म की आराधना करते हैं, अस्मिता और मद की भावना से दूर रह कर माता, पिता गुरु, आचार्य, उपाध्याय, साधु और अपने से वयोवृद्ध व्यक्तियों की विनय-भक्ति एवं उन का आदर करते हैं, उन की सुखसुविधाओं का पूर्ण-रूपेण ध्यान रखते हैं, उन साधकों को विनय-जन्य जो सूझबूझ अधिगत होती है, उसे वैनयिकी बुद्धि कहते हैं।

१—गुरु के दो शिष्य-

जैनागमों ने विनय को धर्म का मूल *फरमाया है। जैसे मूल के बिना वृक्ष नहीं टिकता, वैसे विनय के बिना धर्म की स्थिति नहीं होती, अतः जो व्यक्ति धर्म की आराधना करना चाहता है, उसे सर्व-प्रथम अपने को विनीत बनाना पड़ता है। विनीतता से उन्मुक्त और अहंकार से युक्त व्यक्ति न तो धर्म के क्षेत्र में सफल होता है और नाँहि उसे व्यावहारिक-सांसारिक क्षेत्र में ही सफलता उपलब्ध होती है, क्योंकि विनय की आराधना व्यक्ति की बुद्धि को सात्त्विक और प्रशस्त बनाती है, जब कि अविनय, उद्दण्डता या उच्छृङ्खलता व्यक्ति की बुद्धि का स्वास्थ्य ही बिगाड़ देती है, उसमें सूझबूझ उत्पन्न नहीं होने देती, उसका सोचा या कहा हुआ फलादेश कभी सफल नहीं हो पाता। इस तथ्य को एक उदाहरण से समझिये—

गुरु के दो शिष्य थे, गुरुदेव दोनों को समानरूप से निमित्त-शास्त्र पढाया करते थे। दोनों शिष्यों में एक विनीत था, गुरुदेव का आज्ञा-कारी और उनकी विनय-भक्ति करने वाला था, इसके विपरीत, दूसरा

---

*"धम्मस्स विणओ मूल"। दशवैकालिक सूत्र अ० ९ उ० २, गाथा २।

शिष्य अविनीत था, गुरु की आज्ञा की कभी भी परवाह नही करता था, जो चाहता था, वहीं करता था। एक बार ये दोनों शिष्य नगर के बाहिर तालाब के किनारे वटवृक्ष के नीचे विश्राम कर रहे थे। उसी समय एक वृद्धा सिर पर पानी का घड़ा रखे उनके सामने आई। बुढिया इन दोनों गुरुभाइयों को जानती थी, उसे पता था कि ये दोनों बड़े ऊंचे, आचारनिष्ठ गुरु के शिष्य हैं, पठित भी हैं। बुढिया के मन में, विदेश गए पुत्र का पत्र न आने के कारण बड़ी उदासीनता थी, योग्य गुरु के योग्य शिष्यों को देखकर बुढिया ने अपने मन का बोझ हलका करने का बड़ा सुन्दर अवसर समझा। उस ने कहा-महात्मन्! मेरा पुत्र विदेश गया हुआ है, उसका कोई समाचार नहीं आया, कभी पुत्र का दर्शन हो सकेगा? कृपा करो, मेरा मन बड़ा उदास हो रहा है, मेरी उदासी दूर करो। जब बुढिया यह प्रश्न कर रही थी, उसी समय उस के सिर पर रखा हुआ पानी का घड़ा भूमि पर गिर जाता है, और गिरते ही टूट जाता है। बुढिया के घड़े की यह दशा देख कर अविनीत शिष्य से रहा नहीं गया, वह तत्काल बोल उठा—बुढिया! तुझे पुत्र के दर्शन नही हो सकेंगे। यह बात सुनते ही बुढिया चीख उठी, बुढिया की यह दयनीय दशा देख कर विनीत शिष्य बोले-माई! चिन्ता न कर, तेरा पुत्र तुझे अवश्य मिलेगा, संभव है, वह घर ही आया बैठा हो। बुढिया का इतना सुनना था कि उस का मुख-कमल सूर्यमुखी कमल की भाति खिल उठा, वह सीधी अपने घर गई, तो क्या देखती है, सचमुच उस का पुत्र घर पर आया हुआ है। पुत्र-दर्शन होते ही बुढिया आनन्द-विभोर हो उठी। पुत्र घर आया है या नहीं? यह देखने के लिए दोनों गुरुभाई भी बुढिया के पीछे-पीछे आ रहे थे। अविनीत शिष्य ने जब पुत्र को घर बैठे देखा तो बड़ा लज्जित हुआ, और विचार करने लगा कि मालूम होता है, गुरुदेव ने मुझे अच्छी तरह नहीं पढाया परन्तु इसका वे ध्यान के साथ शिक्षण कराते हैं, अन्त में, दोनों शिष्य गुरुदेव के चरणों में उपस्थित हुए।

अविनीत शिष्य ने समस्त घटना सुनाते हुए अपने को अच्छी तरह शिक्षित न करने का गुरु महाराज को उपालंभ दिया। उपालंभ की बात सुन कर गुरुदेव फरमाने लगे कि पहले अपनी-अपनी बात कहो। अविनीत शिष्य बोला—बुढिया के गिरे घट को देखकर मैंने विचार किया कि जब इस का घड़ा ही फूट गया है, तब इस को पुत्र-दर्शन रूप घट के दर्शन कैसे हो सकते है ? इस के अनन्तर विनीत शिष्य कहने लगा कि गुरुदेव ! प्रश्न के साथ ही घट के गिर जाने के कारण मैंने सोचा—यह घड़ा मिट्टी से उत्पन्न हुआ है, उसी में जा मिला है और घड़े का पानी, पानी में जा मिला है, जब यहां सजातीय तत्त्व सजातीय तत्त्व से मिल रहे हैं, तो मैंने जान लिया कि मां का पुत्र मां से अवश्य मिलेगा। विनीत शिष्य की बात सुनकर गुरुदेव उसकी बुद्धि की सराहना करते हुए अविनीत शिष्य से फरमाने लगे—बेटा! मेरा इस में क्या दोष है ? जैसे निमित्तशास्त्र इस को पढाया जाता है, वैसे ही तुम्हें पढाया जाता है। मेरे पढाने में कोई अन्तर नहीं है। अन्तर केवल तुम्हारी बुद्धि का है। एक बात का ध्यान रखो, जो विद्यार्थी विनय से पढता है, गुरु को आदरास्पद मान कर विद्या का अध्ययन करता है, उसे जो बुद्धि प्राप्त होती है, वह सात्त्विक और सकल मनोरथों को सफल बनाने वाली बुद्धि होती है। विनय से उत्पन्न वैनयिकी बुद्धि की सूझबूझ सदा सफल रहती है, किन्तु विनयहीन अविनीत की बुद्धि किसी भी मनोरथ की साधिका नहीं होती है, उससे उत्पन्न होने वाली सूझबूझ से व्यक्ति की कामना कभी पूर्ण नहीं हो पाती।

वैनयिकी बुद्धि किस तरह कार्यसाधिका होती है ? यह ऊपर के उदाहरण में स्पष्ट कर दिया गया है। इस उदाहरण से यह प्रेरणा प्राप्त होती है कि विवेकशील मनुष्य को गुरुजनों की विनय एवं उन की सेवा-शुश्रूषा करनी चाहिए, आज्ञा का पालन करना चाहिए ताकि वह वैनयिकी बुद्धि को अधिगत करके अपने उद्देश्य में सफलता प्राप्त करता हुआ अपने गुरुजनों को यशस्वी बना सके। कलिकाल

सर्वज्ञ आचार्य हेम-चन्द्र जी ने विनय के द्वारा ही अपने गुरुजनों से विद्या की सम्पत्ति से अपने-आप को मालामाल बनाया था। विनय कितनी महत्त्वशालिनी होती है ? यह वैनयिकी बुद्धि के सुखान्त परिणाम से भली-भाँति अवगत हो जाता है।

विनय के सात भेद—

विनय शब्द की व्युत्पत्ति करते हुए संस्कृत के एक आचार्य लिखते हैं—**विनीयते क्षिप्यते अष्ट-प्रकारं कर्मानेनेति विनयः।** अर्थात् जिस से आठ प्रकार का कर्म-मल दूर हो उसे विनय कहते हैं। विनय की आराधना में दूसरे को उत्कृष्ट समझ कर उसके प्रति श्रद्धाभक्ति दिखलानी पड़ती है। जैनाचार्यों ने विनय के सात भेद बताए हैं—

१—**ज्ञानविनय**—ज्ञान, तथा ज्ञानी पर श्रद्धा रखना, इनकी भक्ति करना, २—**दर्शनविनय**—दर्शनधारी (सम्यक्त्वी) की भक्ति करना, उन को देखकर खड़े होना, वस्त्रादि से सम्मानित करना। ३—**चारित्रविनय**—सामायिक आदि जो पंचविध चारित्र हैं, इन के प्रति श्रद्धाशील होना। ४—**मनविनय**—मन की अशुभ प्रवृत्ति को रोकना, और शुभ प्रवृत्ति में उसे लगाना। क्रोध आदि दोषों से मन को पृथक् रखना। क्षमा, सरलता आदि सद्गुणों की सुगन्धि से मन को सुगन्धित बनाना। मन से आचार्य, उपाध्याय आदि महापुरुषों का मान करना। ५—**वचनविनय**—वचन से गुरुजनों, वृद्धजनों की विनय करना, वचन की अशुभ प्रवृत्ति को रोकना, उसे शुभ व्यापार में लगाना, ६—**कायविनय**—शरीर से आचार्य, उपाध्याय का मान करना, काया को पापमय व्यापार से हटाना और धर्ममय व्यापार में लगाना, सावधानी से चलना, बैठना, उठना, लेटना, इन्द्रियों और योगों की प्रवृत्ति करना। और ७—**उपचारविनय**—दूसरों को सुख प्राप्त हो इस उद्देश्य से बाह्य क्रियाएं करना, गुरुजनों के पास रहना, उनकी इच्छानुसार चलना, दूसरे के द्वारा अपने ऊपर किए हुए उपकार का बदला चुकाना,

दु:खियों की रक्षा के लिए उन की गवेषणा करना, अवसर देखकर चलना।

विनीत के लक्षण—

विनय के स्वरूप को लेकर ऊपर की पंक्तियों में निवेदन किया जा चुका है। विनयधर्म की आराधना करने वाले व्यक्ति को विनयी या विनीत कहा जाता है। विनीत व्यक्ति को किन-किन विशेषताओं से अपने को विशिष्ट रखना पड़ता है? यह समझ लेना भी आवश्यक है। भगवान महावीर विनीत के चिन्ह संसूचित करते हुए फरमाते हैं—

आणानिद्देस-करे, गुरूणमुववाय-कारए।
इंगियाकारसंपन्ने, से विणीय त्ति वुच्चइ ॥१॥

—उत्तराध्ययन सू० अ० १/१

—जो व्यक्ति गुरुजनों की आज्ञा का पालक है, उनके समीप रहने वाला है, उनके इंगित (भौंह आदि की चेष्टा) और आकार (मुख की आकृति) को समझने में समर्थ होता है, वह विनीत कहलाता है।

अह पण्णरसहिं ठाणेहिं सुविणीए त्ति पवुच्चइ।
नीयवित्ती अचवले, अमाई अकुऊहले ॥१॥
अप्पं च अहिक्खिवई, पबंधं च न कुव्वइ।
मेत्तिज्जमाणो भयइ, सुयं लद्धं न मज्जइ ॥२॥
न य पावपरिक्खेवी, न य मित्तेसु कुप्पइ।
अप्पियस्स वि मित्तस्स, रहे कल्लाण भासइ ॥३॥
कलह-डमर-वज्जए, बुद्धे अभिजाइए।
हिरिमं पडिसंलीणे, सुविणीए त्ति वुच्चइ ॥४॥

—उत्तराध्ययन० अ० ११/१०,११-१२,१३

पन्द्रह बातों से मनुष्य सुविनीत कहलाता है। जैसे कि १-नीचैर्वृत्ति-नम्रता। गुणों में आने से जो बड़े हैं, विशिष्ट संयमी हैं, उनके सामने नम्र-अवनत रहना। २-अचपलता-गुरुजनों के निकट चपलता, चंचलता न रखना, गुरुदेव बोल रहे हैं, उस समय मध्य में न बोलना, इधर उधर न ताकना, और व्यर्थ में इधर-उधर न घूमना। ३-निष्कपटता-मायाचार का सेवन न करना। ४-कुतूहलरहितता-खेल, तमाशा आदि कौतुकवर्धक बातों से रहित होना, या हँसी मज़ाक, हास्यविनोद से दूर रहना। ५-अधिक्षेप न करना-ज्ञान आदि गुणों से श्रेष्ठ गुरुजनों का अपमान न करना। ६-प्रबन्ध-कलह उत्पन्न करने वाली बात न कहना। ७-मैत्री-करने पर उसका वमन न करना। ८-निरभिमानता-शास्त्र का ज्ञान प्राप्त करके अभिमान न करना। ९-पापपरिक्षेपी न होना-गुरुजनों या दूसरों की भूल को इधर-उधर न फैलाना। १०-शान्ति रखना-हितैषी मित्रों के सत्य मार्ग सुझाने पर या किसी अनुचित कार्य से रोकने पर कुपित न होना। ११-गुणग्राही होना- यदि अप्रिय मित्र सामने न हो तथापि उसका गुणानुवाद करना, किसी की प्रत्यक्ष या परोक्ष में निन्दा न करना। १२-कलह-डमरवर्जकता हो—वाचनिक युद्ध कलह और कायिक युद्ध डमर कहलाता है, इन दोनों से रहित होना। १३-कुलीनता हो—कुलीनता के योग्य गुणों को धारण करना। १४-लज्जाशीलता हो, वृद्धजनों या गुरुजनों के सामने हंसी-दिल्लगी न करना, उन की लज्जा, शरम अनुभव करना और १५-प्रतिसंलीनता हो—जितेन्द्रियता और इन्द्रियों पर अंकुश रखना।

विनय की महिमा महान है, धर्म-साधना का चरम और परम फल जो मोक्ष है, इस की उपलब्धि भी विनय के द्वारा ही होती है। इस लोक और परलोक, इन दोनों में सुख-शान्ति को प्राप्त करने का विनय से बढ़कर अन्य कोई उपाय नहीं है। परन्तु एक बात अवश्य समझ लेनी चाहिए कि विनय जितनी महान है, इस का आराधन करना उतना ही कठिन है, विनीतता के लिए मन को मारना पड़ता है, अस्मिता का परित्याग करना अत्यावश्यक होता है।

३—कर्मजा बुद्धि—

बुद्धि के चार प्रकारों में तीसरा प्रकार कर्मजा है। कर्म अर्थात् सतत अभ्यास और विचार से विस्तार को प्राप्त करने वाली बुद्धि कर्मजा या कार्मिकी बुद्धि कहलाती है। जैसे सुनार, लुहार, किसान आदि कर्म करते-करते अपने धन्धे में उत्तरोत्तर दक्ष एवं निपुण हो जाते हैं। नट अपने व्यवहार में काम करते-करते इतने होशियार हो जाते हैं कि रस्सी पर भी अनेकविध मनोरंजक खेल दिखला डालते हैं! मिठाई घर में भी बनाई जाती है, और हलवाई भी उसे बनाता है, परन्तु जितनी सफाई और रोचकता हलवाई की बनी मिठाई में होती है, उतनी घर की बनी मिठाई में नहीं। कुम्भकार घड़े बनाता है, घड़े भी अनेक प्रकार के होते हैं, कोई बहुत बड़ा, कोई बहुत छोटा, किसी को बहुत सुन्दर चित्रों से चित्रित कर रखा होता है, और कोई सर्वथा चित्रहीन होता है, तथापि उन की सुन्दरता में कोई अन्तर नहीं आने पाता, मिट्टी के खिलौने बनाने वाले शिल्पकार ऐसे-ऐसे देखने में आते है जो असली और नकली पदार्थों के भेद को भी समाप्त कर डालते हैं। असली अखरोटों में यदि मिट्टी के नकली अखरोट रख दिए जाएं तो उन में कौन असली है और कौन नकली है? यह पता लगाना भी मुश्किल हो जाता है। इन पंक्तियों के लेखक को अच्छी तरह स्मरण है कि एक बार जैनधर्म-दिवाकर, आचार्यसम्राट् गुरुदेव परमश्रद्धेय पूज्य श्री आत्माराम जी महाराज के नेतृत्व में रोपड़ जाना हुआ। वहाँ एक मिट्टी के खिलौने बनाने वाला शिल्पकार रहता था। मुझे उसके घर जाने का अवसर मिला। मैंने देखा-सामने कबूतरों का जोड़ा है। एक कबूतर है, एक कबूतरी है। दोनों बिल्कुल पास-पास खड़े हैं, एक दूसरा एक दूसरे को निहार रहा है। मेंने सोचा-हमारे जाने से कहीं यहाँ से ये उड़ न जाएं, फलतः मैं जब दूसरे मार्ग से जाने लगा तो घर का मालिक कहने लगा कि आप कोई संकोच न करें, कबूतरों का मत खयाल करें। ये तो मिट्टी के बने हुए हैं। गृहस्वामी की बात

सुनकर मैं आश्चर्यचकित रह गया। कबूतरों में रंगों का विन्यास इतनी सुन्दर पद्धति से किया हुआ था कि उसमें स्वाभाविकता दृष्टिगोचर हो रही थी। इसके अतिरिक्त, चित्रकारों की तूलिका में भी कुछ निराला ही चमत्कार होता है, चित्रकारों के बनाए ऐसे-ऐसे चित्र देखे हैं, जिनको देखकर ऐसा लगता है कि चित्रवाला साक्षात ही विराजमान हो रहा है। इन सब उदाहरणों के उल्लेख से हम यह अभिव्यक्त करना चाहते हैं कि एक ऐसी बुद्धि होती है, जो लगातार किए गए कर्म के अभ्यास से उत्पन्न होती है, वह बुद्धि कर्मजा बुद्धि कही जाती है। सुनार, लुहार, किसान, हलवाई, कुम्हार, चित्रकार आदि जितने भी लोग हैं ये काम-करते-करते अपने कामों में इतनी अधिक निपुणता प्राप्त कर लेते हैं कि कुछ कहते नहीं बनता, यही निपुणता कर्मजा बुद्धि कहलाती है।

४–पारिणामिकी बुद्धि—

अति दीर्घ काल तक पूर्वापर पदार्थों के देखने आदि से उत्पन्न होने वाला आत्मा का जो परिणाम है, उस से पैदा होने वाली जो बुद्धि है, उस को पारिणामिकी बुद्धि कहते हैं। देखा जाता है कि मनुष्य ज्यों-ज्यों बढ़ता है, आयु की दृष्टि से बड़प्पन को प्राप्त करता है, त्यों-त्यों वह अनुभव के क्षेत्र में भी आगे-आगे बढ़ता चला जाता है, अपेक्षाकृत उस में दूरदर्शिता और गंभीरता भी प्रकट होने लगती है, युवक की भाँति उसमें अकेला जोश ही नहीं रहता परन्तु होश भी आने लगता है। युवक में प्राय: जोश की अधिकता और होश की स्वल्पता होती है। इसके विपरीत, वृद्ध व्यक्ति में होश की अधिकता और जोश की स्वल्पता पाई जाती है। इसीलिए युवक की अपेक्षा वयोवृद्ध व्यक्ति की सूझबूझ में प्राय: अन्तर देखने को मिलता है, युवक ने केवल यौवन के दिन देखे होते हैं, उस ने बुढ़ापे के दर्शन नहीं किए होते, परन्तु वृद्ध व्यक्ति ने युवावस्था और वृद्धावस्था दोनों के दर्शन कर रखे होते हैं, परिणामस्वरूप वृद्ध का अनुभव युवक की अपेक्षा अधिक

दूरदर्शी तथा चिन्तनशील होता है। अवस्था की दृष्टि से जिस व्यक्ति को बहुत काल तक संसार के अनुभव प्राप्त करने का अवसर मिला है, उस व्यक्ति की जो चेतना है, विचार करने की क्षमता है, अथवा बुद्धि है, उसे पारिणामिकी बुद्धि कहा जाता है। इस बुद्धि का अभिप्राय एक उदाहरण से स्पष्ट किए देता हूं—

एक राजा की अवस्था ३२ वर्षों की थी, वह पूर्णरूप से तरुण था, एक बार तरुण सेवकों ने आकर उस से प्रार्थना की कि नरेश ! आप युवक हैं, अतः आपको अपने तरुणत्व की सुरक्षा करते हुए राज्य का सब प्रबन्ध युवकों के द्वारा ही सम्पन्न करना चाहिये। किसी भी वृद्ध को अधिकार के आसन पर नहीं बैठने देना चाहिए। वृद्धों के मध्य में आप विराजमान हों तो यह शोभा नहीं देता। युवक का वृद्ध से मेल भी क्या है ? युवकों की प्रार्थना सुनकर युवक-नरेश युवकों से कहने लगे-प्रिय युवको ! युवकों में कार्य करने की क्षमता तो पर्याप्त है, परन्तु दीर्घदर्शिता और गंभीरता प्रायः नही होती। दीर्घदर्शिता और गंभीरता जनित कार्यों को सम्पन्न करने के लिए वृद्धों का होना अत्यावश्यक है। युवकों ने जब नरेश की बात से सहमति प्रकट न की, तब नरेश बोले—घबराते क्यों हो, अभी परीक्षा कर लेता हूं। नरेश ने युवकों और वृद्धों, दोनों को बुला लिया। दोनों दलों के सामने एक प्रश्न रखते हुए कहा— यदि कोई मेरे सिर पर पादप्रहार करे तो बतलाओ उसे क्या दण्ड देना चाहिए ? युवकों ने सुनते ही उत्तर दिया—नरेश ! जो आप के मस्तक पर पादप्रहार करे उसे तो तत्काल फांसी के तख्ते पर लटका देना चाहिए, या भूमि में गड़वा कर शिकारी कुत्तों से उस के शरीर को नुचवा देना चाहिए। युवकों की बात सुन कर नरेश ने वृद्धों से भी कुछ कहने को कहा। वृद्ध बोले—हजूर ! हमें विचार करने का अवसर दीजिए, विचार करने के अनन्तर आप के प्रश्न का समाधान कर सकेंगे। नरेश की स्वीकृति मिलने पर वृद्ध-मण्डल ने एकत्रित हो कर विचार करना आरम्भ किया कि राजा के सर पर शत्रु के अतिरिक्त या तो बाल राजकुमार पादप्रहार

कर सकता है, या फिर प्रणयकोप से कुपित हुई रानी ऐसा कार्य कर सकती है। राजकुमार और रानी दोनों ही स्नेहमूर्ति होते हैं, अतः राजा को कुपित न होकर दोनों को स्नेह प्रदान करना चाहिए। यह विचार करने के अनन्तर वृद्ध-मण्डल नरेश की सेवा में विनयपूर्वक प्रार्थना करता हुआ बोला—महाराज! आप के सर पर राजकुमार या रानी ही प्रहार कर सकती है, अन्य नहीं। अतः आप की ओर से उनको दण्ड नहीं मिलना चाहिए प्रत्युत रोष को दूर करके उन्हें उन की अभिलषित वस्तु देनी चाहिए। वृद्धों का यह उत्तर सुन कर युवक नरेश बड़ा प्रसन्न हुआ और उसने वृद्धों को किसी भी मूल्य पर अपने दरबार से जाने नहीं दिया।

युवक नरेश के उक्त उदाहरण से यह स्पष्ट हो जाता है कि आयु की परिपक्वता के साथ वयोवृद्ध मनुष्य के जीवन में एक निराली ही सूझबूझ पैदा हो जाती है, जिसे समय पर ही देखा व समझा जा सकता है। शास्त्रीय परिभाषा में इस निराली सूझबूझ को ही पारिणामिकी बुद्धि के नाम से व्यवहृत किया जाता है।

पीछे कहा जा चुका है कि मतिज्ञान के ३३६ भेद होते हैं। औत्पातिकी आदि चार भेद और मिला देने से मतिज्ञान के ३४० भेद हो जाते हैं। जातिस्मरण भी मतिज्ञान के अन्तर्गत ही रहता है। जातिस्मरण का अर्थ है—पिछले जन्मों का बोध। जिस जीवात्मा में मतिज्ञानावरणीय कर्म का क्षयोपशम जितना अधिक होता है, उस जीवात्मा को जातिस्मरण ज्ञान भी उतना ही स्पष्ट और उतना ही अधिक होता है। उत्तराध्ययन सूत्र के १९वें अध्ययन के अनुसार मृगा-पुत्र को जातिस्मरण ज्ञान उत्पन्न हुआ था, जिस के प्रभाव से उसने अपने देवलोक से आगमन, मनुष्य भव में सम्पादित संयमसाधना तथा नरकगति में उपभुक्त भीषण वेदनाओं का बोध प्राप्त कर लिया था। यदि मतिज्ञान के ३४० भेदों में जातिस्मरण का और संकलन कर लिया जाए तो इस के ३४१ भेद बन जाते हैं। मतिज्ञान के इन समस्त भेदों को जो कर्म आवृत कर लेता है, परदा बन कर उन पर छा जाता

है उसे मतिज्ञानावरणीय कर्म कहते हैं। मतिज्ञानावरणीय कर्म की प्रभावगत अधिकता जीव की मति को भंग कर देती है, और इसके प्रभाव की स्वल्पता जीवन में ज्ञानगत विलक्षणता ले आती है। उदाहरणार्थ, स्थानाङ्ग सूत्र में बाद के दस दोष लिखे हैं। गुरु, शिष्य या वादी, प्रतिवादी के आपस में शास्त्रार्थ करने का नाम वाद है। इसके दस दोषों में मतिभंग भी एक दोष माना गया है। अपनी ही मति का, बुद्धि का भंग हो जाना, जानी हुई बात को भूल जाना या उसका समय पर न सूझना मतिभंग दोष कहलाता है। यह मतिज्ञानावरणीय कर्म के प्रभाव की अधिकता के कारण ही उत्पन्न होता है। श्री स्थानाङ्ग तथा श्री दशाश्रुतस्कन्ध सूत्र में गणी की आठ सम्पदाओं का उल्लेख मिलता है। साधुओं अथवा ज्ञान आदि गुणों के समूह को गण कहते है। गण को धारण करने वाले मुनिराज गणी कहलाते हैं। दूसरे शब्दों में, कुछ साधुओं को अपने साथ लेकर गुरुजनों की आज्ञा से जो मुनिराज अलग विचरते हैं, पार्श्वस्थ साधुओं के आचार-विचार का ध्यान रखते हुए स्थान-स्थान पर धर्म का प्रचार करते हैं, अहिंसा, सयम और तप की त्रिवेणी में गोते लगाकर जनता का उत्थान एवं कल्याण करते हैं, उन्हें गणी कहा जाता है। गणी की गुण-सम्पदा गणि-सम्पदा मानी जाती है। यह गणिसम्पदा आठ प्रकार की होती है, इसमें छठी सम्पदा का नाम मति-सम्पदा है। मतिज्ञान की उत्कृष्टता, इसकी विलक्षणता मतिसम्पदा होती है। यह मति-सम्पदा मतिज्ञानावरणीय कर्म के प्रभाव की न्यूनता के कारण जीव को अधिगत हो पाती है। इसके अतिरिक्त, यह भी समझ लेना चाहिए कि मतिज्ञान जब मिथ्यात्वी के पास चला जाता है तब यह अज्ञान बन जाता है। अज्ञान का अर्थ है—सम्यक्त्वहीन बोध। वह अज्ञ संसार का तारक न होकर जीव को संसार में रुलाने का कारण बनता है।

२—श्रुतज्ञानावरणीय कर्म—

ज्ञान के पञ्चविध भेदों में श्रुतज्ञान दूसरा भेद है। इन्द्रिय और

मन की सहायता के द्वारा, शास्त्रों के पढने और सुनने से जो बोध होता है, उसे श्रुतज्ञान कहते है। अथवा-वाच्यवाचक भाव सम्बन्ध द्वारा शब्द से सम्बद्ध अर्थ को ग्रहण करने वाला इन्द्रियमनः-कारणक ज्ञान श्रुतज्ञान है। जैसे-कम्बुग्रीवा (शंख जैसी सुराहीदार गरदन) आदि आकार वाली वस्तु जलधारण आदि क्रिया में समर्थ है, और घट शब्द से कही जाती है, इत्यादि रूप से शब्दार्थ को पर्यालोचना के अनन्तर होने वाला ज्ञान श्रुतज्ञान है। जो शक्ति श्रुतज्ञान को आवृत या आच्छादित कर लेती है, उसे श्रुत-ज्ञानावरणीय कर्म कहते हैं।

मतिज्ञान और श्रुतज्ञान में अन्तर—

मति-ज्ञान की भाँति श्रुतज्ञान भी इन्द्रिय और मन की सहायता से उत्पन्न होता है, फिर इन दोनों में क्या अन्तर होता है? यह समझ लेना भी आवश्यक है। केवल इन्द्रिय और मन की सहायता की दृष्टि को लेकर चिन्तन करें तो मति और श्रुत इन दोनों ज्ञानों में कोई अन्तर नही पाया जाता, किन्तु वैसे बहुत बड़ा अन्तर रहता है, क्योंकि मति-ज्ञान विद्यमान वस्तु में प्रवृत्त होता है, जबकि श्रुतज्ञान अतीत, अनागत और वर्तमान इन त्रैकालिक विषयों में प्रवृत्ति करता है। इस विषयकृत भेद के अतिरिक्त दोनों ज्ञानों में यह भी अन्तर है कि मति-ज्ञान में शब्दोल्लेख नही होता जबकि श्रुतज्ञान में होता है। फलतः, "जो ज्ञान इन्द्रिय-जन्य और मनोजन्य होने पर भी शब्दोल्लेख सहित है वह श्रुतज्ञान, और जो शब्दोल्लेख रहित है, वह मति-ज्ञान कहलाता है।" यह कहा जा सकता है।

श्रुतज्ञान के दो भेद—

श्री नन्दी सूत्र तथा श्री स्थानाङ्ग सूत्र में श्रुतज्ञान के दो भेद बतलाए गए है। जैसेकि १. **अङ्गप्रविष्ट श्रुतज्ञान**, और २, **अंगबाह्य श्रुतज्ञान**। जिन आगमों में गणधर महापुरुषों ने तीर्थंकर भगवान के मङ्गलमय उपदेश को ग्रथित किया है, भगवान की अर्थरूपी वाणी को विभिन्न शास्त्रों के रूप में व्यवस्थित एवं सम्पादित किया है, उन आगमों को

अङ्गप्रविष्ट श्रुतज्ञान कहते हैं। आचारांग आदि १२ अङ्गशास्त्र इसी के अन्तर्गत माने जाते हैं। आचारांग आदि अंग शास्त्रों का सामान्य परिचय इस प्रकार है—

१-श्री आचाराङ्ग सूत्र—ज्ञान, दर्शन और चारित्र आदि के आराधन करने की विधि का नाम आचार है। आचार को प्रतिपादन करने वाला आगम आचाराङ्ग कहलाता है। इस सूत्र में विशेष रूप से साधु-जीवन के विधिविधानों का उल्लेख किया गया है।

२-श्री सूत्रकृताङ्गसूत्र—इस सूत्र को सूचाकृताङ्ग भी कहा जाता है, इसमें भगवान महावीर के समय में प्रचलित ३६३ मतों का सूत्ररूप से या सूचनारूप से निर्देश किया गया है।

३-श्री स्थानाङ्गसूत्र—इस सूत्र में जीव, अजीव, जीवाजीव, स्व-सिद्धान्त, परसिद्धान्त, लोक, अलोक, तथा पर्वत आदि भौगोलिक वस्तुओं का वर्णन मिलता है। इस सूत्र में समान संख्या वाले भेदों के विषयों को एक ही साथ रखा गया है। जैसे एक भेद वाले पदार्थों का निर्देश पहले स्थान-अध्ययन में है, दो भेद वाले पदार्थों का दिग्दर्शन दूसरे स्थान में कर रखा है। यही पद्धति आगे के भेदों को ले कर भी अपनाई गई है।

४-श्री समवायाङ्गसूत्र—इस आगम में जीवादि पदार्थों का निरूपण तथा स्वसिद्धान्त और परसिद्धान्त का प्रतिपादन है। इसमें एक से लेकर कोटाकोटि तक एक सौ उनसठ बोल एक-एक भेद की वृद्धि करते हुए क्रमशः बताए गए हैं।

५-श्री भगवती सूत्र—इस शास्त्र को व्याख्या-प्रज्ञप्ति भी कहा जाता है। भगवान गौतम, देवों और मनुष्यों के द्वारा पूछे गए इस में ३६ हजार प्रश्न हैं और ३६ हजार ही उन प्रश्नों के विस्तृत समाधान हैं।

६-श्री ज्ञाताधर्मकथाङ्गसूत्र—इस में दो श्रुतस्कन्ध हैं। पहले श्रुत-स्कन्ध में १९ अध्ययन हैं, प्रत्येक अध्ययन में एक-एक कथानक है, दूसरे श्रुतस्कन्ध में धर्मकथाओं के द्वारा धर्म का स्वरूप समझाया गया है।

७—**श्री उपासकदशांगसूत्र**—श्रमणों की सेवा करने वाले उपासक कहलाते हैं। दशा अध्ययन या चर्या को कहते हैं। इस शास्त्र में दस श्रावकों के दस अध्ययन होने से यह उपासकदशा कहा जाता है। आनन्द कामदेव आदि दस श्रावकों के जीवनों का इस शास्त्र में वर्णन है।

८—**श्री अन्तकृद्दशाङ्गसूत्र**—आठ कर्मों का नाश करके संसाररूपी सागर का किनारा प्राप्त करने वाले अन्तकृत् कहलाते हैं। इन अन्तकृत् महापुरुषों के जीवनवृत्त इस शास्त्र में वर्णित किए गए हैं। इस शास्त्र के सब मिलाकर ९० अध्ययन हैं, प्रत्येक में एक-एक महापुरुष के जीवन का उल्लेख किया गया है।

९—**श्री अनुत्तरोपपातिकदशाङ्गसूत्र**—जिन का अनुत्तर-सर्वश्रेष्ठ देवलोकों में जन्म हुआ है, उन्हें अनुत्तरोपपातिक कहा जाता है। इस शास्त्र में अनुत्तरोपपातिक दशा को प्राप्त होने वाले महापुरुषों के जीवनवृत्तों का उल्लेख होने से इस को अनुत्तरोपपातिकदशाङ्ग कहा गया है।

१०—**श्री प्रश्नव्याकरणसूत्र**—इस शास्त्र के दो श्रुतस्कन्ध हैं। पहला आश्रवद्वार है और दूसरे का नाम संवरद्वार है। आश्रवद्वार में हिंसा, झूठ आदि पांच दोषों का वर्णन है, और संवरद्वार में क्रमशः अहिंसा, सत्य, अस्तेय आदि पाँच व्रतों का उल्लेख है।

११—**श्री विपाकसूत्र**—ज्ञानावरणीय आदि अष्टविध कर्मों के शुभाशुभ फल को विपाक कहते हैं, ऐसे कर्मविपाक का वर्णन जिस शास्त्र में किया गया है, उसे विपाकसूत्र कहते हैं। इसके दो श्रुतस्कन्ध हैं, पहले में दुःखान्त-परिणाम वाले जीवों का और दूसरे श्रुतस्कन्ध में सुखान्त-परिणाम वाले जीवों का उल्लेख उपलब्ध होता है।

१२—**दृष्टिवाद**—अंगशास्त्रों में दृष्टिवाद का अन्तिम स्थान है, आजकल यह उपलब्ध नहीं है। अतः वर्तमान में अंग ११ ही माने जाते हैं।

अंगबाह्य श्रुतज्ञान—

श्रुतज्ञान के दो भेदों में से दूसरा भेद अङ्गबाह्य श्रुतज्ञान का होता है। आचारङ्ग आदि अङ्गशास्त्रों के शास्त्रीय ज्ञान से बाहिर का शास्त्र-ज्ञान अङ्गबाह्य श्रुतज्ञान कहलाता है। श्री नन्दीसूत्र में "अङ्गबाह्य श्रुतज्ञान क्या होता है?" इस प्रश्न का समाधान करते हुए शास्त्रकार कहते हैं कि अङ्गबाह्य श्रुतज्ञान आवश्यक और आवश्यक-व्यतिरिक्त इन भेदों से दो प्रकार का होता है। *आवश्यक के ६ प्रकार होते हैं। जैसेकि १-**सामायिक**—राग-द्वेष के वश न होकर समभाव (माध्यस्थ्य-भाव) में रहना, किसी प्राणी को दुःख न पहुंचाते हुए सब के साथ आत्मतुल्य व्यवहार करना एवं आत्मा में ज्ञान, दर्शन, चारित्र आदि गुणों की वृद्धि करना। २-**चतुर्विंशतिस्तव**—चौवीस तीर्थंकरों के गुणों का भक्तिपूर्वक कीर्तन करना। ३.—**वन्दना**—मन, वचन और काया का वह प्रशस्त व्यापार जिस से पूज्य पुरुषों के प्रति भक्ति और सम्मान प्रकट किया जाता है। इस के द्रव्य और भाव से दो भेद होते हैं। श्रद्धा-शून्य वन्दन द्रव्य-वन्दना और श्रद्धासहित प्रणति भाव-वन्दना होती है। अथवा मिथ्या-दृष्टि की वन्दना द्रव्य-वन्दना और सम्यग्-दृष्टि की वन्दना भाववन्दना कहलाती है। ४-**प्रतिक्रमण**—प्रमादवश शुभ योग से गिरकर अशुभ योग को प्राप्त करने के अनन्तर फिर शुभ योग को प्राप्त करना। ५-**कायोत्सर्ग**—धर्म-ध्यान और शुक्ल-ध्यान की उपलब्धि के लिए एकाग्र होकर शरीर की ममता का परित्याग करना और ६-**प्रत्याख्यान**—द्रव्य और भाव से आत्मा के लिए अनिष्टप्रद, अतएव त्यागने योग्य अन्नादि को छोड़ना तथा क्रोध, मान आदि का मन, वचन, काया से यथाशक्ति त्याग करना।

---

*सम्यग् दर्शन, ज्ञान और चारित्र की आराधना के लिए आत्मा द्वारा अवश्य करने योग्य क्रिया को आवश्यक कहते हैं। इस क्रिया के विधायक शास्त्र को आवश्यक-सूत्र कहा जाता है!

जैनवाङ्मय [जैनसाहित्य] की परिधि बड़ी विशाल है, तथापि आगमों की दृष्टि को लेकर स्थानकवासी समाज की मान्यता के अनुसार अंग, उपांग, मूल, छेद और आवश्यक सूत्र इस तरह यह ३२ आगमो के रूप से हमारे सामने आता है। आचारांग आदि १२अंग-शास्त्र है, इन का परिगणन अङ्गप्रविष्ट श्रुतज्ञान में हो जाता है। अवशिष्ट उपाग, मूल, छेद तथा आवश्यक ये सब शास्त्र अङ्गबाह्य श्रुतज्ञान के अन्तर्गत माने जाते हैं। आवश्यक सूत्र को छोड़कर उपांग आदि सभी शास्त्र आवश्यक-व्यतिरिक्त स्वीकार किए गए हैं। उपाग आदि शास्त्रो का सक्षिप्त परिचय आगे की पक्तियों में दिया जा रहा है।

बारह उपांगसूत्र—

आचाराङ्ग आदि अङ्गशास्त्रों के विषयों को अधिक स्पष्ट करने के लिये अथवा कालदोषकृत बुद्धिबल और आयु की कमी को देखकर सर्वसाधारण के हित के लिए अंगशास्त्रो को आधार बनाकर भिन्न-भिन्न विषयों पर *श्रुतकेवली या पूर्वधर आचार्यों के द्वारा जिन शास्त्रों की रचना की गई है, वे शास्त्र उपाग कहलाते है, इन के बारह प्रकार होते हैं, जैसेकि—

१—**श्री औपपातिक सूत्र**—यह आचाराङ्गसूत्र का उपाङ्ग है, इसमें चम्पानगरी, पूर्णभद्रयक्ष, पूर्णभद्रचैत्य, अशोकवृक्ष, कोणिक राजा, धारिणी रानी, भगवान महावीर तथा इन के साधुओं के वर्णन के साथ-साथ तप का, अनगार गौतम के गुणों, संशयों, प्रश्नों, तथा सिद्धों के सम्बन्ध में किए गए प्रश्नोत्तरों का वर्णन है।

२—**श्री राजप्रश्नीय सूत्र**—यह सूत्रकृतांग का उपाङ्ग है। सूत्रकृतांग

---

*जो सम्पूर्ण द्वादशागी वाणी के ज्ञाता हों उन्हे श्रुतकेवली कहते हैं! केवली और श्रुतकेवली में यह अन्तर होता है कि केवली भगवान सभी द्रव्य और इन की पर्यायो को जानते है और देखते है, परन्तु श्रुतकेवली सभी द्रव्य-पर्यायो को जानते है, पर देखते नही। अत. श्रुतकेवलियो के लिए चरम-शरीरी होना आवश्यक नही है।

में अक्रियावाद का वर्णन है। अक्रियावाद का अर्थ है—क्रिया की क्या आवश्यकता है ? केवल मन की पवित्रता होनी चाहिये, इस प्रकार ज्ञान ही से मोक्ष प्राप्त करने का सिद्धान्त। इसी अक्रियावाद का दृष्टान्तों के द्वारा इस सूत्र में निरूपण किया गया है। राजा प्रदेशी का वर्णन भी इसी उपाङ्ग शास्त्र में मिलता है।

३—**श्रीजीवाभिगमसूत्र**—यह स्थानाङ्गसूत्र का उपाङ्ग है। इस में जीवों के २४ स्थान, अवगाहना, आयुष्य, अल्पबहुत्व, मुख्यरूप से अढाई द्वीप तथा सामान्यरूप से सभी द्वीपसमुद्रों का वर्णन किया गया है।

४–**श्री प्रज्ञापनासूत्र**—यह समवायांग सूत्र का उपाङ्ग है। एक-एक पदार्थ की वृद्धि करते हुए सौ पदार्थों तक का वर्णन श्री समवायांग सूत्र में किया गया है। इन्हीं विषयों का वर्णन विशेष रूप से प्रज्ञापना-सूत्र में किया गया है।

५–**श्री जम्बूद्वीपप्रज्ञप्ति सूत्र**—इस में जम्बूद्वीप के अन्दर रहे हुए भरत आदि क्षेत्र, वैताढ्य आदि पर्वत, पद्म आदि द्रह-तालाब, गंगा आदि नदियां, ऋषभ आदि कूट और भरत चक्रवर्ती का वर्णन विस्तार से किया गया है।

६. **श्री चन्द्रप्रज्ञप्तिसूत्र**—इस में चन्द्रमा की ऋद्धि, मण्डल, गति, सम्वत्सर, वर्ष, पक्ष, महीने, तिथि, नक्षत्र का कालमान, कुल और उपकुल के नक्षत्र आदि का वर्णन किया गया है। इस सूत्र का विषय गणितानुयोग है, यह गणित-प्रधान शास्त्र है।

७. **श्री सूर्यप्रज्ञप्तिसूत्र**—यह *उत्कालिक उपांगसूत्र है, इसमें सूर्य की गति का स्वरूप, प्रकाश आदि विषयों का वर्णन किया गया है।

८. **श्री निरयावलिका सूत्र**—यह आठवाँ उपांग है, इसके दस

---

*जो शास्त्र दिन और रात्रि के पहले और पिछले पहर में पढ़े जाते हैं उन शास्त्रों को कालिक कहते है, और जिन शास्त्रो को अस्वाध्याय के समय छोड़कर रात्रि और दिन में भी पढ़ा जा सकता है, वे उत्कालिक होते हैं।

अध्ययन हैं। इन में काली कुमार और सुकाली कुमार आदि दस महाराजा श्रेणिक के राजकुमारों का जीवन वर्णित किया गया है। यह सूत्र कालिक है।

९—**श्री कल्पावतंसिका सूत्र**—इस उपांग में महाराजा कोणिक के पद्मकुमार आदि राजकुमारों के जीवनों का वर्णन प्राप्त होता है। यह कालिक सूत्र है।

१०—**श्री पुष्पिका सूत्र**—इस उपांग सूत्र में चन्द्र और सूर्य आदि दस देवों का वर्णन है, इन्होंने भगवान महावीर के समवसरण में आकर विविध प्रकार के नाटक दिखलाए, गौतम स्वामी के—"इन को यह दैविक ऋद्धि कैसे प्राप्त हुई?—" इस प्रश्न का समाधान करते हुए भगवान महावीर ने सूर्यादि देवों के पूर्वभव बताए। यह कालिक सूत्र है।

११—**श्री पुष्पचूलिका सूत्र**—यह कालिक सूत्र है। इसमें श्रीदेवी और ह्रीदेवी आदि दस देवियों का वर्णन किया गया है, इन देवियों ने भगवान महावीर के समवसरण में उपस्थित हो कर विविध प्रकार के नाटक दिखलाए। गौतम अनगार के पूछने पर भगवान महावीर ने इन देवियों के पूर्वभवों का वर्णन किया।

१२—**श्री वृष्णिदशा सूत्र**—यह कालिक सूत्र है, इस में निषधकुमार आदि बारह राजकुमारों के जीवनों का उल्लेख किया गया है। इन राजकुमारों ने भगवान अरिष्ट-नेमि जी के चरणों में दीक्षा ग्रहण की थी।

चार मूल सूत्र-

साधुजीवन का मूल उसका आचार है, त्याग-वैराग्य-प्रधान आध्यात्मिक क्रियाकलाप है। जिन सूत्रों में मुख्यरूप से साधुजीवन के मूलसिद्धान्तों का निर्देश कर रखा है उन्हें मूलसूत्र कहते हैं। ये मूल-सूत्र चार हैं, इन का नाम-निर्देशपूर्वक स्वरूप इस प्रकार है।—

१—**श्री उत्तराध्ययन सूत्र**—इस सूत्र में ३६ उत्तर-प्रधान अध्ययन

है, इसलिए यह सूत्र उत्तराध्ययन कहलाता है। पहले यह सूत्र आचाराङ्गसूत्र के अध्यापन के अनन्तर पढाया जाता था, अब दशवैकालिक सूत्र के बाद पढाया जाता है। यह सूत्र कालिक है, दिन अथवा रात के पहले या पिछले पहर मे ही पढ़ा जाता है। इस सूत्र में महान शिक्षाप्रद वचन है।

२–**श्री दशवैकालिक सूत्र**—यह उत्कालिक सूत्र है, इस सूत्र के पढ़ने मे समय का कोई बन्धन नही है, आचार्य शय्यभव ने अपने पुत्र मनक शिष्य की केवल ६ मास की आयु शेष जानकर विकाल अर्थात् दोपहर से आरम्भ करके थोड़ा दिन शेष रहने तक चौदह पूर्वों तथा अंगशास्त्रो मे से दस अध्ययन निकाले, इसलिए इस सूत्र को दशवैकालिक कहा जाता है।

३–**श्री नन्दी सूत्र**—नन्दी शब्द मगल या हर्ष का बोधक है। हर्ष और मगल का कारण होने से और मति आदि पाच ज्ञानों के स्वरूप का निर्देशक होने से यह नन्दीसूत्र कहलाता है। इस सूत्र के रचयिता देववाचक क्षमाश्रमण कहे जाते हैं। यह उत्कालिक सूत्र माना गया है।

४–**श्री अनुयोग-द्वार सूत्र**—अणु-संक्षिप्त सूत्र को महान अर्थ के साथ जोड़ना अनुयोग है, अथवा अध्ययन के अर्थव्याख्यान की विधि को अनुयोग कहते हैं। अनुयोग के द्वारों-साधनों का जिस शास्त्र में वर्णन हो उसे अनुयोग-द्वार कहा जाता है। उपक्रम, निक्षेप, अनुगम और नय ये चार अनुयोग के द्वार माने गए है, प्रस्तुत सूत्र में इन्ही का विस्तृत विवेचन किया गया है।

चार छेद सूत्र–

छेद-शब्द अनेकार्थक होता है, परन्तु प्रस्तुत में यह "-निर्दोष बाह्य आचरण-" इस अर्थ का बोधक समझना चाहिए। जिन शास्त्रो मे साधुओं के बाह्य आचरण को निर्दोष बनाए रखने का विधिविधान वर्णित किया गया है, वे छेदसूत्र कहलाते हैं। ये छेदसूत्र चार होते

हैं। इनका नामनिर्देशपूर्वक विवरण इस प्रकार है—

१–**श्री दशाश्रुतस्कन्ध सूत्र**—इस सूत्र के रचयिता श्री भद्रबाहु स्वामी है, इस सूत्र के दश अध्ययन हैं, अतः इस का नाम दशाश्रुत-स्कन्ध रखा गया है। दशा अध्ययन को कहते है। यह कालिक सूत्र है। २१ शबल-दोषों, तेतीस आशातनाओं, गणी की आठ सम्पदाओं, साधु की १२ प्रतिमाओं तथा महामोहनीय कर्म के तीस स्थानों के अतिरिक्त इस शास्त्र में नव निदानों का भी वर्णन किया गया है।

२–**श्री बृहत्कल्प सूत्र**—कल्प मर्यादा को कहते हैं। साधुधर्म की मर्यादा का प्रतिपादक होने से वह शास्त्र बृहत्कल्प के नाम से कहा जाता है, इस में आहार, उपकरण, दीक्षा, प्रायश्चित्त, परिहार-विशुद्धिचारित्र, दूसरे गच्छ में जाना आदि विषयों का वर्णन किया गया है। यह कालिकसूत्र है।

३. **श्री निशीथसूत्र**–निशीथ का अर्थ है-छुपा हुआ, इस शास्त्र में सब को न बताने योग्य बातों का वर्णन है, इसलिए इस सूत्र का नाम निशीथ रखा गया है। अथवा जिस प्रकार निशीथ (कतक वृक्ष का फल) को पानी में डालने से उसका मल नीचे बैठ जाता है, ठीक इसी प्रकार जिस शास्त्र के पठन-पाठन से आठकर्म रूपी पंक का उपशम, क्षय अथवा क्षयोपशम हो जाता है उसे निशीथ कहते हैं। इस सूत्र में गुरुमासिक प्रायश्चित्त, लघु मासिक-प्रायश्चित्त और गुरु-चातुर्मासिक प्रायश्चित्त आदि प्रायश्चित्तों का वर्णन किया गया है।

४. **श्री व्यवहार सूत्र**–जिसे जो प्रायश्चित्त आता है, उस व्यक्ति को वह प्रायश्चित्त देना व्यवहार है। इस सूत्र में प्रायश्चित्तों का वर्णन है। अतएव यह व्यवहार सूत्र कहा जाता है। यह सूत्र कालिक है।

उपर की पंक्तियों में आवश्यक-व्यतिरिक्त शास्त्रों का परिचय कराया गया है। प्रश्न हो सकता है कि आवश्यक-व्यतिरिक्त शास्त्रों में उक्त उपाङ्ग आदि शास्त्रों का ही सग्रहण होता है या इनसे अन्य शास्त्रों को भी इन के अन्तर्गत माना जा सकता है? उत्तर में निवेदन

है कि शास्त्र अनेकानेक होते हैं , पहले थे, वर्तमान में हैं और अना-गतकाल में अनेकों शास्त्र बनेंगे, ये सभी आवश्यक-व्यतिरिक्त शास्त्र माने जाते हैं। ये सभी शास्त्र श्रुतज्ञान के अन्तर्गत ही समझने चाहियें, उपाङ्ग आदि जिन शास्त्रों का ऊपर उल्लेख किया गया है ये तो जैन-साहित्य के आधारस्वरूप माने जाते है, इसलिए इन का परिचय कराया गया है, परन्तु शास्त्र तो अन्य भी बहुत है, ये सभी शास्त्र अङ्गबाह्यश्रुतज्ञान मे सम्मिलित कर लेने चाहिए , प्रतिबन्ध इतना ही है कि ये सब शास्त्र शुद्ध-बुद्धि और समभावपूर्वक रचे गए हों ।

एक प्रश्न और उपस्थित होता है कि आजकल जो नानाप्रकार के विज्ञानविषयक ग्रन्थ मिलते है, काव्य, नाटक और उपन्यासादि शास्त्र बनते है, इन्हे श्रुतज्ञान का रूप दिया जा सकता है या नही ? उत्तर मे निवेदन है कि श्रुतज्ञान की परिभाषा के अनुसार काव्यादि सभी शास्त्र श्रुतज्ञान-स्वरूप ही माने जाते है । जहा तक –"श्रुतज्ञान होने से ये मोक्ष के लिए उपयोगी है या नही ?–" इस बात का सम्बन्ध है, वहा तक तो इसके सम्बन्ध मे इतना ही कहना पर्याप्त होगा कि मोक्ष मे उपयोगी बनना या न वनना यह किसी शास्त्र का नियत स्वभाव नही है, उसका आधार तो अधिकारी की योग्यता पर है, यदि अधिकारी योग्य और मोक्षाभिलाषी है तो वह लौकिक शास्त्रों को भी मोक्षप्राप्ति मे उपयोगी वना सकता है, इसके विपरीत, यदि अधिकारी अयोग्य है, पात्र नही है, तो वह आध्यात्मिक कहे जाने वाले शास्त्रो से भी लाभ नही उठा सकता, धर्मशास्त्रो के दुरुपयोग से अपना पतन कर बैठता है । तथापि विषय और प्रणेता-रचयिता की योग्यता की दृष्टि से लोकोत्तर श्रुत की विशेषता से इन्कार नही किया जा सकता ।

ज्ञान के पञ्चविध भेदो मे श्रुत का दूसरा स्थान है, इस से यह स्पष्ट है कि श्रुत एक ज्ञान है, कोई शास्त्र नही, किन्तु भाषात्मक शास्त्रों को या वे जिन पर लिखे जाते हैं, उन कागज़ आदि को श्रुत क्यों कहा

जाता है ? यह समझ लेना भी आवश्यक है। श्रुत ज्ञान का नाम है, किन्तु उपचार से शास्त्र को भी श्रुत कहा जाता है। ज्ञान प्रकाशित करने का साधन भाषा है, कागज़ आदि उस भाषा को लिपिबद्ध करके व्यस्थित रखने के साधन है। इसलिए भाषा या कागज़ आदि को उपचार से श्रुत कहा गया है।

श्रुतधर्म के दो भेद-

धर्मशब्द के अनेकों अर्थ उपलब्ध होते है। जो दुर्गति में गिरते हुए प्राणी को धारण करे, और सुगति में पहुंचावे उसे धर्म कहते हैं। आगमों के अनुसार इस लोक और परलोक के लिए हेय को छोड़ने और उपादेय को ग्रहण करने की जीव की प्रवृत्ति धर्म कहलाती है। *वस्तु के स्वभाव का नाम धर्म है, क्षमा और निर्लोभता आदि दस-लक्षण रूप आचार धर्म है, जीवों की रक्षा, उन्हें बचाना भी धर्म है, सम्यग्ज्ञान, सम्यग्-दर्शन और सम्यक्-चारित्र रूप रत्नत्रय को भी धर्म कहते है।

धर्म के-श्रुतधर्म और चारित्रधर्म ये दो भेद होते है। अंग और उपाग रूप वाणी को श्रुतधर्म कहते है। वाचना (पढाना) पृच्छना (शंका होने पर प्रश्न पूछना) आदि स्वाध्याय के भेद भी श्रुतधर्म कहलाते है। कर्मो के नाश करने की चेष्टा अथवा मूलगुण और उत्तरगुणों का समूह चारित्र-धर्म होता है। श्रुतधर्म के पुन: दो भेद किए जाते हैं-१-सूत्रश्रुत-धर्म और २-अर्थश्रुतधर्म। शब्दरूप श्रुतधर्म को या द्वादशांगी और उपाग आदि के मूलपाठ को सूत्र-श्रुतधर्म कहते है तथा द्वादशागी और उपाग आदि के अर्थ को अर्थ-श्रुत-धर्म कहा जाता है। प्रस्तुत में श्रुत-ज्ञान का प्रकरण चल रहा है, अतः यहां

---

*वत्थुसहावो धम्मो, खन्तीपमुहो दसविहो धम्मो,
जीवाण रक्खणं धम्मो, रयण-त्तयं च धम्मो।

श्रुतधर्म का विषय ही अपेक्षित है, [1]चारित्रधर्म की व्याख्या के लिए अन्य ग्रन्थ देखने चाहिए।

श्रुत-विनय के चार प्रकार—

कुछ लोग शास्त्रो को रेशमी रुमालों मे लपेट कर रखने मे या सर पर उठाने मे उनका आदर समझते हैं और कुछ लोग शास्त्रो को नमस्कार करने मे उन्हें धूप आदि देने मे उन की विनय स्वीकार करते है, परन्तु वास्तव मे शास्त्र की विनय क्या है? यह भी समझ लेना आवश्यक है। श्री दशाश्रुतस्कन्ध सूत्र की चौथी दशा मे श्रुत-विनय के चार प्रकार लिखे हैं। जैसेकि—१-मूलसूत्र पढाना, २-सूत्र का अर्थ पढाना, ३-शिष्य की योग्यता के अनुसार मूल और अर्थ दोनों का अध्यापन करना और ४-नय (वस्तु के एक अ श का बोध) और प्रमाण (वस्तु के अनेक अशो का बोध) आदि द्वारा व्याख्या करते हुए शास्त्र की समाप्ति- पर्यन्त वाचना देना। भाव यह है कि शास्त्र की सच्ची विनय उस को मस्तक झुकाने या उस का जलूस निकालने या उस को धूप देने या उसे सर पर रख कर नृत्य करने मे नही है, परन्तु वह तो शास्त्र के पढने, पढाने, समझने, समझाने और शास्त्रोक्त तथ्यो को जीवनाङ्गी बनाने मे ही होनी है।

गणी की श्रुतसम्पदा—

गणी शब्द का अर्थ पीछे पृष्ठ १७४ पर लिखा जा चुका है। गणी की सम्पदा के आठ प्रकार होते है, इन में दूसरा प्रकार श्रुतसम्पदा होता है। गणी को अनेकानेक शास्त्रों का जो ज्ञान होता है, वही उनकी श्रुतसम्पदा होती है। इसके चार भेद होते है—१-बहुश्रुत-गणी बहुश्रुत होते है, समस्त शास्त्रो में से मुख्य-मुख्य शास्त्रो का इन्होने अध्ययन कर रखा होता है, शास्त्रो में वर्णित पदार्थो को इन्हे भली-

[1]चारित्र-धर्म, "अगार-चारित्र-धर्म और अनगार-चारित्र-धर्म—" इन भेदो से द्विविध माना गया है। इन का विवेचन श्री जैन-सिद्धान्त-बोल-संग्रह मे देख ले

भाँति प्रवगति होती है, ये उनका प्रचार करने में समर्थ होते हैं। २-परिचितश्रुत-गणी जी महाराज सब शास्त्रों को अपने नाम की भाँति जानते हैं, ये शास्त्र-स्वाध्याय के बड़े दृढ़ अभ्यासी होते हैं। ३-विचित्रश्रुत-गणी जी महाराज अपने और दूसरे मतों को जानकर अपने शास्त्रीय ज्ञान में विशेष प्रकार की एक विचित्रता उत्पन्न कर लेते हैं, शास्त्रों का समन्वय करने में बड़े सिद्धहस्त होते हैं, सुललित उदाहरणों और अलकारों से अपने व्याख्यान को मनोहर बना कर श्रोताओं को मन्त्रमुग्ध बना डालते हैं और ४-घोषविशुद्धिश्रुत-गणी श्री जीमहाराज शास्त्र का उच्चारण करते समय उदात्त, अनुदात्त, स्वरित, ह्रस्व और दीर्घ आदि स्वरों तथा व्यञ्जनों का पूरा-पूरा ध्यान रखते हैं, इनका प्रत्येक वचन व्याकरण की दृष्टि से सर्वदा निर्दोष होता है। भाव यह है कि श्रुतज्ञान की विलक्षणता भी मनुष्य-जीवन का एक सर्वजन-प्रिय शृंगार है, और उस की कभी समाप्त न होने वाली एक सुखद सम्पत्ति है।

श्रुतसमाधि के चार प्रकार–

श्री दशवैकालिक सूत्र के नौवें अध्ययन के चतुर्थ उद्देशक में विनय समाधि के-१-विनय, २-श्रुत, ३-तप और ४-आचार, ये चार भेद किए गए हैं। प्रस्तुत में श्रुत का प्रकरण चालू है, अतः यहां श्रुत-समाधि से सम्बन्धित तथ्य ही प्रस्तुत किए जा रहे हैं। समाधि का अर्थ है-चित्त की स्वस्थता, मनोदुःख का अभाव, चित्त की एकाग्रता-रूप ध्यानावस्था। जो समाधि श्रुत-शास्त्र के अध्ययन तथा अध्यापन से सम्प्राप्त होती है, उसे श्रुत-समाधि कहते हैं। श्रुत समाधि में लगा हुआ जीव चार कारणों से स्वाध्याय करता है। जैसेकि-१-स्वाध्याय करने से मुझे श्रुतज्ञान का लाभ होगा, जीव-जीवादि पदार्थों का बोध प्राप्त होगा, २-स्वाध्याय करने से चित्त की चंचलता मिट जाएगी, एकाग्रता प्राप्त होगी, ३-मैं अपने मन को धर्म में स्थिर

कर सकूंगा और ४-यदि मैं धर्म में स्थिर हो जाऊंगा तो दूसरों को भी धर्म में स्थिर कर सकूंगा* ।

श्रुत-सामायिक—

सामायिक का अर्थ है—रागद्वेष से रहित हो कर संसार के समस्त प्राणियों को अपनी आत्मा के समान समझना। यह सामायिक-१-सम्यक्त्व, २-श्रुत, ३-देशविरति और ४-सर्वविरति, इन भेदों से चार प्रकार की होती है। प्रस्तुत में श्रुत का प्रकरण चल रहा है, अतः यहां श्रुत-सामायिक का वर्णन ही अपेक्षित है। श्रुत-सामायिक का अर्थ है—गुरु-महाराज के समीप बैठ कर सूत्र, अर्थ या इन दोनों का विनयादि पूर्वक अध्ययन करना। भाव यह कि शास्त्र पढ़ना पढ़ाना, समझना, समझाना और इस का चिन्तन-मनन करना भी सामायिक समझना चाहिए। श्रुत का कितना महत्त्वपूर्ण स्थान है? इस वर्णन से यह स्पष्ट हो जाता है। शास्त्रकारों ने इस के अध्ययनादि को भी सामायिक के रूप में अंगीकार किया है।

श्रुतमद नहीं करना—

श्रुत-शास्त्र के पठन-पाठन के महत्त्व को लेकर ऊपर की पंक्तियों में काफी कुछ लिखा जा चुका है,। यह सत्य है कि श्रुत के अध्ययन और अध्यापन का बड़ा महत्त्वपूर्ण स्थान है, परन्तु शास्त्रकार कहते है कि श्रुत का मनुष्य कितना भी अधिक मर्मज्ञ क्यों न हो जाए, तथापि उसे श्रुतमद कभी नही करना चाहिए। श्रुत के मद का अर्थ है-शास्त्रीय ज्ञान प्राप्त करके अभिमान करना, विद्या के क्षेत्र में अपने को सर्वोच्च मान कर अन्य लोगों को तुच्छ समझना, और उन्हे उपेक्षा एवं घृणा की दृष्टि से देखना। विद्या बड़ी अच्छी वस्तु है, जीवन-मन्दिर में प्रकाश लाकर उसके अन्धकार को विनष्ट

---

* नाणमेगग्गचित्तो य, ठिओ य ठावइ परं,
सुयाणि य अहिज्जित्ता, रओ सुयसमाहिए।

—दश० अ० ६, उ० ४।३

कर डालती है, परन्तु यदि इसके साथ अस्मिता का सम्बन्ध हो जाए तो यह उन्नति का कारण न बन कर अवनति का कारण बन जाती है। अतः विवेकशील, कल्याण-कामुक व्यक्ति को श्रुत-ज्ञान के १मद को जीवन-घातक विष के समान छोड़ देना चाहिए।

श्रुत-शास्त्र का क्या लक्षण है ?—

कहा जा चुका है कि इन्द्रिय और मन की सहायता से शास्त्रों के पढ़ने और सुनने से जो ज्ञान प्राप्त होता है, उसे श्रुतज्ञान कहते हैं। श्रुतज्ञान की इस परिभाषा में यह स्पष्ट हो जाता है कि श्रुतज्ञान में शास्त्र के पठन और श्रवण को बड़ा महत्त्व प्राप्त है, परन्तु यहां एक प्रश्न उपस्थित होता है कि शास्त्र शब्द से किस शास्त्र का ग्रहण करना चाहिए ? शास्त्र तो सभी है। जैन, बौद्ध, और वैदिक सभी परम्परा वाले अपने-अपने मान्य शास्त्र को महत्व देते हैं, और अपने से भिन्न परम्परा के शास्त्र को शास्त्र न मान कर कई बार उसे शस्त्र का रूप प्रदान करते हैं। ऐसी स्थिति में यह कैसे निर्णय किया जाए कि कौनसा शास्त्र सच्चा शास्त्र कहलाता है? इस के अतिरिक्त, ऐसे शास्त्र भी हैं जो "न मांस-भक्षणे दोषः" यह कहकर मांसाहार को निर्दोष मान कर उसके सेवन का विधान करते हैं। कोई शास्त्र अश्व-मेध, गोमेध और नरमेध जैसे हिंसापूर्ण यज्ञों का विधान करता है, और कोई शास्त्र देवी, देवता के आगे बकरा, सूयर आदि मूकपशुओं की बलि करने की बात कहता है। क्या हिंसा के परिपोषक ऐसे शात्र भी शास्त्र माने जाने चाहिएं ? उत्तर में निवेदन है कि जो शास्त्र हिंसा का विधान करता है, अनैतिकता और भ्रष्टाचार का पोषक बन कर मनुष्य-जगत को अनैतिक और भ्रष्टाचारी बनाता है, उसे शास्त्र नही समझना चाहिए, वह शास्त्र तो शस्त्र ही कहना चाहिए। वास्तविक शास्त्र कौन होता है ? इस सम्बन्ध में श्रमण

१श्री स्थानाङ्ग सूत्र में मद के—जाति, कुल, बल, रूप, तप, श्रुत, लाभ और ऐश्वर्य ये आठ भेद लिखे हैं। श्रुतमद का इन में छठा स्थान है।

भगवान महावीर का प्रवचन बड़ा सुन्दर मार्ग-दर्शन करता है। एक बार भगवान महावीर ने अनगार गौतम के सामने धर्म-श्रवण की दुर्लभता का निर्देश करते हुए फरमाया था—

माणुस्सं विग्गहं लद्धुं, सुई धम्मस्स दुल्लहा।
जं सोच्चा पडिवज्जन्ति, तवं खंतिमहिंसयं॥

—उत्तराध्ययन सू० अ० ३/८

मानव-जीवन प्राप्त करके भी धर्म का श्रवण करना दुर्लभ है, धर्मश्रवण करने का अवसर मिलना बड़ा कठिन है, जिस को सुनकर मानवहृदय में तप, क्षमा और अहिंसा के पालन करने की भावना जागृत हो। भाव यह है कि धर्म सुनने से तीन लाभ प्राप्त होने चाहिए-तप, क्षमा और अहिंसा। इस कथन से यह भली-भाँति ध्वनित हो रहा है कि शास्त्र वही शास्त्र है, जिस को सुनने एवं पढ़ने से तप की प्रेरणा मिले, इच्छा-निरोध की भावना जागृत हो, क्षमा-सहनशीलता की सुगन्धि प्राप्त हो, तथा अहिंसा के चमचमाते प्रकाश से अन्तर्जगत प्रकाशमान हो उठे। इसके विपरीत, जिस शास्त्र के पठन एवं श्रवण से इच्छानिरोध, सहिष्णुता और दया भगवती की आराधना की प्रेरणा प्राप्त न हो, प्रत्युत कामनाओं की दासता, अशान्ति, आवेश और हिंसा का अन्धकार प्रसारित हो तो उस शास्त्र को शास्त्र न समझकर शस्त्र जानना चाहिये।

श्री स्थानाङ्गसूत्र के पञ्चम स्थान में सूत्र सीखने के पांच स्थान लिखे हैं। जैसेकि-१-तत्त्वों के ज्ञान के लिए सूत्र सीखना चाहिए। २-तत्त्वों पर श्रद्धा करने के लिए सूत्र सीखना चाहिए। ३-चारित्र के लिए सूत्र सीखना चाहिए। ४-मिथ्याभिनिवेश-मिथ्यात्व छोड़ने तथा छुड़वाने के लिए सूत्र सीखना चाहिए और ५-सूत्र के अध्ययन से यथावस्थित द्रव्य एवं पर्यायों का ज्ञान होगा, इस विचार से सूत्र सीखना चाहिये।

ज्ञानों में श्रुतज्ञान का दूसरा स्थान होता है, यह ऊपर बताया जा चुका है। श्रुतज्ञान क्या होता है? इस के कितने भेद होते हैं? आदि बातों को लेकर भी ऊपर की पंक्तियों में प्रकाश डाला जा

चुका है। श्रुतज्ञान-रूप आत्म-शक्ति को जो कर्म-शक्ति ढक लेती है, उसे दबा लेती है, या ग्रहण बन कर उसे ग्रस लेती है, उसे श्रुत-ज्ञानावरणीय कर्म कहा जाता है।

३-अवधिज्ञानावरणीय कर्म—

कहा जा चुका है कि ज्ञान के पांच प्रकार होते हैं, इनमें तीसरा प्रकार अवधिज्ञान है। इन्द्रिय और मन की सहायता के विना, मर्यादा को लिए हुए रूपी द्रव्य का वोध प्राप्त करना अवधिज्ञान होता है। मतिज्ञान और श्रुतज्ञान में इन्द्रिय और मन की सहायता अपेक्षित होती है, परन्तु इस ज्ञान में इन दोनों के साहाय्य की कोई आवश्यकता नही पडती। जिस व्यक्ति को अवधि ज्ञान होता है वह आंखे वन्द कर लेने पर घट और पटादि पदार्थों को हजारों मील दूर पड़े रहने पर भी ऐसे देख लेता है, जैसे खुली आखों वाला व्यक्ति देखता है। जो शक्ति अवधिज्ञान की ज्योति को आवृत कर लेती है, उसे ढक लेती है, उसे अवधि-ज्ञानावरणीय कर्म कहा जाता है।

अवधि ज्ञान के दो भेद—

अवधिज्ञान का भावार्थ ऊपर की पंक्तियों में लिखा जा चुका है, इसके दो भेद होते है। जैसेकि-१-भवप्रत्यय और २-क्षयोपशम-प्रत्यय। जिस अवधिज्ञान के होने मे भव-जन्म ही कारण हो वह भव-प्रत्यय-अवधि-ज्ञान होता है। नारकी और देवताओं को जो अवधिज्ञान होता है, वह जन्म से लेकर मरण तक रहने वाला होने से भवप्रत्यय अवधिज्ञान कहा जाता है। जप और तप आदि कारणों से मनुष्य और तिर्यञ्चों को जिस अवधि-ज्ञान की प्राप्ति होती है, उसे क्षयोपशम-प्रत्यय अवधिज्ञान कहते है। इस अवधिज्ञान को गुणप्रत्यय या लब्धि-प्रत्यय भी कहा जाता है।

अवधिज्ञान ज्ञान की उत्पत्ति दो पद्धतियो से होती है। एक में तो जन्म लेते ही यह प्रकट हो जाता है, इसकी उत्पत्ति के लिये अहिंसा, सत्य आदि व्रतों तथा अन्य आध्यात्मिक अनुष्ठानों की अपेक्षा

नहीं होती। जैसे पक्षी में उड़ने को शक्ति जन्म से ही होती है वैसे ही एक अवधि-ज्ञान जीव को जन्म से ही उपलब्ध होता है। तथा एक अवधिज्ञान जीव को जन्म से सम्प्राप्त नही होता, उस के लिए तो अध्यात्म साधना की आवश्यकता होती है। जीव को अहिंसा, संयम और तप की त्रिवेणी में गोते लगाने होते हैं, आध्यात्मिक साधना की पवित्र ज्योति से अपने अन्तर्जगत को ज्योतित बनाना पड़ता है, साधना-जनित सफलता के अधिगत हो जाने के अनन्तर जीव को जिस अवधिज्ञान की उपलब्धि होती है, वह अवधि-ज्ञान अध्यात्म साधना के बल से प्राप्त होने वाला होने से गुण-प्रत्यय या क्षयोपशम-प्रत्यय नाम से व्यवहृत किया जाता है।

प्रश्न हो सकता है कि भवप्रत्यय और गुणप्रत्यय ये दोनों अवधि-ज्ञान क्षयोपशम-जन्य होते है या केवल गुणप्रत्यय अवधि ज्ञान ही क्षयोपशमजन्य होता है? उत्तर मे निवेदन है कि अवधि ज्ञान चाहे भवप्रत्यय रूप हो, चाहे गुणप्रत्ययरूप, दोनो ही *क्षयोपशम-जन्य होते है। क्षयोपशम भाव का आश्रयण किए बिना किसी अवधि-ज्ञान की प्राप्ति नही होती। भवप्रत्यय और गुणप्रत्यय ये दोनो ही जब क्षयोपशम भाव जनित होते है तो फिर इन दोनो मे क्या अन्तर रहा? यह भी समझ लेना आवश्यक है। ससारी जीवो के चार भेद होते है- नारक, देव, तिर्यञ्च और मनुष्य। भवप्रत्यय अवधि-ज्ञान नारक और देवों को होता है और गुणप्रत्यय अवधि-ज्ञान तिर्यञ्च और मनुष्यों को होता है, यही इन दोनों में अन्तर समझना चाहिये। किसी जीव को तो अवधि ज्ञान विना प्रयत्न के ही उपलब्ध हो जाता है और किसी को प्रयत्न किए बिना ही इस की सम्प्राप्ति हो जाती है,

*क्षयोपशम एक प्रकार की आत्मिक शुद्धि होती है जो कर्म के एक अंश का उदय सर्वथा रुक जाने पर और दूसरे अ श का प्रदेशोदय (नीरस किए हुए कर्म-दलिकों का वेदन) द्वारा क्षय होने पर प्रकट होती है, जैसे मादिरा की बोतल धो देने पर उसकी दुर्गन्ध कुछ क्षीण हो जाती है, और कुछ रह जाती है।

यह क्यों ? इस जिज्ञासा का उत्पन्न होना भी अस्वाभाविक नहीं है। इसका समाधान भी प्राप्त कर लेना चाहिए। कार्य की विचित्रता किसी के वश की बात नहीं है, पक्षी आकाश में उड़ सकता है, किन्तु मनुष्य नहीं। कितने ही मनुष्यों में काव्य-रचना की शक्ति जन्म से ही होती है, किसी को प्रयत्न करने पर वह उपलब्ध होती है, और किसी को प्रयत्न करने पर भी इसकी प्राप्ति नहीं होती। यही स्थिति भवप्रत्यय और गुणप्रत्यय अवधि-ज्ञान के सम्बन्ध में समझ लेनी चाहिए।

जन्म से होने वाला अवधिज्ञान—

लोकाकाश—१-अध:, २-मध्य और ३-ऊर्ध्व इन तीन विभागों में विभक्त है। अधोलोक मेरु पर्वत के समतल के नीचे नव सौ योजन* की गहराई के बाद गिना जाता है, इस से तथा मेरुपर्वत के समतल भूभाग से नव सौ योजन ऊपर मध्यलोक है, इस तरह १८ सौ योजन

---

*योजन किसे कहते है ? जैनाचार्यो ने इस प्रश्न का समाधान इस प्रकार किया है ? अनन्त सूक्ष्म परमाणुओ के सयोग से एक बादर परमाणु बनता है, अनन्त बादर परमाणुओ से एक उष्णश्रेणिक (गरमी का) पुद्गल होता है, इन आठ पुद्गलों का एक शैत्यपुद्गल, आठ शीतपुद्गलों का एक ऊर्ध्वरेणु, इन आठो का एक त्रसरेणु [वह धूलिकण जो त्रस जीवों के चलने से उड़ता है], इन आठो का एक रथरेणु [रथ के चलने से उड़ने वाला रज:कण], इन आठो का देवकुरु और उत्तरकुरु क्षेत्र के मनुष्य का एक बालाग्र, इन आठों का हरिवास और रम्यकवास क्षेत्र के मनुष्य का एक बालाग्र, इन आठो का हैमवत और हिरण्यवत क्षेत्र के मनुष्य का एक बालाग्र, इन आठो का पूर्व-महाविदेह और उत्तरमहाविदेह के क्षेत्र का एक बालाग्र इन आठों की एक लीख, आठ लीखों की एक यूका, आठ यूकाओं का एक यवमध्य, आठ यवमध्यों का एक अंगुल, ६ अंगुलों की एक मुट्ठी, २ मुट्ठियों की एक बलिश्त, २ बलिश्तों का एक हाथ, दो हाथो की एक कुक्षि, दो कुक्षियों का एक धनुष्य, २००० धनुष्यो का एक कोस, चार कोसों का एक योजन होता है। चार कोस का योजन अशाश्वत वस्तुओं के माप में प्रयोग मे लाया जाता है, शाश्वत वस्तुओं के माप के लिए योजन का प्रमाण चार हजार का कोस होता है।

का मध्यलोक होता है, इससे ऊपर का सम्पूर्ण लोक ऊर्ध्वलोक है। समस्त लोकाकाश या लोकत्रय १४ राजू का लम्बा होता है। राजू क्या होता है ? यह भी समझ लीजिए--कल्पना करो, ३, ८१, २७, ९७० मन के वजन का एक गोला है, इतने वज़न को जैन-साहित्य के अनुसार भार कहा जाता है, ऐसे १००० भार के लोहे का एक गोला हो, उसको कोई देवता ऊपर से नीचे फेंके, वह गोला ६ महीने, ६ दिन ६ पहर और ६ घड़ी में जितना स्थान उल्लंघन करके नीचे आवे उतने क्षेत्र को एक राजू कहते हैं।

अधोलोक में सात नरक--

जैनदर्शन के विश्वासानुसार अधोलोक में सात नरक हैं, ये सब एक दूसरे से नीचे हैं, इन की लंबाई चौड़ाई समान नहीं है। नीचे-नीचे की नरक की लम्वाई-चौड़ाई अधिक-अधिक* है। पहली नरक से दूसरी की अधिक और दूसरी से तीसरी की अधिक, इसी तरह आगे भी जानना चाहिये। यह सत्य है कि सातों नरक एक दूसरे से नीचे हैं, परन्तु इनके मध्य में बहुत बड़ा अन्तर रहता है, इस अन्तर में सबसे पहले घनोदधि है, उसके नीचे घनवात है, इसके नीचे तनुवात है, और तनुवात के नीचे आकाश है। वैसे आकाश तो सर्वव्यापक है, परन्तु कहने का भाव यह है कि तनुवात के नीचे पोल है। यह दूसरी नरक की छत्त है, छत्तों का यह क्रम सातवीं नरक तक ऐसे ही समझ लेना चाहिये।

जैनेतर संसार में एक विश्वास पाया जाता है, कि पृथ्वी सर्प

---

*ऊपर की अपेक्षा नीचे का पृथ्वीपिण्ड-भूमि की मोटाई न्यून-न्यून होती चली जाती है, जैसे-पहली नरक की भूमि की मोटाई एक लाख ८०हज़ार योजन, दूसरी की एक लाख ३२ हज़ार, तीसरी की एक लाख २८ हज़ार, चौथी की एक लाख २० हज़ार, पांचवीं की एक लाख १८हज़ार, छठी की एक लाख १६ हज़ार और सातवीं भूमि की मोटाई एक लाख आठ हज़ार योजन की मानी गई है।

के फरण पर अवस्थित है । वह पृथ्वी को उठाए रखता है, इस सम्बन्ध में जैन-दर्शन का अपना क्या विश्वास है ? यह समझ लेना भी आवश्यक है । *भगवती सूत्र में लोक-स्थिति को बड़ी सुन्दरता से समझाया गया है । वहाँ लिखा है—'त्रस स्थावरादि प्राणियों का आधार पृथ्वी है, पृथ्वी का आधार उदधि है, उदधि का आधार वायु है, और वायु का आधार आकाश है । इस वर्णन से यह स्पष्ट है कि पृथ्वी सर्प के फण के आश्रित नहीं है, यह तो जल और वायु के सहारे ही खड़ी है । वायु के आधार पर उदधि और उसके आधार पृथ्वी कैसे ठहर सकती है ? इस प्रश्न का उपस्थित होना भी स्वाभाविक ही है ? इस प्रश्न का समाधान करने के लिए एक व्यावहारिक उदाहरण प्रस्तुत करता हूँ । आप के सामने जल से भरा एक पात्र है, उसे किसी वस्त्र में रख लेने पर वस्त्र के चारों कोणों को एकत्रित करके उसे झोली का रूप दे डालिए, तदनन्तर पात्र-सहित उस झोली को अपने चारों ओर यदि आप घुमाते हैं, और खूब जोर से घुमाते हैं, तो उस घुमावमें झोली के ऊपर आजाने पर जलपूर्ण पात्र बिल्कुल औंधा हो जाएगा । पात्र के औंधा हो जाने से उसका जल अवश्य गिर जाना चाहिए, परन्तु देखा गया है कि पात्र के सर्वथा उलटा हो जाने पर भी उसका पानी गिरने नहीं पाता, क्योंकि झोली में अवस्थित वायु पात्र के जल को संभाल लेती है, उसे गिरने नहीं देती । जैसे पात्र के औंधा हो जाने पर भी वायु के आधार पर पानी गिरने नहीं पाता, ठीक इसी तरह पृथ्वी आदि भी वायु के आधार पर प्रतिष्ठित हैं ।

कहा जा चुका है कि अधोलोक में सात नरक हैं; उनके नाम ये हैं- रत्नप्रभा, शर्करा-प्रभा, बालुका-प्रभा, पंक-प्रभा, धूम-प्रभा, तमःप्रभा और तमस्तमःप्रभा ।

पहली नरक रत्न-प्रधान होने रत्न-प्रभा, कही जाती है, इसी प्रकार दूसरी कंकड़ों की बहुतायत के कारण शर्करा-प्रभा, तीसरी रेती की

---

*देखो भगवतीसूत्र, शतक १. उद्देशक ६

मुख्यता से बालुका-प्रभा, चौथी पङ्क-कीचड़ की अधिकता से पङ्क-प्रभा, पाँचवीं धुएं की प्रवलता से धूम-प्रभा, छठी अन्धेरे की प्रचुरता से तमःप्रभा और सातवीं अन्धकार की अत्यधिकता के कारण तमस्तमः-प्रभा या महातमःप्रभा कहलाती है।

सातों नरकों की जितनी-जितनी मोटाई ऊपर बताई गई है, उस के ऊपर तथा नीचे का १-१ हज़ार योजन छोड़ कर बाकी के जो मध्य भाग हैं, उनमें नरकावास हैं। जैसे रत्न-प्रभा नरक की मोटाई एक लाख ८० हज़ार योजन बताई गई है, इस में ऊपर और नीचे का एक-एक हज़ार योजन छोड़ कर मध्य के शेष जो १ लाख ७८ हज़ार योजन है, इनके बीच में नारकी जीवों के रहने के स्थान अवस्थित हैं। यही क्रम नीचे की शेष नरक-भूमियों के सम्बन्ध में समझ लेना चाहिए।

नरकों के नरकावासों के ऊपर की भीत में बिल के आकार के स्थान वने होते हैं. जिनमें पापी जीव पैदा होते हैं, ये इनके योनिस्थान कहलाते हैं। इन बिलों के नीचे भाजन पड़े रहते हैं, जिन्हें कुम्भी कहा जाता है, ये भाजन बड़े पेट और छोटे मुंह वाले होते हैं, बिल में पैदा होने वाले नारकी जीव अन्तर्मुहूर्त्त में आहारादि पर्याप्तियों को पूर्ण करके उन बिलों से नीचे सर और ऊपर पांव करके गिरते हैं, और कुंभियों में जा पड़ते हैं, गिरते ही फूल कर उन कुंभियों में फँस जाते हैं, फिर परमाधार्मिक देव चिमटे से उन्हें खींचते हैं, उनके टुकड़े बना कर उन्हें बाहिर निकालते हैं, नारकी जीवों को इससे बड़ी भयंकर वेदना होती है, परन्तु वे मरते नहीं हैं, जैसे पारा इकट्ठा हो जाता है, वैसे नारकी जीवों के शरीर-गत टुकड़े भी मिल जाते हैं, उनमें एक-रूपता आ जाती है। परमाधार्मिक देव कौन होते हैं? यह भी समझ लीजिए। परमाधार्मिक एक प्रकार के असुरदेव हैं जो बहुत क्रूर स्व-भाव वाले और पाप-रत्त होते हैं, इन की अम्ब, अम्बरीष आदि १५ जातियाँ हैं। ये स्वभाव से ही निर्दयी और कुतूहली होते हैं, इन्हें दूसरों को सताने में ही आनन्द मिलता है, अतएव ये अपनी इच्छा से नरक

भूमियों में चले जाते हैं, वहाँ पर नारकी जीवों को अनेक प्रकार के प्रहारों से दुःखित करते रहते हैं। उन्हें आपस में कुत्तों, भैंसों और मल्लों की भाँति लड़ाते हैं, आपस में उनको लड़ते मार-पीट करते देख कर बड़े प्रसन्न होते हैं, इस तरह ये परमाधार्मिक देव नारकी जीवों को दुःख देने से महान अशुभ कर्मों की उपार्जना करके अपने भविष्य को अन्धकारमय बना लेते हैं। इस के अतिरिक्त, परमाधार्मिक देवता तीसरी नरक तक ही जा सकते हैं, इससे आगे नहीं। तथा इन को वहाँ कोई भेजता नहीं है, ये अपने मनोविनोद के लिए अपनी इच्छा से ही नरक में पहुँच जाते हैं, और वही नारकी जीवों को नानाविध यातनाएँ पहुँचाते हैं।

नारकी जीवों में नपुंसक वेद ही होता है। पुरुषवेद और स्त्री-वेद नहीं होता, ये ओज और रोम आहार* करते हैं। उत्पत्ति स्थान में जीव द्वारा ग्रहण किया जाने वाला आहार ओज आहार होता है, तथा शरीर पर रहे रोम-कूपों-सूक्ष्म छिद्रों के द्वारा वायु आदि का ग्रहण करना रोम-आहार होता है। सातों नरक-भूमियों के नारकियों के शरीर उत्तरोत्तर अधिकाधिक अशुभ वर्ण, गन्ध, रस, स्पर्श, शब्द, संस्थान (शरीर का आकार) वाले और अधिक-अधिक बीभत्स होते हैं। नारकी जीवों को तीन प्रकार की वेदना होती है, जैसेकि-१-क्षेत्रस्वभावजन्या, २-परस्परजन्या और ३-परमाधार्मिक-देव-जनिता। पहली तीन नरकों में उष्णताजन्य वेदना, चौथी में उष्ण-शीत, पांचवीं में शीतोष्ण, छठी में शीत और सातवीं में शीततर वेदना होती है, यह वेदना क्षेत्र-स्वभावजन्या होती है, नारकी आपस में कुत्तों और मुर्गों की तरह लड़-लड़कर दुःख उठाते रहते हैं। यह वेदना परस्पर-जन्या होती है। परमा-

*आहार के—ओज, रोम और कवल ये तीन प्रकार होते हैं। ओज और रोम आहार का अभिप्राय ऊपर लिखा जा चुका है। कवल ग्रास को कहते हैं, अतः किसी खाद्य पदार्थ को ग्रास (टुकड़े) बना कर ग्रहण करना, उसे खाना कवलाहार होता है। नारकी जीव कवलाहार नहीं करता।

धार्मिक देव इन्हें बहुत दुःखी करते हैं। ये नारकियों को तपा हुआ सीसा पिलाते हैं, तपी हुई लोह-मयी नारी से आलिङ्गन कराते हैं। लोहे के हथोडों से इन्हें कूटते हैं, वसोले आदि से छीलते हैं, भाले में पिरो देते हैं, भाड़ में भूनते हैं, कोल्हू में पीलते हैं, करोती से चीरते हैं, तपे हुए रेते में फैंक देते हैं, इस तरह परमाधार्मिक देव नारकियों को नानाविध पीड़ाएं पहुंचाते है। ये वेदनाएं परमाधार्मिक-देव-जनिता होती है।

पहले नरक के नारकियों की जघन्य स्थिति दस हज़ार वर्ष की, और उत्कृष्ट स्थिति एक सागरोपम की होती है। इसी प्रकार दूसरी नरक की जघन्य स्थिति एक सागरोपम, उत्कृष्ट तीन सागरोपम, तीसरी नरक की जघन्य तीन सागरोपम और उत्कृष्ट सात सागरोपम, चौथी की जघन्य सात सागरोपम और उत्कृष्ट दस सागरोपम, पांचवीं की जघन्य दस और उत्कृष्ट सतरह सागरोपम, छठी की जघन्य सतरह और उत्कृष्ट २२ सागरोपम तथा सातवीं नरक की जघन्य स्थिति २२ और उत्कृष्ट स्थिति ३३ सागरोपम की होती है। इससे स्पष्ट है कि पापी जीव नरक में बहुत लम्बे काल तक दुःखों का उपभोग करते रहते हैं।

असंज्ञी जीव मर कर पहली नरक में उत्पन्न हो सकते हैं, आगे नहीं। भुजपरिसर्प (भुजाओं से चलने वाले नेवला, चूहा आदि जीव) दो नरकों तक, पक्षी तीन नरकों तक, सिंह चार नरकों तक, उरग (सर्प) पांचवीं तक, स्त्री छठी तक, मनुष्य और मत्स्य मरकर सातवीं नरक तक जा सकते हैं। इस से यह स्पष्ट हो जाता है, कि तिर्यञ्च और मनुष्य ही नरक में जा सकते हैं, नारक और देवता नहीं। नारकी और देव जीव मर कर न तो नरक में पैदा होते हैं और नाँही देव-लोक में। नारकी और देव ये दोनों मर कर या तो त्रिर्यञ्च वन सकते है, या मनुष्य। इस के अतिरिक्त, पहली तीन नरकों से निकल कर नारकी जीव मनुष्य-जन्म पाकर तीर्थङ्कर पद प्राप्त कर सकते हैं, चार नरक,

से निकल कर जीव मनुष्य भव के द्वारा निर्वाण भी पा सकते हैं। पाँच नरकों से निकल कर जीव मनुष्य-गति में संयम का लाभ ले सकते हैं। ६ नरकों से निकले हुए नारकी जीव देशविरति और सातवीं नरक से निकल कर जीव सम्यक्त्वी बन सकते हैं। नारकी जीवों में दृष्टि कौनसी पाई जाती है? यह भी समझ लीजिए--जैनशास्त्र के विश्वासानुसार नारकी जीव सम्यग्दृष्टि, मिथ्यादृष्टि और मिश्रदृष्टि तीनों तरह के होते है। सम्यग्दृष्टि नारकी जीव समभाव-पूर्वक नरक-जन्य यातनाओं का उपभोग करते हैं। और मिथ्यादृष्टि जीवों के पास समभाव नहीं होता, फलतः वे आर्त्तध्यान और रौद्रध्यान के साथ दुःखोपभोग करते हुए नवीन कर्मों का बन्ध करते रहते हैं।

नारकी जीवों की अवगाहना एक जैसी नहीं होती। अवगाहना का अर्थ है-शरीर की लम्बाई-चौड़ाई। यह दो तरह की होती है। जैसे कि-१-**भवधारणीया**-जन्म से लेकर मृत्यु तक शरीर का जो परिमाण है, शरीरगत स्वाभाविक लम्बाई-चौड़ाई। और-२-**उत्तरविक्रिया**-स्वाभाविक शरीर धारण करने के बाद किसी कार्य-विशेष से जो शरीर बनाया जाता है। नारकी जीवों की जघन्य अवगहना अंगुल का असंख्यातवां अंशमात्र है, यह उत्पत्ति के समय होती है, आगे नहीं। इन जीवों की उत्कृष्ट अवगाहना इस प्रकार है-पहली नरक के नारकियों की उत्कृष्ट अवगाहना पौने आठ धनुष ६ अंगुल हैं, दूसरी के नारकियों की साढ़े १५ धनुष १२ अंगुल हैं, तीसरी की सवा ३१ धनुष, चौथी की साढ़े ६२ धनुष, पांचवीं की १२५ धनुष, छठी की २५० धनुष, और सातवीं नरक के नारकियों की उत्कृष्ट अवगाहना ५०० धनुष है। यदि नारकी जीव उत्तर—वैक्रिय करें तो अपनी मूल अवगाहना से दुगनी कर सकते हैं।

तिर्यञ्च और मनुष्य जाति के जीव नरक में सदा उत्पन्न होते रहते हैं, यदि कभी अन्तर पड़े तो जघन्य एक समय का और उत्कृष्ट रत्न-प्रभा की अपेक्षा २४ मुहूर्त्त का, शर्करा-प्रभा की अपेक्षा सात दिन रात

का, बालुका-प्रभा की दृष्टि से १५ दिन रात का, पङ्क-प्रभा की दृष्टि से एक मास का, धूम-प्रभा की दृष्टि से दो मास का, तमःप्रभा को लेकर चार मास का और तमस्तमःप्रभा के विचार से ६ मास का होता है। उद्वर्तना-नारकी जीवों का नरक से निकलने का अन्तर-काल भी उत्पादकाल के विरह-काल के समान ही समझना चाहिये। इससे स्पष्ट है कि नारकियों के उत्पादन तथा उवर्तना का अन्तरकाल एक जैसा होता है।

नरक में कौन जा सकते हैं ?—

रत्न-प्रभा का थोड़ा सा भाग मध्यलोक-तिरछे लोक में सम्मिलित है, अतः रत्न-प्रभा में द्वीप, समुद्र, पर्वत, सरोवर हैं, गांव, शहर आदि है, वृक्ष, लता आदि बादर वनस्पतिकाय है, द्वीन्द्रिय से लेकर पञ्चेन्द्रिय तिर्यञ्च भी वहाँ हैं, मनुष्य और देवता भी हैं, रत्न-प्रभा के अतिरिक्त शेष ६ नरकों में सिर्फ नारक और कुछ एकेन्द्रिय जीव पाए जाते हैं। इस सामान्य नियम का भी अपवाद है, क्योंकि इन नरकों में भी कभी-कभी किसी स्थान पर कुछ मनुष्यों, देवों और तिर्यञ्चों का अस्तित्त्व भी संभव है। केवली-समुद्घात करने वाला मनुष्य सर्वलोक व्यापी होने से इन नरकों में आत्म प्रदेश फैलाता है, इसके सिवाय वैक्रिय लब्धि वाले मनुष्य की भी इन नरकों तक पहुँच है। तिर्यञ्चों की पहुँच भी वैकिय-लब्धि की अपेक्षा से समझनी चाहिए। देवों की पहुँच के विषय में यह वात है कि कुछ देव कभी-कभी अपने पूर्व-जन्म के मित्र-नारकों के पास उन्हें दुःख-मुक्त करने के उद्देश्य से जाते हैं, ऐसे जाने वाले देव भी सिर्फ तीन भूमियों तक जा सकते हैं, आगे नहीं। परमाधार्मिक देव जन्म से ही तीन नरकों में हैं, अन्य देव जन्म से सिर्फ पहली नरक में पाए जा सकते हैं।

नारकियों का अवधिज्ञान—

अवधिज्ञान का प्रकरण चल रहा है, बताया गया था कि यह जन्म से और साधना से उत्पन्न होता है,। जन्म से अवधि-ज्ञान

नारकी जीवों और देवताओं को होता है। प्रश्न हो सकता है, कि नारकी जीवों को जो अवधिज्ञान होता है, उसकी रूपरेखा क्या है? इस का समाधान करते हुए जैनाचार्य फरमाते हैं कि प्रथम नरक के नारकी अवधिज्ञान से जघन्य साढ़े तीन कोस तथा उत्कृष्ट चार कोस (आठ मील) तक के प्रदेशों को तथा उसमें अवस्थित समस्त पदार्थों को जानते हैं, और देखते हैं, दूसरी नरक के नारकी जघन्य तीन कोस और उत्कृष्ट साढ़े तीन कोस, तीसरी नरक के नारकी जघन्य ढाई कोस और उत्कृष्ट तीन कोस, चौथी के नारकी जघन्य दो कोस और उत्कृष्ट ढाई कोस, पांचवीं के जघन्य डेढ़ कोस और उत्कृष्ट दो कोस, छठी के जघन्य एक कोस और उत्कृष्ट डेढ़ कोस तथा सातवीं नरक के नारकी जघन्य आध कोस और उत्कृष्ट एक कोस तक के क्षेत्र को देख सकते हैं।

देवताओं का अवधिज्ञान—

देवों के चार प्रकार होते हैं, जैसे कि १-भवनपति, २-व्यन्तर, ३-ज्योतिष्क और ४-वैमानिक। भवनपति १-असुर कुमार, २-नाग कुमार ३-सुपर्ण कुमार, ४-विद्युत कुमार, ५-अग्नि कुमार, ६-द्वीप कुमार, ७-उदधि कुमार, ८-दिग् कुमार, ९-पवन [वायु] कुमार और १०-स्तनित कुमार इन भेदों से १० प्रकार के होते हैं। एक लाख अस्सी हज़ार योजन की मोटाई वाली रत्न-प्रभा के पृथ्वी-पिण्ड में से एक-एक हज़ार योजन ऊपर नीचे छोड़ कर अवशिष्ट एक लाख ७८ हज़ार के मध्य भाग में भवन-वासी देवों के रहने के भवन हैं, निवासस्थान हैं। इन भवनों के अन्दर रहने के कारण इन देवताओं को भवनपति कहते हैं। सभी भवनपति देवता कुमार इस लिए कहलाते हैं कि ये कुमार की तरह देखने में मनोहर और सुकुमार मृदु, मधुर गति वाले क्रीडा-शील होते हैं। असुर कुमारों के चमर और बलि ये दो इन्द्र होते हैं। इसी प्रकार नाग कुमारों के धरण और भूतानन्द, विद्युत् कुमारों केहरि और हरि-सह सुपर्ण कुमारों के वेणुदेव और वेणुदारी, अग्नि कुमारों में अग्निशिख और अग्निमाणव, वायु-कुमारों के वेलम्ब और प्रभञ्जन, स्तनित कुमारों

के सुघोष और महाघोष, उदधि कुमारों के जलकान्त और जलप्रभ द्वीप कुमारों के पूर्ण और वासिष्ठ तथा स्तनित कुमारों के अमितगति और अमितवाहन ये दो-दो इन्द्र होते है।

देवों का दूसरा प्रकार व्यन्तर है। ये देव विविध प्रकार के पहाड़ों और गुफाओं के अन्तरों (मध्भागों) में तथा बनों के अन्तरों में बसने के कारण व्यन्तर कहलाते है। ये व्यन्तर देवता-१-किन्नर, २-किपुरुष, ३-महोरग, ४-गान्धर्व, ५-यक्ष, ६-राक्षस, ७-भूत और ८-पिशाच इन भेदों से ८ प्रकार के होते है। ये देव ऊर्ध्व, मध्य और अध: तीनों लोकों में, भवन और आवासों मे रहते है। आवास बड़े मण्डप जैसे, और भवन नगर के समान होते है। भवन बाहिर से गोल और भीतर से समचतुष्कोण माने गए है। ये अपनी इच्छा से या दूसरों की प्रेरणा से यत्र-तत्र आते जाते रहते है। ये मनुष्यों को सुख तथा दुःख भी देते रहते है।

ज्योतिष-प्रकाशमान विमानों में रहने के कारण सूर्य आदि देव ज्योतिष्क कहलाते हैं। ये सूर्य, चन्द्र, ग्रह, नक्षत्र और प्रकीर्णतारा इन भेदों से पाँच प्रकार के होते हैं। मेरुपर्वत के समतल भूभाग से सात सौ ९० योजन की ऊँचाई पर ज्योतिष्क देवों का क्षेत्र आरम्भ होता है, इस क्षेत्र का परिमाण ११० योजन है। और तिरछा असंख्यात द्वीपसमुद्र परिमाण है। इस क्षेत्र से १० योजन की ऊँचाई पर सूर्यदेव का विमान है, वहाँ से ८० योजन की ऊँचाई पर चन्द्रदेव का विमान है। चन्द्रविमान से चार योजन की ऊँचाई पर अश्वनी, भरनी आदि नक्षत्र है, नक्षत्रविमानों से चार योजन ऊपर बुध ग्रह, इससे तीन योजन ऊँचे शुक्र, शुक्र से तीन योजन ऊँचे गुरु, गुरु से तीन योजन ऊँचे मगल और मगल से तीन योजन ऊपर शनैश्चर देव का विमान है। प्रकीर्णतारे वे तारे होते हैं जो अनियतचारी होने से कभी सूर्य और चन्द्र के नीचे भी चलते है और कभी ऊपर भी।

जैनदृष्टि से हम जिस भूमि पर बैठे है, यह जम्बूद्वीप है, यह एक

लाख योजन विस्तार वाला है, इसके मध्य में एक लाख योजन का ऊँचा मेरुपर्वत है। जम्बूद्वीप में एक भरत, एक ऐरावत और एक महाविदेह ये तीन क्षेत्र हैं। जम्बूद्वीप के चारों ओर दो लाख योजन का लवण समुद्र है, लवण-समुद्र के चारों ओर चार लाख योजन का धातकी खण्ड है, धातकी खण्ड के चारों ओर आठ लाख योजन का कालोदधि समुद्र है, इस के चारों ओर १६ लाख योजन का पुष्कर-द्वीप है, इसके मध्य में मानुषोत्तर पर्वत है, यह पुष्कर द्वीप को दो भागों में बाँट देता है। अर्धपुष्कर में मनुष्य रहते हैं। अढाई द्वीप ही मनुष्य-लोक माना जाता है। इस मनुष्य-लोक में जो ज्योतिष्क देवों के विमान हैं, वे सदा भ्रमण करते रहते हैं, इनका यह भ्रमण मेरुपर्वत के चारों ओर होता है। मनुष्य लोक में सूर्य और चन्द्र १३२-१३२ हैं। जैसे जम्बूद्वीप में दो-दो, लवणसमुद्र में चार-चार, धातकी खण्डी में बारह बारह, कालोदधि में ४२-४२, और पुष्करार्धद्वीप में ७२-७२ सूर्य तथा चन्द्र हैं। यद्यपि लोकमर्यादा के स्वभाव से ही ज्योतिष्क विमान सदा अपने आप फिरते रहते हैं तथापि समृद्धि-विशेष प्रकट करने के लिये क्रीड़ाशील कुछ देव इन विमानों को उठाकर घूमते हैं। दिन, रात्रि, आदि का व्यवहार मनुष्य-लोक में होता है, इससे बाहिर नहीं, क्योंकि अढाई द्वीप के बाहिर सूर्य-चन्द्र स्थिर हैं, वह गतिशील नहीं हैं।

देवों का चतुर्थ प्रकार वैमानिक है। वैमानिक देव कल्पोपपन्न और कल्पातीत इन भेदों से दो प्रकार के होते हैं। कल्पोपपन्न देवोंमें स्वामि-सेवक भाव होता है परन्तु कल्पातीत देवों में नहीं, ये सभी इन्द्र के समान होने से अहमिन्द्र कहलाते हैं। किसी निमित्त से यदि मनुष्य-लोक में जाना पड़े तो कल्पोपपन्न देव ही आते जाते हैं, कल्पातीत अपने स्थान को छोड़ कर कहीं नहीं जाते। कल्पोपपन्न देवों के निवास-स्थान १२ होते है, इन्हें सौधर्म, ऐशान, सानत्कुमार, माहेन्द्र, *ब्रह्मलोक

*ब्रह्मलोक-देवलोक की चारों दिशाओं और विदिशाओं में ९ लोकान्तिक

लान्तक, महाशुक्र, सहस्रार, आनत, प्राणत, आरण और अच्युत इन नामों से पुकारा जाता है। इन से ऊपर के जो देव हैं वे कल्पातीत माने जाते हैं। कल्पातीत देवों में नव ग्रैवेयक और ५ अनुत्तर विमान-वासी देव हैं। बारहवें अच्युत नामक देवलोक के ऊपर क्रम से नव विमान ऊपर-ऊपर हैं, ये पुरुषाकृति लोक के ग्रीवा स्थान में अवस्थित होने के कारण ग्रैवेयक कहलाते हैं। इन के नाम ये है-१-भद्र, २-सुभद्र, ३-सुजात, ४-सुमन, ५-सुदर्शन ६-प्रियदर्शन, ७-अमोह, ८-सुप्रतिबद्ध और ९-यशोधर। ग्रैवेयक विमानों के ऊपर१-विजय, २-वैजयन्त, ३-जयन्त,४-अपराजित और ५-सर्वार्थसिद्ध ये पांच विमान एक दूसरे से ऊपर-ऊपर है। ये विमान अन्य सब विमानों से अनुत्तर है, प्रधान है, फलतः ये अनुत्तर विमान कहलाते है।

*देवों की उत्पत्ति उत्पादशय्या में होती है, यह एक देववस्त्र से ढकी रहती है, धर्मात्मा और पुण्यात्मा जीव जब इसमें उत्पन्न होते है तो वह अङ्गारों पर डाली हुई रोटी की तरह फूल जाती है, तब पास में अवस्थित देव तथा उसके अधीन देवता हर्षोत्सव मनाते है, जय-जय कार की ध्वनि से आकाश को गुंजा देते है, अन्तर्मुहूर्त्त के बाद उत्पन्न हुआ देव तरुणमनुष्य की भाँति शरीर बना कर देववस्त्रों से शरीर को आच्छादित करके बैठ जाता है। तदनन्तर पार्श्ववर्ती देव

जाति के देवता रहते है। ये देव सम्यग्-दृष्टि होने है, विषय-भावना से रहित होने के कारण ये देवर्षि कहलाते है। आपस मे छोटे और बड़े न होने के कारण सभी स्वतन्त्र है, तथा जो तीर्थंकर भगवान की दीक्षा के अवसर पर बुज्झह.बुज्झह, कह कर प्रतिबोध करने का अपना आचार पालन करते हैं, लोक के किनारे पर रहने के कारण ये लोकान्तिक कहे जाते हैं!

*देव की पहचान चार बातो से होती है। जैसेकि १-देवो की पुष्पमालाए नही कुम्हलाती, २--देव के नेत्र निर्निमेष होते हैं, ये आँख नही झपकते, ३-देव का शरीर निर्मल होता है और ४-देव भूमि से चार अंगुल ऊपर रहता है, वह भूमि का स्पर्श नही करता।

आपने क्या करनी की थी जो आप हमारे नाथ बने ?'' ऐसे अन्य अनेकों प्रश्न पूछते हैं, जब नवजात देव देवगति के स्वभाव से प्राप्त अवधि-ज्ञान से अपसे पूर्व जन्म पर विचार करता है तब वह देव यहाँ के मित्र आदि का विचार आते ही यहाँ आना चाहता है, तो वहाँ के देव उसे कहते हैं कि वहाँ जाकर क्या करोगे ? यहाँ का क्या हाल सुनाओगे ? पहले दो घड़ी यहाँ के नाटक देखो। तब उसे वे देव ३२ प्रकार के नाटक दिखलाते हैं, इन नाटकों में यहाँ के दो हजार वर्ष पूरे हो जाते हैं, इस तरह वह देव वहाँ के सुखों में निमग्न हो जाता है, और पिछली सब दुनिया भूल जाता है।

भवनपति, व्यन्तर, ज्योतिष्क, पहले और दूसरे देवलोक के देव मनुष्य की तरह शरीर से कामवासना का सुख अनुभव करते हैं, तीसरे और चौथे देवलोक के देवता केवल देवी के शरीरस्पर्श से अपनी कामवासना शान्त कर लेते हैं, पांचवें और छठे देवलोक के देवता, देवियों के सुसज्जित रूप को देख कर विषय-जन्य सुख अनुभव करते हैं। सातवें और आठवें देवलोक के देव देवियों के शब्द सुनने से, नौवें दसवें, ग्यारहवें और बाहरवें देवलोक के देवता केवल देवियों के चिन्तनमात्र से वैषयिक सुख प्राप्त कर लेते हैं। देवियां दूसरे स्वर्ग तक पैदा होती हैं, आगे नहीं। जब तीसरे और चौथे देवलोक के देवों को विषयसुख के लिए उत्सुक और इस कारण अपनी ओर आदरशील जानती हैं, तो ये वहाँ पहुंच जाती हैं, तब इनके हस्तादि के स्पर्श से उन देवों की कामवासना शान्त हो जाती है, इसी प्रकार जब ये देवियाँ पांचवें छठे देवलोक में पहुंच जाती हैं, तो इनके शृंगार को देख कर पांचवें और छठे देवलोक के देवताओं की वैषयिक तृप्ति हो जाती है, सातवें और आठवें में चले जाने पर इन के सुन्दर संगीतमय शब्द सुनकर सातवें और आठवें देवलोक के देवों की तृप्ति हो जाती है। आठवें देवलोक से आगे देवियाँ जा नहीं सकती, फलतः ऊपर के देवलोको के देवों की कामवासना केवल देवी-चिन्तन से शान्त हो

जाती है। इसके अतिरिक्त, यह भी समझ लेना चाहिए कि ज्यों-ज्यों विषयभोगों की वासना अधिक होती है त्यों-त्यों दुःख, क्लेश, और अशान्ति अधिक रहती है, और ज्यों-ज्यों वासना की स्वल्पता होती चली जाती है, त्यों-त्यों मानसिक शान्ति और उल्लास बढ़ता चला जाता है, बारहवें देवलोक से ऊपर के देवताओं की कामवासना शान्त होती है परिणामस्वरूप वे सन्तोषजन्य परमसुख में निमग्न रहते हैं।

दैविक जगत का अध्ययन करने से पता चलता है कि *स्थिति,

---

* तत्त्वार्थ सूत्र के अनुसार—

पहले देवलोक में जघन्य स्थिति एक पल्योपम की, उत्कृष्ट दो सागरोपम की होती है। दूसरे में जघन्य कुछ अधिक एक पल्योपम की, उत्कृष्ट कुछ अधिक दो सागरोपम की, तीसरे में जघन्य दो सागरोपम की, उत्कृष्ट सात सागरोपम की, चौथे में जघन्य कुछ अधिक दो की, उत्कृष्ट कुछ अधिक सात सागरोपम की, पांचवें मे जघन्य कुछ अधिक सात की, उत्कृष्ट दस सागरोपम की, छठे में जघन्य दस सागरोपम की, उत्कृष्ट १४ सागरोपम की, सातवें में जघन्य १४ सागरोपम की, उत्कृष्ट १७ सागरोपम की, आठवें में जघन्य १७ सागरोपम की, उत्कृष्ट १८ सागरोपम की, नववे की जघन्य स्थिति १८ सागरोपम की, उत्कृष्ट २० सागरोपम की, दसवे मे जघन्य १८ सागरोपम की, उत्कृष्ट २० सागरोपम की, ग्यारहवें में जघन्य २० सागरोपम की, उत्कृष्ट २२ सागरोपम की, बारहवें में जघन्य २० सागरोपम की, उत्कृष्ट २२ सागरोपम की स्थिति होती है। नवग्रैवेयकों में पहले की. जघन्य स्थिति २२ की उत्कृष्ट स्थिति २३, सागरोपम की स्थिति होती है। इसी प्रकार आगे-आगे जघन्य स्थिति में और उत्कृष्ट स्थिति में क्रमशः एक-एक की वृद्धि करते जाना है, परिणामस्वरूप नववें ग्रैवेयक की जघन्य स्थिति ३० की और उत्कृष्ट स्थिति ३१ सागरोपम की होती है। २२ से लेकर २५ वें देवलोक की जघन्य स्थिति ३१ की और उत्कृष्ट ३२ सागरोपम की तथा २६ वें देव-लोक की जघन्य और उत्कृष्ट स्थिति ३३ सागरोपम की ही मानी गई है। इसके अतिरिक्त, जिस देव की जितने सागरोपम की आयु होती है, वह उतने ही पक्ष में श्वासोच्छ्वास लेता

आयु, प्रभाव-निग्रह और अनुग्रह करने का सामर्थ्य, सुख-इन्द्रियों के द्वारा उनके ग्राह्यविषय को ग्रहण करना, द्युति-शरीर, वस्त्र आदि की कान्ति, इन्द्रियविषय-दूर से इष्ट विषयों को ग्रहण करने का इन्द्रियों का सामर्थ्य, आदि कुछ ऐसी बातें हैं जो नीचे-नीचे के देवों से ऊपर-ऊपर के देवों में अधिक उपलब्ध होती हैं तथा गति-गमन क्रिया की शक्ति, शरीर का प्रमाण, परिग्रह-विमान आदि ऐश्वर्य और अभिमान-अहंकार ऊपर के देवों से नीचे के देवों में कम-कम पाया जाता है। क्योंकि ऊपर-ऊपर के देवों में महानता और उदासीनता अधिक होने के कारण देशान्तर में जाने का विचार कम रहता है। जघन्य दो सागरोपम की स्थिति रखने वाले सानत्कुमार आदि के देव अधोभाग में सातवी नरक तक, तिरछे असंख्यात हज़ार, कोटा-कोटि योजन पर्यन्त जाने का, सामर्थ्य रखते हैं, इसके बाद जघन्य स्थिति वाले देवों का गति-सामर्थ्य घटते-घटते, अधिक से अधिक तीसरी नरक तक जाने का रह जाता है, इन देवों में शक्ति चाहे कितनी भी हो परन्तु कोई देव अधो-भाग में तीसरे नरक से आगे न कभी गया है, और न कभी जाएगा। शरीर का परिमाण पहले-दूसरे स्वर्ग में सात हाथ का, तीसरे-चौथे में छह हाथ का, पांचवें-छठे स्वर्ग में पाँच हाथ का, सातवें, आठवें में चार हाथ का, नववें से लेकर बारहवें तक में तीन हाथ का, नवग्रैवेयकों में दो हाथ का और अनुत्तरविमानों में शरीर-परिमाण एक हाथ का होता है। पहले स्वर्गमें ३२ लाख, दूसरे में २८ लाख, तीसरे में १२ लाख, चौथे में ८ लाख, पांचवें में ४ लाख, छठे में

है, और उतने ही हज़ार वर्षों में उसे आहार करने की इच्छा पैदा होती है, जैसे सर्वार्थ-सिद्ध के विमान के देव की आयु ३३ सागरोपम होती है, तो वह ३३ पक्ष में एक बार श्वासोच्छ्वास लेते हैं और ३३ हज़ार वर्षों के बाद आहार ग्रहण करते हैं। देव कवलाहार नही करते, रोमाहार करते है, जब इन्हें आहार की इच्छा होती है तो रत्नों के शुभ पुद्गलों को रोमों द्वारा खींच लेते हैं।

५० हजार, सातवेंमें ४० हजार, आठवेंमें ६ हजार, नौवेंसे लेकर १२वें तक सात सौ, अधोवर्ती तीन ग्रैवेयकों में १११, मध्यम तीन ग्रैवेयकों में १०७, ऊर्ध्व तीन ग्रैवेयकों में १०० और अनुत्तर में केवल पाँच विमानों का ही परिग्रह होता है। स्थान, परिवार, शक्ति, विभूति और स्थिति आदि के कारण अभिमान का जन्म होता है, ऐसा अभिमान कषाय की न्यूनता के कारण ऊपर-ऊपर के देवों में उत्तरोत्तर कम होता चला जाता है। इसके अतिरिक्त, अवधिज्ञान का सामर्थ्य भी ऊपर-ऊपर के देवों में अधिक ही पाया जाता है। अवधिज्ञान की यह अधिकता कितनी है ? यह भी समझ लीजिए—

व्यन्तर देवता जघन्य २५ योजन, उत्कृष्ट संख्यात द्वीप समुद्र जान, देख सकते हैं, ज्योतिष्क देव जघन्य २५ योजन, उत्कृष्ट संख्यात द्वीप समुद्र देख सकते हैं। असुर कुमार देव जघन्य २५ योजन, उत्कृष्ट× असंख्यात द्वीप समुद्र देख सकते हैं। नागकुमार से लेकर स्तनित कुमार तक भवनपति देव जघन्य २५ योजन, उत्कृष्ट संख्यात द्वीप समुद्र देख सकते हैं। भवनपतियों के इन्द्र ऊपर पहले दूसरे देवलोक तक, नीचे पहली नरक का चरमान्त भाग, मध्यलोक में असंख्यात द्वीप समुद्र देख सकते हैं। पहले, दूसरे देवलोक के देवता, ऊपर को अपने विमान की ध्वजा तक, नीचे पहली नरक का चरमान्त भाग, मध्यलोक असंख्यात द्वीपसमुद्र तक, तीसरे चौथे देवलोक के देव ऊपर को अपनी विमानध्वजा तक, नीचे दूसरी नरक का चरमान्त, मध्यलोक में असंख्यात द्वीपसमुद्र तक, पाँचवें और छठे देवलोक के देव ऊपर अपनी

×जैनसिद्धान्त के अनुसार पल्योपम के आयुष्य वाले देव संख्यात द्वीप समुद्र और सागरोपम की आयुष्य वाले देव असंख्यात द्वीप अवधिज्ञान के द्वारा देख सकते हैं। असुरकुमार देवो की उत्कृष्ट स्थिति कुछ अधिक एक सागरोपम की है। अतः ये अवधि ज्ञान द्वारा असंख्यात द्वीप देख सकते हैं, किन्तु नाग-कुमार आदि अवशिष्ट भवनपतिदेवो की उत्कृष्ट आयु देशोन दो पल्योपम की होती है, अतः ये अवधिज्ञान से संख्यात द्वीप समुद्र ही देखते हैं !

विमानध्वजा तक, नीचे तीसरी नरक तक, मध्यलोक में असंख्यात द्वीप समुद्र तक, सातवें और आठवें देवलोक के देव ऊपर को अपनी विमान-ध्वजा तक, नीचे चौथी नरक का चरमान्त, मध्यलोक में असख्यात द्वीप समुद्र तक, नववें, दसवें, ग्यारहवें और बारहवें देवलोक के देव ऊपर अपनी विमान-ध्वजा, नीचे पांचवी नरक का चरमान्त, मध्यलोक में असंख्यात द्वीपसमुद्र तक, नवग्रैवेयको में पहले और दूसरे त्रिक के देव ऊपर अपनी विमानध्वजा तक, नीचे छठी नरक, मध्यलोक में असंख्यात द्वीप समुद्र, तीसरे त्रिक वाले देव ऊपर अपनी विमान-ध्वजा, नीचे सातवी नरक का चरमान्त, मध्यलोक में असंख्यात द्वीपसमुद्र, पांच अनुत्तर विमान वाले देव कुछ कम सारे लोक को देख सकते हैं।

साधना से होने वाला अवधिज्ञान–

बताया जा चुका है कि अवधिज्ञान जन्म से और अध्यात्म साधना से उत्पन्न होता है। जन्म से अवधिज्ञान देव और नारकी जीवों को होता है तथा साधना से जनित अवधिज्ञान मनुष्य और पशु को होता है। जन्म-जन्य अवधिज्ञान के लिए जप, तप, अहिंसा आदि किसी भी अध्यात्म साधना की अपेक्षा नहीं रहती, जबकि साधना-जन्य अवधिज्ञान के लिए अहिसा, सयम और तप की त्रिवेणी में गोते लगाने पड़ते है, मन को साधना एवं मारना पड़ता है। क्रोध, मान और माया आदि विकार छोड़ने होते हैं। साधनाजनित अवधिज्ञान के जैन-शास्त्रों में अनेकों उदाहरण उपलब्ध होते हैं, श्री कल्प सूत्र में लिखा है कि भगवान महावीर जब माता त्रिशला के उदर में थे, तब उनको अवधिज्ञान था, यह अवधिज्ञान अध्यात्मसाध्ना-जनित था। श्री उपासक-दशांगसूत्र के अनुसार आनन्द सेठ को भी अवधि ज्ञान की प्राप्ति हुई थी। आनन्द सेठ बड़े सम्पत्तिशाली श्रावक थे, चार करोड़ सुनय्या इन के कोष में था, द्विपद, चतुष्पद, धन और धान्य-आदि के रूप में चार करोड़ की सम्पत्ति थी, चार करोड़ व्यापार में लगा हुआ था, गौओं के चार ●गोकुल थे, पांच सौ गाडे व्यापारार्थ

●गोकुल का अर्थ है-दस हज़ार गौएं।

और पांच सौ घास आदि लाने के लिए थे, समुद्र में व्यापार करने के लिए चार बड़े-बड़े जहाज़ थे। इतनी अधिक सम्पदा के धनी होने पर भी आनन्द सेठ सर्वथा निरभिमानी थे, विनीत थे, धर्म-ध्यान के बड़े रसिक थे, पर्व-तिथियों में पौषध किया करते थे। अन्य अनेकों तपस्या-प्रधान अनुष्ठानों के कारण ही इन को अवधिज्ञान होगया था। अवधि-ज्ञान के प्रभाव से सेठ साहिब पूर्व, पश्चिम और दक्षिण में लवण-समुद्र में पांच सौ योजन तक, उत्तरदिशा में चुल्लहिमवान पर्वत तक, ऊपर सौधर्म देव-लोक तक, और नीचे रत्नप्रभा पृथ्वी के लोलुपाच्युत नामक नरकावास को जहां ८४ हज़ार वर्ष की स्थिति वाले नारकी रहते हैं, देखने लगे थे। आनन्द सेठ का यह अवधि-ज्ञान साधना-जन्य था। श्री प्रज्ञापनासूत्र के अनुसार तिर्यञ्च पञ्चेन्द्रिय जीव अवधि-ज्ञान के द्वारा जघन्य अंगुल का असंख्यातवाँ भाग और उत्कृष्ट असं-ख्यात द्वीप समुद्र देख सकते हैं, तथा मनुष्य अवधि-ज्ञान के द्वारा जघन्य अंगुल का असंख्यातवां भाग और उत्कृष्ट समस्त लोक तथा लोक जैसे यदि अलोक में असंख्यात खण्ड हों तो उन्हें भी देख सकता है।

गुणप्रत्यय अवधिज्ञान के ६ भेद—

तिर्यञ्च और मनुष्यों को आध्यात्मिक साधना से जो गुणप्रत्यय-रूप अवधिज्ञान होता है, उसके ६ प्रकार होते हैं। जैसे कि—**१-आनु-गामिक**—वह अवधि-ज्ञान जो अपने उत्पत्ति-क्षेत्र को छोड़ कर दूसरी जगह चले जाने पर भी क़ायम रहता है। जैसे—जिस स्थान में वस्त्र आदि किसी वस्तु को रंग लगाया गया हो तो उस स्थान से उसे हटा लेने पर भी उस का रंग क़ायम रहता है, यही स्थिति आनुगामिक अवधि-ज्ञान की होती है। यह अवधि-ज्ञान नेत्र-ज्योति की तरह ज्ञानी का अनुगमन करता है। तात्पर्य यह है कि जिस जगह जिस जीव को यह ज्ञान प्रकट होता है, वह जीव उस जगह जैसे संख्यात या असंख्यात योजन के क्षेत्र को चारों तरफ देखता है, उसी प्रकार दूसरी जगह जाने पर भी उतने ही क्षेत्रों को देखता है। २-**अनानुगामिक**—वह

अवधिज्ञान जो उत्पत्ति-स्थानको छोड़ देने पर कायम नहीं रहता। जैसे कोई ज्योतिषी ऐसा होता है, जो प्रश्न का ठीक-ठीक उत्तर अमुक स्थान पर ही दे सकता है, अन्य स्थान पर नहीं। ३-**वर्धमान**-वह अवधि-ज्ञान जो उत्पत्तिकाल में अल्पविषयक होने पर भी परिणामशुद्धि बढ़ने के साथ-साथ क्रमशः अधिक-अधिक विषयक होता जाता है। जैसे दियासलाई या अरणि आदि साधनों से पैदा होने वाली आग की चिनगारी उत्पत्ति-समय बहुत छोटी होने पर भी अधिक-अधिक सूखे ईन्धन का संयोग पाकर क्रमशः बढ़ती चली जाती है। ४-**हीयमान**—वह अवधि-ज्ञान जो उत्पत्ति के समय अधिक विषय वाला होने पर भी परिणाम-शुद्धि कम हो जाने से क्रमशः अल्प-अल्प-विषयक होता जाता है। जैसे-परिमित दाह्य वस्तुओं में लगी हुई आग नया ईन्धन न मिलने से क्रमशः घटती चली जाती है। ५-**अवस्थित**-वह अवधि-ज्ञान जो जन्मान्तर होने पर भी आत्मा में कायम रहता है, या केवल-ज्ञान की उत्पत्ति पर्यन्त अथवा आजन्म ठहरता है। जैसे किसी प्राणी को एक जन्म में प्राप्त हुआ पुरुष आदि वेद या दूसरे अनेक तरह के शुभ और अशुभ संस्कार उस के साथ दूसरे जन्म में जाते हैं, या आजन्म कायम रहते हैं। और ६-**अनवस्थित**—वह अवधि-ज्ञान जो जलतरङ्ग की तरह कभी घटता है, कभी बढ़ता है, कभी आविर्भूत होता है, और कभी तिरोहित हो जाता है। अवधि-ज्ञान के इन ६ प्रकारों में पांचवें भेद को प्रतिपाती और छठे भेद को अप्रतिपाती भी कहते हैं। जो अवधि-ज्ञान उत्कृष्ट सर्वलोक को अपना विषय बना कर पुनः चला जाता है, वह प्रतिपाती होता है तथा जो अवधि-ज्ञान भवक्षय या केवल-ज्ञान होने से पहले नष्ट नहीं होता, वह अप्रतिपाती माना गया है। जिस अवधिज्ञानी को *सम्पूर्ण लोक से आगे एक भी प्रदेश का ज्ञान हो ज.ता है, उसका अवधि-ज्ञान अप्रतिपाती समझना चाहिये। यह बात सामर्थ्य, शक्ति की अपेक्षा से कही गई है, वास्तव में अलोकाकाश

*देखो, नन्दीसूत्र में वर्णित अवधि-ज्ञान का क्षेत्र-प्रकरण।

रूपी द्रव्यों से शून्य है, इसलिए वहां अवधि-ज्ञानी कुछ नहीं देख सकता। यह अवधि-ज्ञान केवल ज्ञान से अन्तुर्मुहूर्त्त पहले पैदा होता है और बाद में केवल-ज्ञान में समा जाता है, इसी अप्रतिपाती अवधि-ज्ञान को परमावधि भी कहते हैं। ये छहों भेद तिर्यञ्च और मनुष्यों में होने वाले क्षयोपशमिक अवधि-ज्ञान के माने गए हैं। साथ में यह भी समझ लेना चाहिए कि जिस प्रकार मिथ्यादृष्टि जीव के मति और श्रुत को मति-अज्ञान और श्रुत-अज्ञान कहते हैं, उसी प्रकार मिथ्यादृष्टि जीव के अवधि-ज्ञान को विभंग-ज्ञान कहा जाता है।

इसके अतिरिक्त यह बात भी समझ लेनी चाहिए कि यद्यपि तीर्थंकर भगवान को तथा किसी-किसी अन्य मनुष्य को भी अवधि-ज्ञान जन्मसिद्ध प्राप्त होता है, परन्तु वह गुणप्रत्यय ही समझना चाहिए, क्योंकि यह अवधि-ज्ञान आजन्म क़ायम नहीं रहता, देव और नारकी जीवों की भाँति इस की अवस्थिति सार्वकालिक नहीं होती, केवल-ज्ञान होने के बाद यह समाप्त हो जाता है।

अवधि-ज्ञानी जिन–

श्री स्थानांगसूत्र में जिन के-१-अवधि-ज्ञानी, २-मन.पर्यायज्ञानी और ३-केवल-ज्ञानी, ये तीन प्रकार लिखे हैं। राग और द्वेष को जीतने वाले महापुरुष जिन कहलाते हैं। केवलज्ञानी तो सर्वथा राग-द्वेष को जीतने वाले एवं पूर्ण प्रत्यक्षज्ञानशाली होने से साक्षात् जिन माने ही गए हैं, अवधि-ज्ञानी और मनःपर्यवज्ञानी प्रत्यक्ष ज्ञान वाले होते हैं, अतः ये भी जिन-सरीखे होने से जिन कहे जाते हैं, परन्तु ये दोनों प्रत्यक्षज्ञानरूप उपचार के कारण ही माने गए हैं।

दस बातों का विच्छेद–

जितेन्द्रिय-शिरोमणि, महामहिम श्री जम्बूस्वामी इस अवसर्पिणी काल के अन्तिम केवली भगवान थे। श्री जम्बूस्वामी के निर्वाण के अनन्तर निम्नोक्त दस बातें समाप्त हो गई थीं, जैसेकि—

१–परम अवधि-ज्ञान, २–मनःपर्यव-ज्ञान, ३–पुलाकलब्धि, ४–आहारक-शरीर, ५–क्षायिक-सम्यक्त्व ६–केवलज्ञान ७–जिनकल्पी साधु, ८–परिहारविशुद्धि-चारित्र, ९–सूक्ष्मसम्पराय चारित्र और १०–यथाख्यात चारित्र।

इन्द्रियों और मन की सहायता के बिना, साक्षात् आत्मा से मर्यादा-पूर्वक सम्पूर्ण लोक के रूपी द्रव्यों का जो प्रत्यक्ष ज्ञान होता है, उसे परमावधि ज्ञान कहते हैं। परमावधि-ज्ञानी चरम-शरीरी होता है। भगवती सूत्र शतक १८, उद्देशक ८ की टीका के अनुसार परमावधिज्ञानी अवश्य ही अन्तर्मुहूर्त्त में केवल-ज्ञान प्राप्त कर लेता है। इन्द्रिय और मन की सहायता के बिना मर्यादा को लिए हुए, संज्ञी जीवों के मनोगत भावों का जानना मनःपर्यवज्ञान होता है, जिस लब्धि (तपोजन्य प्रभाव से उत्पन्न शक्ति-विशेष) द्वारा मुनि संघ-रक्षा आदि की खातिर सेना-सहित चक्रवर्ती का भी विनाश कर देता है, उस लब्धि को पुलाक-लब्धि कहते हैं, प्राणि-दया, तीर्थंकर भगवान का ऋद्धि-दर्शन तथा संशय-निवारण आदि प्रयोजनों से १४ पूर्वधारी मुनि अन्य क्षेत्र (महाविदेह क्षेत्र) में विराजमान हुए तीर्थंकर भगवान के समीप भेजने के लिए लब्धि-विशेष से अतिविशुद्ध, स्फटिक के समान अपने शरीर में से एक हाथ का जो पुतला निकालते हैं उसे आहारक-शरीर कहते हैं। अनन्तानुबन्धी चार कषायों के और दर्शन-मोहनीय कर्म की तीनों प्रकृतियों के क्षय हो जाने पर जो परिणाम-विशेष होता है, वह क्षायिक-सम्यक्त्व है, यह सादि-अनन्त है, यह सम्यक्त्व एक बार ही मिलता है और मिलने के बाद कभी जाता नहीं है। मति-श्रुत आदि ज्ञान की अपेक्षा विना, त्रिकाल एवं त्रिलोकवर्ती समस्त पदार्थों को युगपत् हस्तामलक-वत् जानना केवलज्ञान कहलाता है। उत्कृष्ट चारित्र का पालन करने की इच्छा से निकले हुए साधु-विशेष जिनकल्पी कहे जाते हैं, इन के आचार को जिन-कल्प-स्थिति कहते हैं। जघन्य नववें पूर्व की तृतीय वस्तु और उत्कृष्ट कुछ कम दस पूर्वधारी

मुनि जिनकल्प अंगीकार किए जाते हैं ये वज्रऋषभनाराच-संहनन के धारक होते हैं, अकेले रहते हैं, उपसर्ग और रोग आदि की वेदना विना औषधि आदि का उपचार किए सहते है, उपाधि से रहित स्थान में रहते हैं आदि इनके जीवन की चर्या होती है। जिस में विशेष प्रकार के तप.प्रधान आचार का पालन किया जाता है, उसे परिहार-विशुद्धि-चारित्र कहते हैं। यह चारित्र नव साधुओं का समुदाय परिहार-तप (तपविशेष) के द्वारा अङ्गीकार किया करता है। जिस में क्रोध आदि कषायों का उदय नहीं होता, सिर्फ लोभ का अंश अति सूक्ष्म रूप से शेष रहता है, वह सूक्ष्मसम्पराय-चारित्र कहलाता है तथा जिसमें किसी भी कषाय का उदय होने नहीं पाता, वह यथाख्यात (वीतराग) चारित्र कहा जाता है।

४-मन:पर्यवज्ञानावरणीय कर्म-

कहा जा चुका है कि ज्ञानावरणीय कर्म पाच प्रकार का होता है, इस के आदिम तीन प्रकारों का व्याख्यान किया जा चुका है। चतुर्थ प्रकार है—मन:पर्यवज्ञानावरणीय कर्म। मन·पर्यवज्ञान को आच्छादित करने वाले को मन:पर्यव-ज्ञानावरणीय कर्म कहते हैं। इन्द्रिय और मन की सहायता के बिना, द्रव्य, क्षेत्र, काल और भाव की अपेक्षा से मर्यादा-पूर्वक जो ज्ञान संज्ञी [मन वाले] जीवों के मन की पर्यायों को, उस में रहे हुए भावों को जानता है, वह मन:पर्यव-ज्ञान कहलाता है।

मन वाला व्यक्ति किसी भी वस्तु का चिन्तन एव मनन मन से किया करता है। चिन्तन के समय चिन्तनीय वस्तु के भेद के अनुसार चिन्तन-कार्य में प्रवृत्त मन भिन्न-भिन्न आकृतियों को धारण कर लेता है, ये विभिन्न आकृतियां ही मन की पर्याय मानी जाती हैं, इन मानसिक आकृतियों को साक्षात् जानने वाला ज्ञान मन:पर्याय ज्ञान होता है, इस ज्ञान के बल से चिन्तनशील मन की आकृतियां जानी जाती हैं, परन्तु इस ज्ञान से चिन्तनीय वस्तुएं नहीं जानी जातीं,

चिन्तनीय वस्तुओं का बोध तो अनुमान के द्वारा होता है, जैसे मानस-शास्त्र का अभ्यासी कोई व्यक्ति किसी का चेहरा या हाव-भाव प्रत्यक्ष देख कर उसके आधार पर उस व्यक्ति के मनोगत भावों का ज्ञान अनुमान से कर लेता है, वैसे ही मन:पर्याय-ज्ञानी मन:पर्यायज्ञान से किसी के मन की आकृतियों को प्रत्यक्ष देखकर पीछे से अभ्यासवश ऐसा अनुमान कर लेता है कि इस व्यक्ति ने अमुक वस्तु का चिन्तन किया है, क्योंकि इस का मन इस वस्तु के चिन्तन के समय होने वाली अमुक प्रकार की आकृति से युक्त है। उदाहरण से समझिए, कल्पना करो। एक बालक है, जब हम उस की आंख की पुतली की ओर ध्यान-पूर्वक देखते है तो उसमें अपना प्रतिबिम्व दिखाई देता है, बालक ही की क्या वात है ? किसी भी नेत्र के सन्मुख जव कोई वस्तु आती है तो उसमें उस का प्रतिबिम्ब देखा जाता है। जैसे आखों की पुतली में चित्र उतरता दिखाई देता है, इसी तरह मानस-शास्त्र के जानने वालों का कहना है कि मन के अन्दर भी जो सकल्प विकल्प चलता है, मन के सागर में विचारों की जो तरङ्गे उठती है, हमारे मानस-पटल पर उन के भी चित्र उतरते है, मन:पर्यायज्ञान का धारक व्यक्ति इन चित्रों को देखता है, जान लेता है, चित्रों के आधार पर जिन विचारों को लेकर मन मे चित्र बने है उन विचारों का भी अनुमान लगा लेता है, फलत: व्यक्ति के मन की सोची वात तत्काल बतला देता है।

मन:पर्याय ज्ञान के दो भेद—

जैनाचार्यों ने मन:पर्याय ज्ञान को दो भागों में विभक्त किया है। जैसेकि **१-ऋजुमति-मन:पर्याय-ज्ञान** और **२-विपुल-मति-मन:-पर्याय ज्ञान**। दूसरे व्यक्ति के मन में सोचे हुए भावों को सामान्य रूप से जानना ऋजु-मतिमन:पर्याय ज्ञान है। जैसे अमुक व्यक्ति ने चिन्तन किया कि मैंने जैन स्थानक में जाना है। उस व्यक्ति की इस सामान्य विचारणा का बोध ऋजुमति-मन:पर्याय ज्ञान कहलाता है। दूसरे के मन में सोचे हुए पदार्थ के विषय में विशेष रूप से जानना विपुलमति-मन:-पर्याय-

ज्ञान होता है। जैसे अमुक व्यक्ति ने चिन्तन किया कि मैंने जैन-स्थानक में जाना है, वह जैन-स्थानक सदर बाज़ार का है, पहाड़ी धीरज पर अवस्थित है, डिप्टी गञ्ज के अन्तर्गत है, इत्यादि विशेष पर्यायों-अवस्थाओं का जानना विपुलमति-मनःपर्याय-ज्ञान होता है। प्रश्न हो सकता है, कि मनःपर्याय ज्ञान के इन दोनों भेदों में अन्तर-मूलक कोई अन्य विशेष बात भी है? उत्तर में निवेदन है, कि ऋजुमति की अपेक्षा विपुलमति-मनःपर्याय ज्ञान विशुद्ध-तर होता है, क्योंकि वह ऋजुमति की अपेक्षा सूक्ष्मतर और अधिक विशेषों को स्फुटतया जान सकता है, इसके अतिरिक्त, दोनों में यह अन्तर भी है कि ऋजुमति उत्पन्न होने के बाद कभी चला भी जाता है, परन्तु विपुल-मति की ऐसी स्थिति नहीं है, यह आने के बाद जाता नहीं है, केवल-ज्ञान की प्राप्ति तक अवश्य बना रहता है।

मनःपर्याय-ज्ञान का विषय—

मनःपर्याय ज्ञान का विषय, १-द्रव्य, २-क्षेत्र, ३-काल, और ४-भाव इन भेदों से चार प्रकार का होता है। द्रव्य की अपेक्षा यह ज्ञान संज्ञी जीवों के [काययोग से ग्रहण करके मनोयोग द्वारा मन के रूप में परिणत हुए] मनो द्रव्य को जानता है। क्षेत्र की अपेक्षा यह ज्ञान मनुष्य-क्षेत्र के अन्दर रहे हुए संज्ञी जीवों के उक्त मनोद्रव्य को जानता है। काल की अपेक्षा यह मनोद्रव्य की पर्यायों को भूत और भविष्यत् कालीन पल्योपम के असंख्यातवें भाग तक जानता है,। भाव की अपेक्षा यह ज्ञान द्रव्य-मन की चिन्तन-परिणत रूपादि अनन्त पर्यायों को जानता है, परन्तु भाव मन की पर्याय मनःपर्याय-ज्ञान का विषय नहीं है, क्योंकि भाव-मन ज्ञान-रूप होता है, ज्ञान अमूर्त्त है, अतः वह छद्मस्थ के ज्ञान का विषय नहीं बनता। यह सत्य है कि मनःपर्याय-ज्ञान चिन्तन-परिणत द्रव्य-मन की पर्यायों को साक्षात् जानता है, किन्तु चिंतन की विषय-भूत पशु आदि वस्तुओं को वह इस ज्ञान द्वारा साक्षात् नहीं जान पाता, मनोद्रव्य की पर्याय को जान कर वह अनुमान करता

है, कि मनोद्रव्य इस प्रकार विशिष्टरूप से परिणत हुए हैं, अतः इन की चिन्तनीय वस्तु यह होनी चाहिए। इस तरह अनुमान द्वारा वस्तु जान ली जाती है।

अवधि और मनः-पर्याय में अन्तर—

अवधिज्ञान और मनःपर्याय ज्ञान की भिन्नता को लेकर जब विचार किया जाता है, तब इन दोनों में जहाँ कई दृष्टियों से समानता के दर्शन होते हैं, वहां इनमें अनेकविध भिन्नता भी उपलब्ध होती है, क्योंकि अवधिज्ञान का दर्शन होता है, परन्तु मनःपर्याय ज्ञान का दर्शन नहीं होता, कारण स्पष्ट है, मनःपर्यायज्ञान अवधिज्ञान की तरह वस्तु का सामान्य रूप ग्रहण नहीं करता, यह वस्तु के विशेष-रूप को ही अपना विषय बनाता है। प्रश्न हो सकता है कि ऋजुमति अपने विषय को सामान्य रूप से जानता है, विशेष रूप से नहीं, ऐसी दशा में मनः-पर्यायज्ञान का दर्शन नहीं है, यह कैसे कहा जा सकता है? उत्तर में निवेदन है कि ऋजुमति को जो सामान्यग्राही माना गया है, इसका अभिप्राय इतना ही है कि वह विशेषों को ही जानता है किंतु विपुलमति जितने विशेषों को नहीं जानता, फलतः विपुलमति की अपेक्षा ऋजु-मति को सामान्यग्राही कहा जाता है। इसके अतिरिक्त तत्त्वार्थसूत्र के *अध्याय प्रथम के २६वें सूत्र में लिखा है कि इन दोनों में विशुद्धिकृत, क्षेत्रकृत, स्वामिकृत और विषयकृत अन्तर पाया जाता है। मनःपर्याय-ज्ञान अवधिज्ञान की अपेक्षा अपने विषय को बहुत विशद-स्पष्ट रूप से जानता है, इसलिए यह इस से विशुद्धतर है। अवधिज्ञान का क्षेत्र अंगुल के असंख्यातवें भाग से लेकर सारा लोक है और मनःपर्याय ज्ञान का क्षेत्र तो मानुषोत्तर-पर्वत पर्यन्त ही है। अवधिज्ञान के स्वामी चारों गतियों के जीव हो सकते हैं, परन्तु मनःपर्यायज्ञान के स्वामी केवल संयत मनुष्य ही हो सकते हैं। अवधिज्ञान का विषय कतिपय पर्याय सहित रूपी द्रव्य हैं, पर मनःपर्याय का विषय तो केवल उसका

---

* विशुद्धि-क्षेत्र-स्वामि-विषयेभ्योऽवधि-मनःपर्याययोः।

*अनन्तवाँ भाग है। विषय कम होने पर भी मन:पर्याय ज्ञान अवधि-ज्ञान से विशुद्धतर माना गया है, यह कैसे ? यह भी समझ लीजिए। विशुद्धि का आधार विषय की न्यूनता या अधिकता पर नहीं होता, किन्तु विषयगत न्यूनाधिक सूक्ष्मताओं के जानने पर है। जैसे दो व्यक्तियों में से एक ऐसा है जो अनेक शास्त्रों को जानता हो और दूसरा केवल एक शास्त्र को, तो भी यदि अनेक-शास्त्रज्ञ की अपेक्षा एक शास्त्र को जानने वाला व्यक्ति अपनी विषय की सूक्ष्मताओं को अधिक जानता हो तो उसका ज्ञान पहले की अपेक्षा विशुद्ध कहलाता है। वैसे ही विषय अल्प होने पर भी उसकी सूक्ष्मताओं को अधिक जानने के कारण मन:पर्याय ज्ञान अवधिज्ञान से विशुद्धतर कहा जाता है। अवधिज्ञान और मन:पर्यायज्ञान में विभेद पैदा करने वाली दो बातें और भी हैं। जैसे कि—अवधिज्ञान मिथ्यात्व के उदय से विभंग ज्ञान के रूप में परिणत हो सकता है, जबकि मन:पर्याय-ज्ञान के होते हुए मिथ्यात्व का उदय होता ही नहीं है। तथा अवधिज्ञान परभव में भी जा सकता है, जबकि मन:पर्यायज्ञान इहभविक ही होता है, परभविक नहीं।

मन:पर्याय के लिए आवश्यक नौ बातें—

मन:पर्याय-ज्ञान की प्राप्ति के लिए नौ बातों का होना आवश्यक है, वे नौ बातें इस प्रकार हैं-१-**मनुष्यभव**-मन:पर्याय ज्ञान मनुष्य को ही उत्पन्न हो सकता है, तिर्यञ्च, देव या नारकी को नहीं। २-**गर्भज**-पूर्वभव का स्थूल शरीर छोड़ कर जीव तैजस और कार्मण शरीर के साथ विग्रहगति के द्वारा अपने नवीन उत्पत्ति-स्थानमें जब जाता है, तब

---

*रूपिष्ववधेः। तत्त्वार्थसूत्र अ० १।२८।
अर्थात्-अवधिज्ञान की प्रवृत्ति सर्वपर्याय-सहित केवल रूपी द्रव्यों में होती है।
तदनन्तर-भागे मन:पर्यायस्य। तत्त्वार्थसूत्र अ० १। २९।
अर्थात्-मन:पर्याय ज्ञान की प्रवृत्ति रूपी-द्रव्य के सर्वपर्याय-रहित अनन्तवें भाग में होती है।

वहां नवीनभव-योग्य स्थूल शरीर के लिये पहले-पहल उसका आहार ग्रहण करना जन्म कहलाता है। यह जन्म-१-सम्मूर्च्छिम-२-गर्भ और ३-उपपात इन भेदों से तीन प्रकार का होता है। माता, पिता के संयोग बिना उत्पत्तिस्थान में रहे हुए औदारिक पुद्गलों को शरीर के लिए ग्रहण करना सम्मूर्च्छिम जन्म है। उत्पत्तिस्थान में रहे हुए पुरुष के शुक्र और स्त्री के शोणित के पुद्गलों को शरीर के लिए ग्रहण करना गर्भजन्म है। दूसरे शब्दों में, माता-पिता का संयोग होने पर जिस का शरीर वने उसके जन्म को गर्भ-जन्म कहते हैं गर्भ से पैदा होने वाले को गर्भज कहा जाता है। यह-अण्डज-अण्डे से पैदा होने वाले, पोतज-पोत से लिपटे हुए, कोथली सहित उत्पन्न होने वाले हाथी, चमगादड़ आदि, और जरायुज-गर्भ से जरायु [वह झिल्ली जिसमें लिपटा हुआ वच्चा मां के गर्भ से बाहिर आता है] सहित पैदा होने वाले मनुष्य, गाय आदि। जो जीव देवों की उपपात-शय्या तथा नारकियों के उत्पत्ति-स्थान में पहुँचते ही अन्तर्मुहूर्त में वैक्रिय पुद्गलों को ग्रहण करके युवावस्था को प्राप्त कर ले, उसके जन्म को उपपात जन्म कहते हैं। जैन-दृष्टि के अनुसार मनुष्य गर्भज और सम्मूर्छिम दोनों प्रकार के होते हैं, शिष्य पृच्छा करता हुआ निवेदन करता है कि मन:पर्याय-ज्ञान गर्भज को मनुष्य होता है या सम्मूर्छिम मनुष्य को? उत्तर में आचार्य फरमाते हैं कि मन:पर्याय ज्ञान गर्भज मनुष्य को हो सकता है, सम्मूर्च्छिम मनुष्य को नहीं।

३-कर्मभूमिज-गर्भज मनुष्य कर्म-भूमिज, अकर्मभूमिज और अन्तर-द्वीपिक इन भेदों से तीन प्रकार के होते हैं। कृषि, वाणिज्य, तप, संयम, अनुष्ठान वगैरह कर्म-प्रधान भूमि को कर्मभूमि कहते हैं। पांच भरत, पांच ऐरावत, और पांच महाविदेह ये १५ क्षेत्र कर्मभूमि माने जाते हैं। कर्मभूमि में उत्पन्न मनुष्य कर्मभूमिज कहलाते हैं। ये +असि, मसि और कृषि इन कर्मों द्वारा अपने जीवन का निर्वाह करते

+तलवार आदि शस्त्रों द्वारा आजीविका करना असि-कर्म है, जैसे-सेना

हैं। कृषि और वाणिज्य आदि कर्म जहां नहीं होते उसे अकर्म-भूमि कहते हैं। पांच हैमवत, पांच हैरण्यत, पांच हरिवर्ष, पाँच रम्यक-वर्ष, पांच देवकुरु और पांच उत्तरकुरु ये ३० क्षेत्र अकर्म-भूमि हैं। इन क्षेत्रों में उत्पन्न मनुष्य अकर्म-भूमिज माने गए हैं। यहां असि, मसि और कृषि का व्यापार नहीं होता। इन क्षेत्रों में दस प्रकार के कल्प-वृक्ष होते हैं, ये वस्त्र, पात्र, आभरण, भोजन आदि की सभी आवश्यकताएं पूर्ण करते हैं। इन्हीं के द्वारा अकर्म-भूमिज मनुष्य अपने जीवन का निर्वाह करते हैं। कर्म न करने से, एवं कल्पवृक्षों से जीवननिर्वाह करने के कारण इन क्षेत्रों के मनुष्यों को भोग-भूमिज भी कहते हैं। यहाँ स्त्री पुरुष जोड़े से जन्म लेते हैं। इसलिए इन्हें जुगलियाँ भी कहा जाता है। लवणसमुद्र में चुल्लहिमवन्त पर्वत के पूर्व और पश्चिम में दो-दो दाढे हैं, इस प्रकार शिखरी पर्वत के भी पूर्व और पश्चिम में दो-दो दाढे हैं। एक-एक दाढा पर सात-सात द्वीप हैं। इस प्रकार दोनो पर्वतों की आठ दाढाओं पर ५६ द्वीप हैं। लवण-समुद्र के मध्य में होने से अथवा परस्पर द्वीपों में अन्तर होने से इन्हें अन्तरद्वीप कहा जाता है, अकर्म-भूमि की तरह इन अन्तरद्वीपों में भी कृषि और वाणिज्य आदि किसी भी प्रकार का कर्म नहीं होता, यहाँ पर भी कल्पवृक्ष होते हैं। अन्तर-द्वीपों में रहने वाले लोग अन्तर-द्वीपिक कहलाते हैं। ये जुगलिया होते हैं।

जैन-दर्शन की आस्था है कि गर्भज मनुष्य कर्म-भूमिज, अकर्म-भूमिज और अन्तरद्वीपिक तीनों प्रकार के होते हैं। शिष्य प्रश्न करता हुआ निवेदन करता है कि मन:पर्याय-ज्ञान कर्मभूमिज मनुष्य का होता है? अकर्मभूमिज या अन्तरद्वीपिक मनुष्य को होता है? उत्तर में आचार्य फरमाते हैं कि मन:पर्यायज्ञान कर्मभूमिज मनुष्यों को होता है, अकर्मभूमिज तथा अन्तर-द्वीपिक मनुष्यों को इस की प्राप्ति नहीं होती।

की नौकरी। लेखन-कार्य करके आजीविका करना मसि-कर्म है और खेती द्वारा आजीविका करना कृषिकर्म कहलाता है।

४-संख्यात वर्ष की आयु—जो आयु अङ्कों के द्वारा गिनी जा सके वह संख्येय या संख्यात और जिसकी अंकों के द्वारा गणना न की जा सके वह असंख्येय या असंख्यात कहलाती है। अथवा श्री अनुयोग द्वार सूत्र के अनुसार १६४ अंकों द्वारा जिस आयु की गणना हो, वह संख्येय और जिसकी गणना इन अङ्कों से ऊपर हो या किसी उपमा के द्वारा बतलाने योग्य हो, वह असंख्येय होती है। मनःपर्याय ज्ञान के प्रसंग में शिष्य की जब-"मनःपर्याय ज्ञान संख्यात वर्ष की आयु वाले गर्भज मनुष्य को हो सकता है या असंख्यात वर्ष की आयु वाले को ?" यह जिज्ञासा गुरुदेव के सामने आती है, तो गुरुदेव फरमाते हैं कि मनःपर्याय ज्ञान संख्यात वर्ष की आयु वाले गर्भज मनुष्य को हो सकता है, असंख्यात वर्ष की आयु वाले को नहीं।

जिस मनुष्य की आयु जघन्य ६ वर्ष की और उत्कृष्ट करोड़ पूर्व की होती है, उसे संख्यात-वर्षायुष्क कहते हैं। ७० लाख, ५६ हजार वर्ष को एक करोड़ से गुना करने पर ७०, ५६, ००००, ००००, ०० वर्षों का एक पूर्व होता है। करोड़ पूर्व से अधिक आयु वाला मनुष्य असंख्यात-वर्षायुष्क कहलाता है। असंख्यात वर्ष की आयु वाला मनुष्य मनःपर्याय ज्ञान का पात्र नहीं बन पाता।

५-पर्याप्तक-आहार आदि के लिए पुद्गलों को ग्रहण करने तथा उन्हें आहार और शरीर आदि रूप में परिणत करने की शक्ति-विशेष को पर्याप्ति कहते हैं। इसके ६ भेद हैं, जैसेकि-१**आहार-पर्याप्ति**—वह शक्ति जिससे जीव आहारयोग्य बाह्य पुद्गलों को ग्रहण करके रस के रूप में परिणत करता है, २-**शरीर-पर्याप्ति**-वह शक्ति जिसके द्वारा जीव रस के रूप में परिणत आहार को रस, खून, मांस, चर्बी, अस्थि, मज्जा और वीर्य्य रूप सात धातुओंमें बदलता है, ३-**इन्द्रियपर्याप्ति**-वह शक्ति जिसके द्वारा जीव सात धातुओं के रूप में परिणत आहार को इन्द्रियों के रूप में परिवर्तित करता है। ४-**श्वासोच्छ्वास-पर्याप्ति**-वह शक्ति जिसके द्वारा जीव श्वासोच्छ्वास-योग्य पुद्गलों को श्वासोच्छ्वास के रूप में ग्रहण

करता है, और छोड़ता है। ५-भाषापर्याप्ति-वह शक्ति जिस के द्वारा जीव भाषा-योग्य भाषावर्गणा के पुद्गलों को ग्रहण करके उन्हें भाषा के रूप में परिणत करता है और छोड़ता है। और ६-मनःपर्याप्ति-वह शक्ति जिस के द्वारा जीव मनोयोग्य मनोवर्गणा के पुद्गलों को ग्रहण करके उन्हें मन के रूप में परिणत करता है। जिस जीव में जितनी पर्याप्तियां सम्भव हैं, वह जब उतनी पर्याप्तियां पूर्ण कर लेता है, तब उसे पर्याप्तक कहा जाता है। एकेन्द्रिय जीव आहार, शरीर, इन्द्रिय और श्वासोच्छ्वास ये चार पर्याप्तियां पूर्ण करने पर, द्वीन्द्रिय, त्रीन्द्रिय चतुरिन्द्रिय और असंज्ञी पञ्चेन्द्रिय उपर्युक्त चार और पांचवीं भाषा पर्याप्ति पूरी करने पर तथा संज्ञी पञ्चेन्द्रिय उपर्युक्त पांच तथा छठी मनःपर्याप्ति पूर्ण कर लेने पर पर्याप्तक कहे जाते हैं। जिस जीव की ये पर्याप्तियां पूर्ण न हों वह अपर्याप्तक माना गया है।

जैन-सिद्धान्त की मान्यता के अनुसार संख्यात-वर्षायुष्क मनुष्य पर्याप्तक और अपर्याप्तक दोनों प्रकार के होते हैं। शिष्य जिज्ञासा करता हुआ कहता है कि मनःपर्यायज्ञान पर्याप्तक मनुष्य को होता है या अपर्याप्तक मनुष्य को ? उत्तर में जैन-दर्शन कहता है, कि संख्यात वर्षों की आयु वाला पर्याप्तक मनुष्य ही मनः-पर्यायज्ञान को प्राप्त कर सकता है, अपर्याप्तक नहीं।

६-सम्यग्दृष्टि—दृष्टि और दर्शन ये दोनों समानार्थक शब्द हैं, दर्शन विश्वास का नाम है। यह तीन प्रकार का होता है, जैसेकि १-सम्यग्दर्शन-वह आत्मिक परिणाम-अवस्था जो मिथ्यात्व-मोहनीय कर्म के क्षय, उपशम या क्षयोपम से उत्पन्न होता है। धर्म में धर्म का विश्वास और अधर्म में अधर्म की आस्था सम्यग्दर्शन होता है। दर्शन के सम्यग् हो जाने पर मति आदि अज्ञान भी सम्यग्ज्ञान बन जाते हैं। २-मिथ्यादर्शन--मिथ्या-मोहनीय कर्म के उदय से अदेव में देव-बुद्धि, और अधर्म में धर्म-बुद्धि आदि रूप आत्मा का विपरीत, अयथार्थ विश्वास। और ३-मिश्रदर्शन-मिश्र-मोहनीय कर्म के उदय से आत्मा में कुछ अय-

थार्थ तत्त्वश्रद्धान का होना। जैन-दर्शन के विश्वासानुसार मन:पर्यव-ज्ञान सम्यग्दर्शन-धारक व्यक्ति को ही सम्प्राप्त होता है, मिथ्या-दर्शनी या मिश्रदर्शनी को नहीं।

७-संयत—जीव के तीन भेद होते हैं जैसेकि **१-संयत**-जो सावद्य व्यापार से निवृत्त हो गया है, छठे गुणस्थान से लेकर चौदहवें गुणस्थान वाला और सामायिक आदि संयम का आराधक या परिपालक साधु। **२-असंयत**- पहले गुणस्थान से लेकर चौथे गुणस्थान वाला अविरति जीव और **३-संयतासंयत**—जो कुछ अंशों में ता विरति-त्याग का सेवन करता है और कुछ अंशों में नहीं करता, ऐसा देशविरति अर्थात् पञ्चम गुणस्थानवर्ती श्रावक। सम्यग्दृष्टि जीव संयत और संयतासंयत दोनों प्रकार के हाते हैं, प्रश्न उपस्थित होता है कि मन:पर्यायज्ञान संयत को हो सकता है, या संयतासंयत को? उत्तर में जैनाचार्य फरमाते हैं कि मन:पर्यायज्ञान संयत मनुष्य को हो सकता है असंयत को नहीं।

८-अप्रमत्त—कहा जा चुका है कि मन:पर्याय ज्ञान संयत मनुष्य का हो सकता है, संयतासंयत को नहीं, परन्तु संयत मनुष्य भी प्रमत्त और अप्रमत्त इन भेदों से द्विविध होते हैं। अत: यहाँ प्रश्न उपस्थित होता है कि मन:पर्याय ज्ञान प्रमत्त संयत को होता है, या अप्रमत्त संयत को? उत्तर में आचार्य फरमाते हैं कि मन:पर्याय ज्ञान अप्रमत्त संयत को ही होता है, अप्रमत्त संयत को नहीं होने पाता।

अप्रमत्त किसे कहते हैं? यह जान लेना भी आवश्यक है। प्रमाद से रहित साधक अप्रमत्त होता है। प्रमाद का अर्थ है—विषयभोगों में आसक्त होना, शुभ कार्यो में उद्यम न करके अशुभ कार्यों में प्रयत्न-शील रहना, वह प्रवृत्ति जिससे जोव मोक्षमार्ग के प्रति शिथिल प्रयत्न वाला बने। स्थानाङ्ग सूत्र में प्रमाद के ६ और ८ भेद लिखे हैं। ६ भेद ये हैं—**१-मद्य**-शराब आदि नशोले पदार्थों का सेवन, **२-विषय**-श्रोत्रादि इन्द्रियों के शब्दादि विषयों में आसक्त होना, **३-कषाय**-क्रोध, मान,

माया, और लोभ का सेवन करना, **४-निद्रा**-सोने की क्रिया, **५-विकथा**-रागद्वेषवश होकर स्त्री, भोजन, देश और राजा को लेकर वचन बोलना। एक स्थान पर विकथा की जगह **द्यूत** को पांचवां प्रमाद माना गया है। द्यूत का अर्थ है-जुआ खेलना और **६-प्रत्युपेक्षणा**-वस्त्र, पात्र आदि बाह्य वस्तुओं को देखने में तथा "मैंने क्या-क्या अनुष्ठान किए हैं?, मुझे क्या करना शेष है?, मुझे क्या करना चाहिए?" इस प्रकार के चिन्तन द्वारा अन्तरङ्ग जीवन को उच्च बनाने में आलस्य करना।

प्रमाद के आठ भेद इस प्रकार हैं—**१-अज्ञानप्रमाद**-मूढता, **२-संशय-प्रमाद**-यह बात इस प्रकार है या दूसरी तरह? इस तरहका संदेह रखना, अर्थात् शंकाशील बने रहना, **३-मिथ्याज्ञान प्रमाद**-विपरीत धारणा, **४-रागप्रमाद**-किसी से स्नेह रखना, **५-द्वेष-प्रमाद**-किसी से अप्रीति रखना, **६-स्मृतिभ्रंश-प्रमाद**-भूल जाने का स्वभाव, **७-धर्म में अनादर**-भगवान के धर्म के आराधन में उदासीनता, और **८-योग-दुष्प्रणिधान-प्रमाद**—मन वचन, और काया के योगों को कुमार्ग में लगाना।

९-ऋद्धिप्राप्त-आर्य--अप्रमत्तसंयत को मनःपर्याय ज्ञान होता है, यह ऊपर बताया जा चुका है, शास्त्रकारों ने अप्रमत्तसंयत के-ऋद्धिप्राप्त-आर्य और अनृद्धिप्राप्त आर्य ये दो भेद किए हैं। अतः यहाँ प्रश्न उपस्थित होता है कि मनःपर्याय ज्ञान ऋद्धिप्राप्त-आर्य अप्रमत्तसंयत को होता है या अनृद्धिप्राप्त-आर्य अप्रमत्त-संयत को प्राप्त होता है? उत्तर में पूज्य जैनाचार्य फरमाते हैं कि मनःपर्यायज्ञान ऋद्धिप्राप्त-आर्य अप्रमत्तसंयत को होता है, अनृद्धिप्राप्त-आर्य अप्रमत्त-संयत को उसकी प्राप्ति नहीं। जो अप्रमत्त मुनिराज *अतिशायिनी बुद्धि से संपन्न हैं।

---

*अतिशायिनी बुद्धि तीन प्रकार की होती हैं, जैसेकि—१-कोष्ठक, २-पदानुसारिणी, और ३-बीज। जिस तरह कोष्ठक में रखा हुआ धान्य सुरक्षित रहता है, उसी प्रकार विशिष्ट ज्ञानी से सुना हुआ ज्ञान जिस बुद्धि में ज्यों-का-त्यों सुरक्षित रहता है, वह कोष्ठक-बुद्धि है। जो एक भी सूत्रपद का निश्चय करके शेष तत्सम्बन्धित नही सुने हुए तदनुरूप श्रुत का भी अवगाहन करती है, वह

अवधिज्ञान, पूर्वगत ज्ञान, आहारक-लब्धि, वैक्रियलब्धि, विपुल-तेजोलेश्या, विद्याचरण और जंघाचरण आदि लब्धियों से सम्पन्न हैं, उन्हें ऋद्धिप्राप्त आर्य कहते हैं। जिसमें ज्ञान-दर्शन और चारित्र ग्रहण करने की योग्यता हो वह आर्य कहलाता है। इसके ऋद्धिप्राप्त और अनृद्धि-प्राप्त ऐसे दो भेद होते हैं। जो व्यक्ति अरिहन्त, चक्रवर्ती आदि की ऋद्धियों को प्राप्त कर लेता है, उसे ऋद्धिप्राप्त आर्य कहते हैं, तथा आर्य-क्षेत्र में उत्पन्न ऋद्धि-विहीन व्यक्ति अनृद्धि-प्राप्त आर्य कहलाता है। ऋद्धिप्राप्त आर्य ६ प्रकार के होते हैं, जैसेकि—

१-**अरिहन्त**-राग और द्वेष आदि आत्मिक शत्रुओं का नाश करने वाले अरिहन्त कहलाते हैं, २-**चक्रवर्ती**-चौदह रत्न और छह खण्डों के स्वामी चक्रवर्ती होते हैं, ये सर्वोत्कृष्ट लौकिक समृद्धि से सम्पन्न माने जाते हैं। ३-**वासुदेव**-सात रत्न और तीन खण्डों के स्वामी वासुदेव कहलाते हैं, ये भी अनेक प्रकार की ऋद्धियों से सम्पन्न होते हैं। ४-**बलदेव**-वासुदेव के बड़े भाई बलदेव कहलाते हैं। बलदेव से वासुदेव की और वासुदेव से चक्रवर्ती की ऋद्धि दुगनी होती है। तीर्थङ्कर की आध्यात्मिक ऋद्धि चक्रवर्ती से भी अनन्तगुणा अधिक होती है। ५-**चारण**-आकाशगामिनी विद्या जानने वाले चारण कहलाते हैं। जंघाचारण और विद्या-चारण इन भेदों से चारण दो प्रकार के होते हैं। चारित्र और तप-विशेष के प्रभाव से जिन्हें आकाश में आने-जाने की ऋद्धि प्राप्त हो वे जंघाचारण कहलाते हैं, जिन्हें उक्त लब्धि विद्या द्वारा प्राप्त हो वे विद्याचारण होते हैं। और ६-**विद्याधर**-वैताढ्य पर्वत के अधिवासी प्रज्ञप्ति आदि विद्याओं के धारण करने वाले विशिष्ट-शक्ति-सम्पन्न व्यक्ति विद्याधर कहे जाते हैं, ये आकाश में उड़ते हैं तथा अनेकविध चमत्कारपूर्ण कार्य करते हैं।

मनःपर्याय-ज्ञानी केशीश्रमण—

मनःपर्याय-ज्ञान के स्वरूप को लेकर ऊपर की पंक्तियों में चिन्तन

पदानुसारिणी बुद्धि कहलाती है। जो एक अर्थ-पद को धारण करके शेष अश्रुत यथावस्थित प्रभूत अर्थों को ग्रहण करती है, उसे बीजबुद्धि कहते हैं।

प्रस्तुत किया गया है। यहां एक जिज्ञासा उत्पन्न होती है कि शास्त्रों में किसी मन:पर्यायज्ञानी मुनिराज का मन:पर्यायज्ञान-प्रधान कोई कथानक भी है, ताकि उसके माध्यम से इस ज्ञान का वास्तविक स्वरूप को अवगत किया जा सके ? उत्तर में निवेदन है कि मन:पर्याय-ज्ञानी महापुरुषों के मन:पर्यायज्ञान-प्रधान कथानक शास्त्रों में एक नहीं, अनेकों उपलब्ध होते हैं। महामहिम अनगार श्री इन्द्रभूति गौतम जी महाराज मन:पर्याय-ज्ञानी थे। श्री राजप्रश्नीय सूत्र में मन:पर्याय-ज्ञानी मुनिराज श्री केशी श्रमण जी महाराज का भी बड़ा सुन्दर वर्णन उपलब्ध होता है। वहां लिखा है कि राजा प्रदेशी नास्तिक था, उस का सारथि चित्त उसे आस्तिक बनाना चाहता था, परिणामस्वरूप वह घोड़ों की परीक्षा के बहाने राजा प्रदेशी को श्री केशीश्रमण जी मुनिराज के चरणों में ले गया, जब राजा प्रदेशी बाग में पहुँचा और उसने केशीश्रमण के तेजोरूप-वैभव को देखा तथा उन के चरणों में उपस्थित अपनी नगरी के सैकड़ों व्यक्तियों को निहारा, तो उसने मुनिवर केशीश्रमण को लेकर कई एक अनादरपूर्ण बातें कहीं, और उन के व्यक्तित्व के प्रति ऊलजलूल भाषा में कटु आलोचना भी की। परन्तु राजा के निकट आने पर अपने मन:पर्याय-ज्ञान के बल से मुनिराज केशीश्रमण ने राजा को उनकी कही सब बातों का जब निर्देश किया तो वह आश्चर्य-चकित रह गया। वह सोचने लगा कि मेरी कही बातों का तथा मेरे मन में चल रही विचारणा का इस मुनि को कैसे पता चल गया ?, उसे ऐसा लगा कि यह सन्त कोई असाधारण सन्त है, इस के पास ज्ञान की अलौकिक शक्ति निवास कर रही दिखाई देती है। अन्त में, वह नतमस्तक हो गया तथा आत्मा को लेकर उसने उन से अनेकों प्रश्न किए। संक्षेप में कुछ एक प्रश्नों की तालिका इस प्रकार है—

क्या नरक नहीं है ?–

राजा प्रदेशी कहने लगा, मुनिवर ! मेरे दादा आप के विश्वा-

सानुसार पापी होने से नरक में गए हैं। मुझ से वे बड़ा प्रेम रखते थे, फलतः उन को मेरे पास आना चाहिए था, परन्तु आज तक वे मेरे पास नहीं आए। अतः मैं आत्मा अलग है, शरीर अलग है, ऐसा नहीं मानता। मेरे विचार में आत्मा नाम का कोई स्वतंत्र तत्त्व नहीं है। यदि आत्मा स्वतंत्र द्रव्य होता तो मेरे दादा मेरे पास ज़रूर आते। राजा प्रदेशी की यह बात सुनकर श्री केशीश्रमण जी फरमाने लगे कि कोई दुष्ट व्यक्ति यदि तुम्हारी सूर्यकान्ता रानी से अनाचार करता पकड़ा जाए तो जैसे उसे तुम किसी दूसरे व्यक्ति से मिलने या बात करने का अवसर नहीं देते, वैसे ही नरक के परमाधार्मिक देव या नरक के बन्धन नारकी जीव को निकलना चाहने पर भी निकलने नहीं देते। इसलिए राजन्! तुम्हारे दादा नरक से नहीं आ पाए।

जीव स्वर्ग से वापिस नहीं आता—

महाराज! मेरी दादी बड़ी धर्मात्मा थी, वह मर कर स्वर्ग में गई होगी, यदि उसकी आत्मा शरीर से पृथक् होती तो वह स्वर्ग से आकर मुझ से अवश्य मिलती, और मुझे पाप से निवारण करती परन्तु उसने कभी आकर मुझे न दर्शन दिए और नाँही समझाया। अतः मैं कैसे समझूँ कि आत्मतत्त्व एक स्वतंत्र और स्थायी तत्त्व है? उत्तर में श्री केशीश्रमण बोले कि नहा धोकर, वस्त्रविभूषित हो किसी पवित्र स्थान पर जा रहे आप को यदि कोई भंगी गन्दगी के टोकरे को हाथ का सहारा देकर उठवाने को कहे तो जैसे आप उसके पास जाना भी पसन्द नहीं करते, वैसे देवलोक के निवासी देवता मर्त्यलोक की दुर्गन्धि के कारण मर्त्यलोक में नहीं आने पाते। इसीलिए आपकी दादी नहीं आने पाई। दादी के न आने से स्वर्ग की सत्ता को झुठलाया नहीं जा सकता।

जीव का निष्क्रमण और प्रवेश—

एक अपराधी को मैंने एक सन्दूक में बन्द कर दिया, उसके बाहिर के सब छिद्र बन्द करवा दिए। कुछ दिनों के बाद जब सन्दूक को

खोला तो अपराधी मरा पाया, सन्दूक के बाहिर, चोर के जीव के निकलने का कोई चिन्ह नहीं था, यदि जीव कोई स्वतंत्र द्रव्य होता तो जिस मार्ग से जीव निकला था, वहां पर कोई न कोई चिन्ह तो अवश्य होना चाहिए था, इस चिन्ह के अभाव में जीव के अस्तित्व को कैसे स्वीकार किया जाए? इस के अतिरिक्त, एक चोर को मार कर एक सन्दूक में बन्द कर दिया, कोई छिद्र नही रहने दिया, कुछ दिनों के बाद उसे खोला तो उस मृत-शरीर में सैकड़ों कीड़े पैदा हो गए, तथापि सन्दूक के बाहिर के भाग में कोई छिद्र नहीं था। यदि जीव बाहिर से आते तो उन के प्रवेशमार्ग का कोई चिन्ह तो होना ही चाहिए था? राजा प्रदेशी की ये बातें सुनकर ज्ञान के सागर महामुनि श्री केशीश्रमण बोले—लोहे का गोला अग्नि में गिरा देने पर लाल सुर्ख हो जाता है, और जब अग्नि से बाहिर रखा जाए तो कुछ समय के बाद अपने वास्तविक स्वरूप में आ जाता है, अग्नि-प्रवेश होने पर और अग्नि के निकल जाने पर लोहे के गोले में जैसे छिद्र नहीं होने पाते वैसे ही आत्मा के प्रवेश और निष्क्रमण होने पर भी छिद्र नहीं हुआ करते।

जीव दिखाई नहीं देता—

जीव है या नहीं? इस बात का निर्णय करने के लिए मैंने एक चोर को सीधा चीर डाला, तथापि जीव कहीं दिखाई नहीं दिया, तदनन्तर उसके टुकड़े बनाए, फिर भी जीव कहीं नज़र नहीं आया, कैसे विश्वास किया जाए कि जीव कोई स्वतन्त्र तत्त्व है? राजा प्रदेशी की यह बात सुनकर श्री केशीश्रमण जी महाराज बोले कि एरण्ड की लकड़ी को रगड़ने से अग्नि उत्पन्न हो जाती है, परन्तु यदि कोई टुकड़े बना कर उस में अवस्थित अग्नि के दर्शन करना चाहे, जैसे उसे अग्नि दिखाई नहीं दे सकती, वैसे ही शरीर के टुकड़े बना कर आत्मदर्शन नहीं हो सकता*।

---

*श्री केशीश्रमण और राजा प्रदेशी के जीवसम्बन्धी सभी प्रश्नोत्तर "श्री जैनसिद्धान्तबोलसंग्रह" भाग द्वितीय में देख लेने चाहिएं।

५-केवलज्ञानावरणीय कर्म-

ज्ञान के पंचविध प्रकारों में पाँचवां प्रकार केवल-ज्ञान होता है। इन्द्रिय और मन की सहायता के बिना, त्रिकाल एवं त्रिलोक वर्ती समस्त पदार्थों को एक साथ हस्तामलक-वत् जानना केवल-ज्ञान कहलाता है। केवलज्ञान अन्य सभी ज्ञानों से विलक्षण, प्रधान, उत्तम और परिपूर्ण ज्ञान माना गया है, इसके सामने अन्य सब ज्ञान नगण्य हैं। केवलज्ञानी महापुरुष घट-घट के ज्ञाता होते हैं, संसार का छोटा बड़ा कोई भी पदार्थ उन के ज्ञान से ओझल नहीं रहने पाता। केवल-ज्ञान एक सागर है, जिस में मति, श्रुत, अवधि और मनःपर्याय ये सब ज्ञान समा जाते हैं। केवलज्ञान आत्मा की सबसे बड़ी ज्योति है, अनन्त सूर्य भी एकत्रित हो जाएं तब भी उन सब की ज्योति केवल-ज्ञान की ज्योति की समानता नहीं कर सकती। जैसे हज़ार पावर के बल्ब के सामने २५ या ६० या १०० वाल्ट के वल्ब कुछ मूल्य नहीं रखते, इसी तरह केवल-ज्ञान के सामने मति आदि ज्ञानों की ज्योति कोई महत्त्व नहीं रखती। जो शक्ति केवलज्ञान की ज्योति को आवृत कर लेती है, परदा बनकर उस पर छा जाती है, उसे केवलज्ञानावरणीय कर्म कहते हैं। यह ज्ञानावरणीय कर्म का पांचवाँ और अन्तिम भेद माना जाता है।

केवली भगवान के दस अनुत्तर—

दूसरी कोई वस्तु जिस से बढ़ कर न हो, अथवा जो सबसे बढ़ कर हो उसे अनुत्तर कहते हैं। केवली भगवान की दस बातें अनुत्तर होती हैं, जैसेकि १-**अनुत्तर ज्ञान**—ज्ञानावरणीय कर्म के सर्वथा क्षीण होने से केवलज्ञान का प्रादुर्भाव होता है। केवलज्ञान से बढ़कर अन्य कोई ज्ञान नहीं है। २-**अनुत्तर दर्शन**—दर्शनावरणीय अथवा दर्शनमोहनीय कर्म का आत्यन्तिक नाश हो जाने से केवलदर्शन उत्पन्न होता है। अत: केवली का दर्शन अनुत्तर है ३-**अनुत्तर चारित्र**—केवली का चारित्र अनुत्तर होता है। चारित्रमोहनीय कर्म के सर्वथा क्षय से इस

की उत्पत्ति होती है। **४-अनुत्तर तप**—केवली के शुक्लध्यानादि रूप अनुत्तर तप होता है। **५-अनुत्तर वीर्य**— वीर्यान्तरायकर्म के क्षय से अनन्त वीर्य पैदा होता है। अतः केवली का वीर्य अनुत्तर है। **६-अनुत्तर क्षान्ति**-केवली की क्षान्ति [क्रोध का सर्वथा अभाव] अनुत्तर होती है। **७-अनुत्तर मुक्ति**--केवली की मुक्ति-लोभ से सर्वथा उन्मुक्ति, अनुत्तर होती है। **८-अनुत्तर आर्जव**—केवली की सरलता अनुत्तर होती है। **९-अनुत्तर मार्दव**—केवली की मृदुता, और निरभिमानता अनुत्तर होती है। और **१०-अनुत्तर लाघव**-(हलकापन)-केवली भगवान का लाघव अनुत्तर माना जाता है, क्योंकि ज्ञानावरणीय आदि घाती कर्मों का क्षय हो जाने के कारण इन के ऊपर जन्म-मरणरूप संसार का बोझ नहीं रहता।

केवलज्ञान एक लब्धि है—

शुभ अध्यवसाय तथा उत्कृष्ट तप,संयम के आचरण से तत्तत्कर्म का क्षय और क्षयोपशम हो कर आत्मा में जो विशेष शक्ति उत्पन्न होती है उसे लब्धि कहते हैं। ये लब्धियाँ २८ होती हैं। जैसेकि-**१-आमर्शौषधि-लब्धि**—वह लब्धि जिस के प्रभाव से हाथ, पैर आदि अवयवों के स्पर्शमात्र से ही रोगी स्वस्थ हो जाता है। **२-विप्रुडौषधिलब्धि**—विप्रुड् मलमूत्र का नाम है। वह लब्धि जिसके कारण योगी के मल-मूत्र में सुगन्ध आने लगती है, और जो व्याधि का शमन करने के लिए औषधि का काम देता है। उसे विप्रुडौषधि लब्धि कहते हैं **३-खेलौषधि-लब्धि**—खेल कफ का नाम है, वह लब्धि जिससे कफ से सुगन्धि आती है, और रोग शांत हो जाते हैं, उसे खेलौषधि-लब्धि कहते हैं। **४-जल्लौषधि-लब्धि**—कान, मुख आदि का मल जल्ल कहलाता है, वह लब्धि, जिस से जल्ल में सुगन्धि आती है, रोगोपशान्ति होती है, उसे जल्लौषधि लब्धि कहा जाता है। **५-सर्वौषधि-लब्धि**—यह वह लब्धि है, जिस के प्रभाव से मल-मूत्र से, नख और केश आदि शारीरिक अवयवों से सुगन्धि आने लगती है, इन के केवल स्पर्श से रोगोपशमन होता है। ६-

संभिन्न-श्रोतो-लब्धि--इस लब्धि के प्रभाव से शरीर के प्रत्येक भाग द्वारा सुना जा सकता है, या एक इन्द्रिय अन्य सभी इन्द्रियों के विषयों को ग्रहण कर लेती है। अथवा जिस लब्धि के प्रभाव से लब्धिधारी बारह योजन में फैली हुई चक्रवर्ती के सेना में एक साथ बजने वाले शंख, भेरी आदि वाद्यविशेषों के शब्द पृथक्-पृथक् सुनता है। **७-अवधि-लब्धि**-अवधि-ज्ञान रूपलब्धि **८-ऋजुमति लब्धि**-ऋजुमति-ज्ञान रूप लब्धि, **९-विपुलमति लब्धि**-विपुलमति-ज्ञानरूप लब्धि। ऋजुमतिमनःपर्याय ज्ञान वाला व्यक्ति अढाई द्वीप से कुछ कम (अढाई अंगुल कम) क्षेत्र में रहे हुए संज्ञी जीवों के मनोगत भावों को सामान्य रूप से जानता है, जिस लब्धि के प्रभाव से ऐसे ज्ञान की उपलब्धि हो, वह ऋजुमति-लब्धि है। विपुलमति मनःपर्यायज्ञान वाला अढाई द्वीप में रहे हुए संज्ञी जीवों मनोभावों को विशेषरूप से स्पष्टतापूर्वक जानता है, जिस लब्धि के प्रभाव से ऐसे ज्ञान की प्राप्ति होती है, वह विपुलमति-लब्धि होती है। **१०-चारण लब्धि**---जिस लब्धि से आकाश में आने-जाने की विशिष्ट शक्ति प्राप्त होती है, वह चारण लब्धि है। जंघाचरण और विद्या-चरण के भेद से यह लब्धि दो प्रकार की होती है। जंघाचरण लब्धि विशिष्ट चारित्र और तप के प्रभाव से प्राप्त होती है और विद्याचरण लब्धि विद्या के द्वारा मिलती है। जंघाचरण लब्धि वाला व्यक्ति रुच-कवर द्वीप तक जा सकता है, यह एक ही उडान में वहां पहुँच जाता है, किन्तु आते समय दो उत्पात करके आता है, पहली उड़ान में नन्दीश्वर द्वीप में और दूसरी से अपने स्थान पर पहुँच जाता है, इसी प्रकार वह ऊपर भी जा सकता है। एक ही उड़ान में वह सुमेरु पर्वत के शिखर पर रहे हुए पाण्डुक वन में पहुंच जाता है और लौटते समय दो उड़ान करता है, पहली से वह नन्दन वन में आता है, और दूसरी से नन्दन वन से अपने स्थान पर आ जाता है। विद्याचरण लब्धि वाला नन्दीश्वर द्वीप तक उड़कर जा सकता है। जाते समय पहली उड़ान में मानुषोत्तर पर्वत पर पहुंचता है और दूसरी उड़ान में नन्दीश्वर द्वीप

पर चला जाता है। लौटते समय एक ही उडान में वह अपने स्थान में आ जाता है। इसी प्रकार ऊपर जाते समय वह अपनी पहली उडान में नन्दन वन में पहुंचता है और दूसरी से पाण्डुक वन में। आते समय एक ही उड़ान में अपने स्थान पर आ जाता है।

११-**आशीविष-लब्धि**-जिनकी दाढ़ों में महान् विष होता है, वे आशीविष कहलाते हैं। इनके-कर्म-आशीविष और जाति-आशीविष, ये दो भेद होते हैं। तप एवं अन्य गुणों के कारण जो शापादि से किसी को मार सकते हैं वे कर्मआशीविष होते हैं। उन की यह शक्ति आशीविष-लब्धि कही जाती है, यह लब्धि तिर्यञ्च और मनुष्यों में होती है। आठवें देवलोक तक के देवों में भी अपर्याप्त अवस्था में यह लब्धि पाई जाती है। जिन मनुष्यों को यह लब्धि प्राप्त है, वे जब मर कर देवलोक में उत्पन्न होते हैं तो उन में अपर्याप्त अवस्था तक पूर्वभव की यह लब्धि वनी रहती है। पर्याप्त दशा आने पर यह लब्धि समाप्त हो जाती है। जाति-आशीविष के-बिच्छू, मेंढक, सांप और मनुष्य ये चार भेद हैं, यह उत्तरोत्तर अधिकाधिक विष वाले होते हैं। १२-**केवलीलब्धि**—ज्ञानावरणीय, दर्शनावरणीय, मोहनीय, और अन्तराय इन चार घाती कर्मों का क्षय होने से केवल-ज्ञान-रूप लब्धि प्रकट होती है। इसके प्रभाव से जीव त्रिलोक एवं त्रिकाल वर्ती समस्त पदार्थों को हस्तामलकवत् जान और देख सकता है। आदि २८ लब्धियाँ *होती है, इन लब्धियों में केवल-ज्ञान भी एक लब्धि मानी जाती है। भाव यह है कि केवल-ज्ञान उत्कृष्ट साधना की आराधना से ही उपलब्ध होता है, और आत्मिक जीवन की समुच्चता का यह एक समुज्ज्वल प्रतीक माना गया है।

केवल-ज्ञानी का समुद्घात—

वेदना आदि के साथ एकाकार हुए आत्मा का कालान्तर में उदय आने वाले वेदनीय आदि कर्म-परमाणुओं को उदीरणा के द्वारा उदय

---

* अवशिष्ट लब्धियों का स्वरूप जानने के इच्छुक व्यक्तियों को श्री-जैन-सिद्धान्त-बोलसंग्रह का छठा भाग देखना चाहिए।

में लाकर उनकी प्रबलता-पूर्वक निर्जरा करना समुद्घात कहलाता है। ये सात होते हैं, इनमें सातवाँ केवलिसमुद्घात है। अन्तर्मुहूर्त्त में मोक्ष प्राप्त करने वाले केवली भगवान के समुद्घात को केवलिसमुद्घात कहते हैं। यह समुद्घात वेदनीय, नाम और गोत्र कर्म को अपना विषय बनाता है। जब केवल-ज्ञानी की आयु स्वल्प होती है, और वेदनीय आदि कर्मों का भोग-समय अधिक होता है, तब अन्तर्मुहूर्त्त में मोक्ष प्राप्त करने वाला वह केवली कर्मों को सम करने के लिए अर्थात् वेदनीय आदि कर्मों की स्थिति को आयुष्कर्म की स्थिति के बराबर करने के लिए समुद्घात करता है। इस केवलि-समुद्घात मेंआठ समय लगते हैं। प्रथम समय में केवली अपने आत्म-प्रदेशों की एक दण्ड के रूप में रचना करता हैं, वह मोटाई में शरीर-प्रमाण और लम्बाई में ऊपर और नीचे से लोकान्त पर्यन्त विस्तृत करता है। दूसरे समय में, केवली उसी दण्ड को पूर्व और पश्चिम, उत्तर और दक्षिण में फैलाता है, फिर उस दण्ड का लोकपर्यन्त फैला हुआ एक कपाट बनता है। तीसरे समय में दक्षिण और उत्तर अथवा पूर्व और पश्चिम दिशा में लोकान्तपर्यन्त आत्मप्रदेशों को फैलाकर उसी कपाट को मथानी रूप में ले आता है, ऐसा करने से लोक का अधिकांश भाग केवली के आत्मप्रदेशों से व्याप्त हो जाता है, किन्तु मथानी की तरह अन्तराल प्रदेश खाली रहते हैं। चौथे समय में मथानी के अन्तराल प्रदेशों को पूर्ण करता हुआ लोकाकाश को आत्मप्रदेशों से व्याप्त कर डालता है, लोकाकाश और आत्मा के प्रदेश बराबर होते हैं, फलतः आत्मप्रदेशों के फैलाव से सारा लोकाकाश पूर्ण हो जाता है। पांचवें, छठे सातवें और आठवें समय में विपरीत क्रम से केवली भगवान अपने आत्मप्रदेशों का संकोच करता है। इस प्रकार आठवें समय में सब आत्मप्रदेश शरीरस्थ हो जाते हैं। यही केवलिसमुद्घात* का स्वरूप होता है। इससे वेदनीय आदि कर्मों का

---

* समस्त समुद्घातों के अवबोध के लिए श्री जैन-सिद्धान्त-बोल-संग्रह देखना चाहिए।

भोग-समय आयुष्कर्म के भोग-समय के तुल्य बन जाता है। वेदनीय आदि कर्मों के भोग-समय को आयुष्कर्म के भोग-समय के समान बनाने की क्षमता केवल केवली भगवान में ही पाई जाती है।

चार ज्ञानों की भजना—

तत्त्वार्थ सूत्र के अध्याय पहले के **एकादीनि भाज्यानि युगपदेकस्मिन्ना चतुर्भ्यः**—इस ३१वें सूत्र की व्याख्या करते हुए पण्डित श्री सुखलाल जी लिखते हैं कि एक आत्मा में एक साथ एक से लेकर चार तक ज्ञान भजना-अनियतरूप से पाए जाते हैं। किसी आत्मा में एक साथ एक, किसी में दो, किसी में तीन और किसी में चार ज्ञान तक का संभव है, पर पांचों ज्ञान एक साथ किसी में नहीं होते। जब एक होता है तब केवल-ज्ञान समझना चाहिये, क्योंकि केवल-ज्ञान परिपूर्ण ज्ञान होता है, उस के समय अन्य किसी अपूर्ण ज्ञान का संभव ही नहीं है। जब दो होते हैं तब मति और श्रुत, क्योंकि पांच ज्ञान में से नियत सहचारी ये दो ज्ञान ही हैं। शेष तीनों ज्ञान एक दूसरे को छोड़कर भी रह सकते हैं। जब तीन ज्ञान होते हैं, तब मति, श्रुत और अवधि ज्ञान, या मति, श्रुत और मनःपर्यायज्ञान, क्योंकि तीन ज्ञान का संभव अपूर्ण अवस्था में ही होता है और उस समय चाहे अवधिज्ञान हो, चाहे मनःपर्यायज्ञान, पर मति और श्रुत ये दोनों अवश्य होते हैं। जब चार ज्ञान होते हैं तब मति, श्रुत, अवधि और मनःपर्यायज्ञान, क्योंकि यही चारों ज्ञान अपूर्ण अवस्था-भावी होने से एक साथ हो सकते हैं। केवलज्ञान का अन्य किसी ज्ञान के साथ साहचर्य इसलिए नहीं है कि वह पूर्ण अवस्था भावी है और शेष सभी अपूर्ण अवस्थाभावी। पूर्णता और अपूर्णता का आपस में विरोध होने से दो अवस्थाएँ एक साथ आत्मा में नहीं होतीं। दो, तीन या चार ज्ञानों का एक साथ जो संभव कहा गया, सो शक्ति की अपेक्षा से, प्रवृत्ति की अपेक्षा से नहीं। सारांश यह है कि एक आत्मा में एक साथ अधिक से अधिक चार ज्ञान शक्तियां हों, तब भी एक समय में कोई एक ही शक्ति अपना

जानने का काम करती है, अन्य शक्तियां उस समय निष्क्रिय रहती हैं ।

कोई आचार्य कहते हैं कि केवलज्ञान के समय भी मति आदि चारों ज्ञान शक्तियाँ होती हैं, पर वे सूर्यप्रकाश के समय ग्रह, नक्षत्र आदि के प्रकाश की तरह केवलज्ञान की प्रवृत्ति से अभिभूत हो जाने के कारण अपना-अपना ज्ञान रूप कार्य कर नहीं सकतीं, इसी से शक्तियां होने पर भी केवलज्ञान के समय मति आदि ज्ञानपर्याय नहीं होते। दूसरे आचार्यों का कथन है कि मति आदि चार ज्ञान-शक्तियां आत्मा में स्वाभाविक नहीं हैं, किन्तु कर्म-क्षयोपशमरूप होने से औपाधिक अर्थात् कर्म-सापेक्ष हैं, इसलिए ज्ञानावरणीय कर्म का सर्वथा अभाव हो जाने पर-जबकि केवलज्ञान प्रकट होता है—उन औपाधिक शक्तियों का संभव ही नहीं है । इसलिए केवलज्ञान के समय कैवल्यशक्ति के सिवाय न तो अन्य कोई ज्ञान शक्तियां ही हैं और न उन का मति आदि ज्ञानपर्यायरूप कार्य ही है ।

ज्ञानावरणीय कर्म की बन्ध-सामग्री—

ज्ञानावरणीय कर्म क्या है ? ज्ञानावरणीय कर्म किसे कहते हैं ? इस प्रश्न को लेकर बहुत कुछ कहा जा सकता है, परन्तु यदि संक्षेप में कहें तो ज्ञानावरणीय कर्म का अर्थ है—वह कर्म जो आत्मा के मतिज्ञान, श्रुतज्ञान, अवधिज्ञान, मन:पर्यायज्ञान और केवलज्ञान को आच्छादित कर लेता है, परदा बन कर ज्ञान-शक्ति पर छा जाता है । अब यहां एक प्रश्न उपस्थित होता है कि ज्ञानावरणीयकर्म कैसे बाँधा जाता है ? कौन-कौन सी ऐसी कारण-सामग्री है, जिस के द्वारा इस कर्म की उत्पत्ति और सम्पुष्टि होती है । मूल के बिना जैसे वृक्ष नहीं होता, मूल के अभाव में जैसे ब्याज नहीं मिलता और माता के बिना जैसे बालक का जन्म नहीं होने पाता, ठीक इसी भाँति बिना किसी कारण-सामग्री के ज्ञानावरणीय कर्म का बन्ध भी नहीं हो पाता। ज्ञानावरणीय कर्म कैसे बन्धता है ? यही प्रश्न अढाई हजार

वर्ष पहले जैनधर्म के चौबीसवें तीर्थंकर मङ्गलमूर्ति भगवान महावीर के सामने इन के प्रधान शिष्य श्री इन्द्रभूति गौतम जी महाराज ने रखा था, श्री गौतम जी महाराज के इस प्रश्न का समाधान करते हुए भगवान महावीर ने ज्ञानावरणीय कर्म के ६ बन्धन-कारण फरमाए थे, इनकी नाम-निर्देशपूर्वक अर्थ-विचारणा इस प्रकार है—

१-ज्ञान का अपमान—

ज्ञान या विद्या की आशातना-अपमान करना, उस में दोष निकालना, उस की महत्ता के प्रति विद्रोह करना ज्ञानावरणीय कर्म के बान्धने का पहला कारण है। इस जगती में ऐसे लोग भी देखने में आते हैं जिन की यह आस्था और निष्ठा बन गई है कि पढ़े लिखे व्यक्ति ही झगड़ों के मूल हैं, यही वैरविरोध पैदा करते हैं, जहां विद्या है, वहां झगड़े होते हैं, जहां विद्या का प्रकाश नहीं होता वहाँ झञ्झट भी कोई नहीं होता, न किसी प्रकार का कोई वाद-विवाद होता है। "**एक ने कही, दूसरे ने मानी**" इस तरह सभी ज्ञानी बन कर बड़ी मस्ती के साथ अपनी जीवनी का निर्वाह करते हैं। वे लोग कहते हैं कि व्यवहार भी इस बात का गवाह है कि पहले ज़माने में न अधिक विद्या थी और नाँही विद्या-प्राप्ति के अधिक साधन थे तथापि लोग बड़े सुखी थे, आपसी प्रेम और स्नेह पूर्ण यौवन पर दिखाई देता था। झगड़ा, आपसी वैर-विरोध आदि बुराइयां बहुत कम थीं, उस समय न इतने वकील थे, न इतनी अदालतें होती थीं, आज तालीम का युग है, विद्या का सर्वत्र प्रचार एवं प्रसार हो रहा है, नगरों की बात जाने दें, छोटे-छोटे गांवों में भी स्कूल खुल रहे हैं, परन्तु ज्यों-ज्यों विद्या और शिक्षा सर उठा रही है, त्यों-त्यों विपत्तियां और कठिनाइयां बढ़ती चली जा रही हैं। विद्या के प्रति विद्रोह की यह भावना केवल सांसारिक लोगों में ही नहीं पाई जाती किन्तु जिन्होंने दुनिया के मोह-माया के बन्धनों को तोड़ने का मार्ग अपना लिया है, जो साधु-सन्त हैं, उन में भी दृष्टिगोचर होती है। इस

सम्बन्ध में हमारे परमाराध्य, जैन-धर्मदिवाकर, आचार्य-सम्राट् बन्दनीय पूज्यपाद परम श्रद्धेय गुरुदेव पूज्य श्री आत्माराम जी महाराज अपने जीवन का एक प्रसंग सुनाया करते थे, वे फरमाया करते थे कि एक बार हम एक साधु-आश्रम चले गए, वहां एक साधु से वार्तालाप हुआ, हमने उस साधु से पूछा-सन्त जी ! आप का अध्ययन कितना है ? संस्कृत और प्राकृत भाषा सम्बन्धी आपने कितना साहित्य पढा है ? विद्या के क्षेत्र में आप ने कितनी प्रगति की है ? विद्या और अध्ययन का नाम सुनना था कि सन्त जी तत्काल बौखला उठे और आवेश-पूर्ण स्वर में वे फरमाने लगे—महाराज ! विद्या को तो हम इस आश्रम के निकट भी नहीं आने देते, क्योंकि विद्या बड़ी खराब वस्तु है, इस ने समाज को बहुत बड़ा नुकसान पहुंचाया है। एक बार हमारे आश्रम में एक पढ़े-लिखे सन्त आ गए थे, उन्होंने हमारा नाक में दम कर दिया था, कभी कहते परमात्मा ऐसा है, इसका यह स्वरूप है, जड़ और चेतना में यह अन्तर है, कभी कहते-नरक और स्वर्ग इन साधनों से मिलता है। कभी कहते—यह कार्य ऐसे करना चाहिये, यह कार्य ऐसे नहीं करना चाहिए, मनुष्यता की पगडण्डियां ऐसे पार की जाती हैं, पशुता जीवन को दुर्गतियों का अतिथि बना डालती है, अधिक क्या, उनका सारा दिन ही लच्छेदार भाषण करने में ही व्यतीत होता था, उन की इस भाषण-पटुता से हम लोग दुःखी हो गए और अन्त में हम ने उन को इस आश्रम से बाहिर निकाल के ही सांस लिया। जिस दिन से वे हमारे आश्रम से गए हैं, उस दिन से हमारे आश्रम में बड़ी शान्ति है, कोई चर्चा नहीं, कोई वाद-विवाद नहीं, कोई आत्मा, परमात्मा का झञ्झट नहीं, नरक और स्वर्ग की कोई समस्या नहीं, सर्वत्र शान्ति का ही साम्राज्य है। सन्त जी अपनी बात को चालू रखते हुए पुनः फरमाने लगे कि महाराज ! विद्या जैसी हानिप्रद कोई वस्तु नहीं है, जितने धर्मों के वाद-विवाद हैं, झगड़े हैं, साम्प्रदायिकता का विष है, यह सब विद्या के ही कारण है, कहीं भाषा को लेकर मुठभेड़ हो

रही है, कहीं जातिवाद का धुंआ उठ रहा है, कहीं वर्णवाद की ज्वालाएं धांय-धांय कर रही हैं, इन की जननी-मां विद्या है, इन के पीछे विद्या ही बैठी है, इसी के प्रभाव से यह वितण्डावाद है। श्रद्धा के केन्द्र आचार्य-प्रवर, परम श्रद्धेय पूज्य श्री आत्माराम जी महाराज सन्तजी की यह बात सुन कर आश्चर्य-चकित रह गए। अन्त में, इन्होंने सन्त जी का मार्ग-दर्शन करते हुए फरमाया कि सन्त जी! आप सन्त हैं, विद्या तो सन्त-जीवन का शृंगार होता है, विद्या के अभाव में सन्त-जीवन का क्या मूल्य रहता है? दूसरी बात, यदि आप गंभीरता और दूरदर्शिता से विचार करेंगे तो आप को यह स्वीकार करना पड़ेगा कि विद्या एक ज्योति है, अज्ञानान्धकार का परिहार करने वाला एक जाज्वल्यमान पवित्र दीपक है। विद्या की ज्योति के सामने संसार की समस्त ज्योतियाँ नगण्य हैं। विद्या की ज्योति से ज्योतित व्यक्ति जहां स्वयं अपने भविष्य को समुज्ज्वल बना लेता है, वहां वह दूसरों के अन्तर्जगत को भी ज्योतित बना डालता है। विद्या के प्रकाश में क्लेश और आपसी वैरविरोध के अन्धकार की अवस्थिति कहां? विद्या की विभूति से मालामाल होने पर भी जो लोग आपस में लड़ते हैं, एक दूसरे को नीचा दिखाने का प्रयास करते हैं, परिवार, समाज और देश के भविष्य को द्वेष और ईर्ष्या की अग्नि दिखाकर उसको सर्वनाश की ओर धकेल देते हैं, यह दोष विद्या का नहीं है किन्तु उन लोगों की अपनी दुष्टता, नीचता, विवेकविकलता, अदूरदर्शिता तथा मूर्खता का है। आंखें होने पर भी यदि कोई व्यक्ति गढहे में गिरने की भूल करे तो ऐसी दशा में आखों को दोषी कैसे ठहराया जा सकता है?, यह दोष तो उस व्यक्ति का है, जो अपनी बुद्धि का सही प्रयोग नहीं करता। आंखों का कार्य केवल मार्ग दिखलाना है, सही या गलत मार्ग पर चलना, यह आखों वाले व्यक्ति का अपना काम है, बिल्कुल यही स्थिति भगवती विद्या की है। विद्या किसी को, किसी से लड़ना या वादविवाद करना नहीं

सिखलाती, उस का कार्य केवल ज्ञान का प्रकाश करना है, उस से लाभान्वित होना या न होना यह विद्या वाले व्यक्ति पर निर्भर है। पूज्य आचार्यदेव अपनी बात को चालू रखते हुए पुनः फरमाने लगे— सन्त जी। जैसे नयनों के अभाव में मनुष्य अन्ध होता है, ठीक वैसे ही विद्या की आंख के अभाव में भी मनुष्य अन्ध समझना ही चाहिए।

मैं कह रहा था कि संसार में ऐसे लोग भी उपलब्ध होते हैं जो विद्या या ज्ञान की आशातना करते हैं, उसके प्रति विद्रोह की भावना रखते हैं, उसे बुरा बतला कर उस से दूर रहना पसन्द करते हैं और जहां कहीं भी विद्या का प्रचार एवं प्रसार हो रहा हो, अविद्या का परिहार करने के लिए पाठशाला आदि खोलने का आयोजन चल रहा हो तो ये लोग उस का विरोध करते नहीं थकते, विद्या का विरोध करने, उसकी उपयोगिता तथा कल्याणकारिता को झुठलाने में ही अपनी शान समझते हैं। जैन-दर्शन कहता है कि विद्या भगवती का अपमान करने वाले, उस के प्रति जन-मन में दूषित भावना पैदा करने के लिए विद्रोह का ध्वज लहराने वाले लोग ज्ञानावरणीय कर्म का बन्ध करते हैं, ऐसे लोगों के जीवन में ऐसा समय आता है कि भविष्य में वे विद्या की सम्पदा से बिल्कुल खाली ही रह जाते हैं।

२—ज्ञानवान का अपमान करना—

आमतौर पर देखा जाता है कि जब किसी मनुष्य के पास चार पैसे हो जाते हैं, वह निर्धनता के पङ्क से निकल कर धनी का समुच्च आसन प्राप्त कर लेता है तो उस को कुछ नशा सा आने लगता है, अभिमान से उसकी गरदन अकड़ जाती है, अहंभाव के नशे में आकर कई बार तो वह सभ्यता और शिष्टता से भी हाथ धो बैठता है, अपने भाइयों को भी तुच्छ मान कर उन्हें उपेक्षा या घृणा की दृष्टि से देखता है, दूसरे लोग उसे मक्खी और मच्छर दिखाई देते हैं, उसके पांव भूमि पर नहीं टिकते, जो मन में आता है, वह दूसरे को कह डालता है, दूसरों को तुच्छ एवं नगण्य समझने में अपना गौरव

मानता है, किसी की बहू, बेटी के सम्मान का भी उसे कोई ध्यान नहीं रहता, जहां कहीं उसे सौन्दर्य या कोई आकर्षण दिखाई देता है, उसे हथियाना अपना जन्मसिद्ध अधिकार मानता है। जैसे चान्दी और सोने के सिक्कों का अभिमान मनुष्य के मस्तिष्क को दूषित कर देता है, वह अपने को महान और दूसरों को तुच्छ समझने लग जाता है, वैसे ही इस जगती में ऐसे व्यक्ति भी हैं जो विद्या की सम्पत्ति को प्राप्त करके अभिमान के घोड़े पर सवार हो जाते हैं, उन के दिमाग पर यह भूत सवार हो जाता है कि हमारे पास जितना ज्ञान है उतना किसी दूसरे के पास नहीं है, कोई ज्ञानवान व्यक्ति यदि उनके सन्मुख आ जाता है तो उसे देखकर वे जलते हैं, सड़ते हैं, कुढ़ते हैं। अधिक क्या, सारा दिन अपनी समुच्चता का ही ढिण्ढोरा पीटते रहते हैं और अन्य विद्वानों का तिरस्कार करके उन्हें अपमानित करने का प्रयास करते हैं। किसी पढ़े-लिखे की प्रशंसा उन्हें अच्छी नहीं लगती, जैसे एक कुत्ते को देखकर दूसरे कुत्ते की दशा होती है, वैसे ही अवस्था किसी विद्वान को देखकर इन लोगों की भी हो जाती है। विश्ववन्द्य भगवान महावीर फरमाते हैं कि ज्ञानवान का सम्मान होना चाहिए, उस का अपमान नहीं करना चाहिए, उसे देखकर जलना, सड़ना और कुढ़ना बहुत बुरी बात है, प्रत्युत विद्वान को देख कर हृदय में आनन्द का अनुभव करना चाहिये, उसे आदरास्पद मान कर उस के व्यक्तित्व को सम्मानित करना चाहिये क्योंकि यदि विद्वान भी विद्वान को देखकर आपस में लड़ेंगे, इर्ष्या और द्वेष की अग्नि में जलेंगे तो फिर उनकी विद्या का क्या लाभ एवं महत्त्व हो सकता है? वस्तुत: गुणवान मनुष्य को देखकर प्रसन्न होना, उसका सत्कार करना, उस से स्नेहपूर्वक मिलना मनुष्य का सर्व-प्रधान कर्त्तव्य बनता है। भगवान महावीर के इसी विचार को कविता की भाषा में कवि महोदय ने कितनी सुन्दरता से प्रस्तुत किया है—

जब मिलो, जिस से मिलो, दिल खोल कर दिल से मिलो,
इस से बढ़ कर और कोई खूबी इन्सां में नहीं।

जैन-दर्शन के मन्तव्यानुसार, जो लोग विद्वानों से घृणा करते हैं, ईर्ष्या और द्वेष रखते हैं, इन का अनिष्ट सोचते हैं, उन को हानि पहुंचाने का प्रयास करते हैं, उन की आजीविका को समाप्त कर डालते हैं, उन के विकास में दीवार बन कर खड़े हो जाते हैं, उन के ह्रास के ही स्वप्न देखते रहते हैं। इस तरह विद्याजगत के रमणीक उपवन में सानन्द विहरण करने वाले विद्याजीवी मनुष्यों के साथ जो लोग द्वेष रखते हैं, वे ज्ञानावरणीय कर्म को बान्धते हैं, ज्ञानावरणीय कर्म के कृष्णतम मेघ उन के आत्म-सूर्य को आच्छादित कर लेते हैं। ऐसे लोग अनागतकालीन जीवन में विद्या या ज्ञान के प्रकाश से वञ्चित रह जाते हैं, जिस विद्या का अभिमान करके पहले उन्होंने दूसरे विद्वानों को नुक्सान पहुंचाने में ही सारी जीवन-शक्ति लगा डाली थी, समय आने पर वे लोग विद्या से ही हाथ धो बैठते हैं।

३–ज्ञान को छुपाना–

विद्या-क्षेत्र में जिस समय हम पहुंचते हैं, गंभीरता और दूरदर्शिता से विद्या-क्षेत्र का अध्ययन करते हैं, तो हमें कई बातें देखने को मिलती हैं। विद्या-क्षेत्र में ऐसे विद्वान भी मिलते हैं, जिन के दिमागों में इतनी अधिक संकीर्णता होती हैं कि उन के सामने जब उन के प्रतिद्वन्द्वी का कोई बालक आता है, और वह उन से कोई प्रश्न पूछता है, तो वे—यह बालक मेरे शत्रु का है, पढ़ लिख कर और अच्छे अंक लेकर सफल हो जाएगा, तथा अपने भविष्य को समुज्ज्वल बना लेवेगा—यह सोचकर उस बालक को तत्काल कह देते है कि बेटा! इस समय हमें ध्यान नहीं है, यह कहकर प्रश्न का समाधान करने से इन्कार कर देते हैं। वास्तव में उन्हें प्रश्न का समाधान करना आता है, सैंकड़ों बार उन्होंने उस प्रश्न का पहले समाधान कर भी रखा है, परन्तु प्रतिद्वन्द्वी का बालक कहीं पढ लिख कर होश्यार न हो जाए, इस दृष्टि से वे अपने ज्ञान को छुपा लेते हैं।

जीवन-शास्त्र का परिशीलन करने से पता चलता है कि कभी-

कभी तो मनुष्य के जीवन में इतनी अधिक संकीर्णता या दुर्बलता देखने में आती है, कि देखने वाले आश्चर्य-चकित रह जाते हैं, वह सब कुछ जानता हुआ भी अनजाना बन जाता है। जब कोई व्यक्ति उससे शास्त्र का कोई स्थान या प्रसंग पूछता है तो उस समय वह बतलाने से इन्कार कर देता है, वह जानता है कि यदि मैंने शास्त्र का यह भेद इस समय अभिव्यक्त कर दिया तो भरी सभा में मुझे जो साधुवाद या धन्यवाद मिलना है, वाह-वाह या शाबाश का अभिनन्दन-पत्र सम्प्राप्त होना है वह उपलब्ध नहीं हो सकेगा। अपनी प्रतिष्ठा के व्यामोह में तथा दूसरे व्यक्ति को प्रतिष्ठा की सम्प्राप्ति न हो, इस विचारणा से संकीर्ण व्यक्ति जानता हुआ भी अपनी ज्ञान-सम्पदा को छुपा लेता है, और यह स्पष्ट कह डालता है कि मुझे इस बात का कोई बोध नहीं है। किसी को कोई बात न बताना और बात है, परन्तु जानते हुए भी यह कहना कि मुझे इस बात का पता ही नहीं है, बहुत बुरी बात है। आंखों वाला मनुष्य अपने को यदि अन्धा कहे तो इस से बढ़कर उसका और क्या दुर्भाग्य हो सकता है? जैन-दर्शन की आस्था है कि जो व्यक्ति अपने ज्ञान या अपनी विद्या को छुपाता है, उस का गोपन करता है, ज्ञाता होने पर भी अपने को अज्ञाता बतलाता है, वह ज्ञानावरणीय कर्म का बन्ध कर लेता है।

शिक्षण-संस्थाओं के क्षेत्र में जब हम पहुंचते हैं, और गंभीरता से उन का निरीक्षण करते हैं तो बच्चों में आमतौर पर यह आदत देखने को मिलती है कि जो लड़का जिस विषय में होशियार होता है, उस का मित्र यदि उस से तद्‌विषयक कोई बात पूछता है तो वह उसे सहर्ष समझाता है, सब कुछ बतला देता है, परन्तु जब दूसरा लड़का जिससे उस का कोई सम्बन्ध नहीं, पूछता है तो वह तत्काल उस का घड़ा-घड़ाया उत्तर दे डालता है कि इस के सम्बन्ध में मैं कुछ नहीं जानता। यह सत्य है कि वह प्रश्न का समाधान जानता है तथापि बतलानेसे इंकार कर देता है। जैन-दर्शन कहता है कि ज्ञान को छुपाने की

भूल कभी मत करो, खुले हाथों से ज्ञान का दान दो, दिल खोल कर विद्या का प्रसार करो, ज्ञान के आलोक से प्रत्येक व्यक्ति के मानस को आलोकित करो, यदि कोई तुम्हारे द्वार पर विद्या की सम्पत्ति मांगने आता है तो प्रसन्नता के साथ उस की झोली भर दो, उसे कभी भी निराश न होने दो। जिस बात का तुम्हें ज्ञान है, उसे मत छुपाओ, यदि ज्ञान को छुपाने का प्रयास करोगे तो ज्ञानावरणीय कर्म का बन्ध हो जाएगा और अनागतकालीन जीवन में तुम ज्ञान के आभूषणों से अपने को आभूषित नहीं कर सकोगे।

गुरुदेव के नाम को छुपाना—

गुरु-पद की व्याख्या करते हुए संस्कृत के एक आचार्य लिखते हैं—

गुशब्दस्त्वन्धकारः, रुशब्दस्तन्निरोधकः,
अन्धकारनिरोधित्वाद्, गुरुरित्यभिधीयते।

—गुरु पद के गु का अर्थ है—अन्धकार, और रुशब्द "अन्धकार का विनाशक" इस अर्थ का परिचायक है, जो महापुरुष हृदय की गुफा के अज्ञानांधकार को दूर करके उसे ज्ञान के आलोक से आलोकित करता है, उसे गुरु कहते हैं।

जो डाक्टर आँख का आपरेशन करके, उसे प्रकाशमान बनाता है, आंख को रोशनी प्रदान करता है, विचारक, विवेकशील मनुष्य जीवन भर उस डाक्टर का उपकार नहीं भूलता, परन्तु जो गुरु मनुष्य के अन्तर्नेत्रों-ज्ञाननेत्रों को खोलता है, उनके ऊपर आए अज्ञान के मोतियाबिन्द का आपरेशन करके उन्हें ज्योति प्रदान करता है, उसका उपकार कितना महान है? यह स्वतः समझा जा सकता है। अतएव अध्यात्म-जगत में गुरुदेव का स्थान बड़ा महत्त्वपूर्ण माना गया है, भगवान के स्वरूप का, उसकी उपलब्धि का बोध भी मनुष्य को गुरुदेव की कृपा से ही हो पाता है। गुरु महाराज न होते तो भगवान का किसी को बोध नहीं हो सकता था, इसीलिए भगवान को मिलने

से पहले साधक व्यक्ति को गुरुमहाराज के द्वार खटखटाने पड़ते हैं, संभव है, गुरुपद की इस महानता, और उपयोगिता को आगे रख कर ही भक्तराज कबीर को यह कहना पड़ा था—

गुरु गोबिन्द दोनों खड़े, किस के लागूं पाए ?,

बलिहारी गुरु आपने, जिन गोबिन्द दियो बताए।

भक्तराज फरमाते हैं कि यदि भगवान और गुरुदेव दोनों समकक्ष खड़े हों तो सर्वप्रथम वन्दन किस को करना चाहिए ? ये भगवान हैं, यह बोध गुरुदेव के माध्यम से होता है, या भगवान की जानकारी गुरु-महाराज की कृपा से ही होती है, अतः सर्वप्रथम गुरुमहाराज के चरणों में ही नतमस्तक होना चाहिए। भक्तराज के इस कथन से यह भली भाँति प्रमाणित हो जाता है कि अध्यात्म जीवन में गुरुमहाराज का बड़ा महत्त्वपूर्ण स्थान है। गुरुमहाराज शिष्य-जगत के अन्तर्जगत में ज्ञान के द्वीप जगा कर उस पर जो उपकार करते हैं, उस का बदला देना बड़ा कठिन कार्य है। इसीलिए श्री स्थानाङ्ग सूत्र में श्रमण भगवान महावीर अपने प्रधान शिष्य श्री इन्द्रभूति गौतम जी महाराज को उपदेश देते हुए फरमाते हैं कि **१-माता पिता, २-धर्माचार्य, गुरुमहाराज, और ३-उपकारी पुरुष**-जो आर्थिक तथा सामाजिक दृष्टि से गिर रहे जीवन को सभी प्रकार की सहायताएं देकर अपने पांव पर खड़े होने की क्षमता प्रदान करता है, इन तीन व्यक्तियों के उपकार का बदला चुकाना बहुत ही मुश्किल काम है। जिस गुरुमहाराज ने ज्ञान की ज्योति देकर जीवन को ज्योतित बनाया हो, अन्तर्नेत्रों को ज्ञान का प्रकाश अर्पित किया हो, ऐसे गुरुमहाराज का उपकार भूल जाना, उनके शिष्यत्व से इन्कार करना, उनके नाम का गोपन करना बड़ा भारी पाप माना गया है।

संसार में ऐसे लोग भी देखने में आते हैं, जो सर्व-प्रथम गुरु महाराज के चरणों में बैठ कर विद्या प्राप्त करते हैं, और गुरुकृपा से उन्नति

की पगडण्डियाँ पार करते हुए एक दिन विद्या क्षेत्र में अपने गुरु महाराज से भी आगे निकल जाते हैं, जनता गुरुदेव से भी अधिक उन की पूजा करती है और श्रद्धा के सुमन उनके चरणों में समर्पित करती है। अपनी बढ़ी हुई प्रतिष्ठा को देखकर कभी-कभी उनका दिमाग़ इतना खराब हो जाता है, अपने आप को सर्वोच्च मानने लग जाते हैं, यहाँ तक कि अपने गुरु को गुरु मानने से भी जी चुराने लगते हैं। जब कोई व्यक्ति उन से पूछता है कि आपके गुरुदेव कौन हैं? उनका नाम क्या है? तो वे इधर-उधर की लच्छेदार बातें बनाकर अपने गुरु महाराज का नाम छिपा लेते हैं। मेरे अपने जीवन का एक प्रसंग है कि एक बार मुझे जंगल देश में जाने का अवसर मिला, वहाँ एक ग्राम में एक व्यक्ति से वार्तालाप हुआ, पता चला कि वह अपने पिता का नाम लेने को तैयार नहीं, अपने पिता को पिता कहने से उसे लज्जानुभूति होती है। उसके साथी ने यह भी बतलाया कि एक बार इसको बहुत अच्छी सरकारी नौकरी मिल रही थी, परन्तु इस से बलदीयत (पिता का नाम) पूछी गई तो उसने वलदीयत बताने से इन्कार कर दिया। उस ने स्पष्ट शब्दों में अधिकारी वर्ग से कह दिया कि नौकरी न करनी मञ्जूर, परन्तु बलदीयत नहीं वतलाऊंगा। कितने आश्चर्य की बात है, कि जिस पिता ने अपने बच्चे के जीवन-रूपी पौधे को पल्लवित और पुष्पित बनाने के लिए दुनिया भर के कष्ट उठाए, आज वह बच्चा अपने पिता को पिता कहने के लिए भी तैयार नहीं है, इसी भाँति दुनिया में ऐसे भाग्यहीन लोग भी हैं, जो प्रतिष्ठा के भाजन बन कर अपने *गुरु महाराज के नाम को भूल जाते हैं, और पूछने पर उसे छुपा

---

*जैसे कपड़े को थान दरजी वेतत आन,
खण्ड-खण्ड करे जान, देत सो सुधारी है।
काठ के ज्यो सूत्र-धार, हेम जैसे सुनियार,
माटी के जो कुम्भकार पात्र करे त्यारी है।
धरती को किसान जान, लोहे को लुहार मान,

लेते हैं। जैन-दर्शन का कर्मवाद कहता है कि जो मनुष्य अपने गुरु महाराज का नाम छुपा लेता है, वह ज्ञानावरणीय कर्म का वन्ध करता है, परिणाम-स्वरूप उसके जीवन में ऐसा समय आता है कि वह भगवती विद्या के महा-मन्दिर में प्रवेश भी नहीं कर पाता, और अपठित रह कर ही अज्ञानजनित अनेकविध यातनाओं का उपभोग करता हुआ जीवन व्यतीत करता है।

५—ज्ञान-प्राप्ति में विघ्न उपस्थित करना—

मनुष्य जगत का अध्ययन करने से पता चलता है कि कुछ व्यक्तियों की बौद्धिक संकीर्णता इतनी अधिक बढ़ी-चढ़ी होती है कि वे दूसरों की उन्नति और प्रगति को किसी भी दशा में सहन नहीं कर पाते, दूसरों की अभिवृद्धि देखकर वे सिहर उठते हैं, उनके पेट में दर्द होने लगता है, परिणाम-स्वरूप जब तक दूसरों को हानि न पहुंचालें, दूसरे के प्रगतिमूलक साधनों को समाप्त न कर दें, तब तक वे शान्ति से बैठ नहीं सकते, यह संकीर्णता परिवार, समाज, अर्थ, व्यापार और विद्या सभी क्षेत्रों में उपलब्ध होती है। प्रस्तुत में विद्या का प्रसंग होने के कारण विद्या-क्षेत्र-सम्बन्धी संकीर्णता का निर्देश किया जा रहा है।

शिलावाट शिला आन, घाट घड़े भारी है।
कहत हैं तिलोक रिख, सुधारे ज्यों गुरु शीष,
गुरु उपकारी नित, लीजे बलिहारी है।
गुरु मित्र, गुरु मात, गुरु सगा, गुरु तात,
गुरु भूप, गुरु भ्रात, गुरु हितकारी है।
गुरु रवि, गुरु चन्द्र, गुरु देव, गुरु इन्द्र,
गुरु देव दे आनन्द, गुरु पद भारी है।
गुरु देत ज्ञान ध्यान, गुरु देत दान मान,
गुरु देत मोक्ष स्थान, सदा उपकारी है।
कहत हैं तिलोकरिख, भली-भली दीनी सीख,
पल-पल गुरु जी को, वन्दना हमारी है।

विद्या-क्षेत्र में देखा जाता है कि कुछ व्यक्ति न तो स्वयं पढ़ सकते है, और नाँही वे कुछ लिखने की क्षमता रखते है, परन्तु जब कोई दूसरा पढ़ता है, विद्या के क्षेत्र में उन्नति एवं प्रगति करता है, वैदुष्य प्राप्त करने का दृढ संकल्प लेता है, ज्ञान के अनमोल मोती उपलब्ध करने का प्रयास करता है, तो उन्हें यह असह्य हो जाता है, उन के पेट में ईर्ष्या और द्वेष का दर्द होना आरम्भ हो जाता है, यह दर्द जब इतना अधिक बढ जाता है, कि नियन्त्रण से बाहिर होने लगता है, तब वे लोग ऐसा वातावरण पैदा करने का प्रयास करते है, कि जिससे अध्ययनशील व्यक्ति अध्ययन के क्षेत्र मे सफल न हो सके, उसकी अध्ययन-साधना सम्पन्न न हो सके, सर्वथा अपठित या अनपढ रह जाए। उदाहरणार्थ. एक निर्धन विधवा महिला है, उस का एक बालक है, वही उसके जीवन का सहारा है, उसकी आशाओं का केन्द्र है। यह बालक पढने में चतुर है, बड़ा होशियार है, स्कूल का मास्टर उस की बुद्धि की प्रकर्षता तथा समझने की क्षमता के कारण उस पर मेहरबान है, प्रतिभा-गत विलक्षणता से वह अध्यापक का कृपा-पात्र बन रहा है, सहानुभूति तथा उदारता के साथ अध्यापक उसका अध्यापन कराता है, प्रेम के साथ उसे समझाता है, उसकी निर्धनता पर दया लाकर उसे निःशुल्क पुस्तके देता है, और उसकी फीस भी माफ करवा डालता है, अधिक क्या, वह बालक यदि कभी किसी पाठ्य विषय मे कमज़ोरी, शिथिलता तथा न्यूनता अनुभव करता है, तो उसे प्रतिदिन एक घण्टे तक पढा कर उस की प्रत्येक कमी को दूर करने का यत्न करता है, अध्यापन का उस मे एक पैसा नही लेता, अध्यापक की इस कृपा तथा उदारता से वह बालक अच्छे से अच्छे नम्बर लेकर उत्तीर्ण होने लगता है। बालक की इस सफलता को देख कर उस का पड़ौसी सड़ता है, कुढ़ता है, और एक दिन समय पाकर वह भागा हुआ अध्यापक के पास आता है और बड़े आदर और स्नेह के साथ उस से निवेदन करता हुआ कहता है—

मास्टर जी ! यह दुनिया बड़ी खराब है, जो किसी का भला करता है, उस को भी गालियाँ दी जाती हैं। और तो और, आप जैसे उपकारी और दीनों के प्रतिपालक मनुष्य को भी माफ नहीं किया जाता। जिस बालक को आप प्रतिदिन समय देते हैं, बिना कोई पैसा लिए पढ़ाते हैं और जिस की आप प्रत्येक दृष्टि से सहायता करते हैं, उसकी माता आपको सदा गालियां निकालती है। वह कहती है कि मास्टर जी ने पढाई का बहाना लगा कर मेरे बच्चे को नौकर बना रखा है। सारा दिन उस से अपने घर का काम लेते हैं। मैं बड़ा विस्मित हूं कि आप इतने समझदार, विचारक और अनुभवी होकर भी व्यर्थ में ये गालियां क्यों खाते हैं। गालियां इतनी अश्लील और भद्दी होती हैं कि मुझ से सुनी नहीं जातीं। प्रतिदिन गालियां सुनते-सुनते जब मैं तंग आगया तो अन्त में मैंने यह निर्णय किया कि आप की सेवा में उपस्थित हो कर सारी स्थिति से आप को अवगत कराऊँ। अब आप मालिक हैं।

पड़ौसी की स्नेहपूर्ण पद्धति से कही गई उक्त वार्ता को सुनकर मास्टर जी आश्चर्य-चकित रह गए, उन के पांव तले की भूमि निकल गई, गंभीरता अंगड़ाई लेने लगी, विचार करने लगे—जिस बालक के साथ मैं इतनी सहानुभूति रखता हूं, दिल लगा कर उसे पढ़ाता हूँ, प्रत्येक दृष्टि से उस की सुरक्षा का प्रयास करता हूँ तथापि उसकी माता मुझे अश्लील और भद्दी गालियां निकालती है। यह विचार आते ही मास्टर जी सिहर उठे, अन्त में, उन्होंने उस बालक से मुंह ही मोड़ लिया और उनकी ओर से जितनी भी उस की सहायता की जा रही थी वह सब उन्होंने बन्द कर दी। परिणामस्वरूप, विधवा-पुत्र की ज्ञान-सम्वृद्धि के क्षेत्र में अन्धकार छा गया, उस के जीवन की समुत्क्रान्ति के सब द्वार बन्द हो गए। पड़ौसी यह देख कर आनन्द-विभोर हो उठा, और उसने विधवा-पुत्र की ज्ञानोन्नति समाप्त होते देख कर हर्ष के दीपक जगाए।

एक उदाहरण और लीजिए। कल्पना करो, एक मालिक मकान

है। विचारों की दृष्टि से इस का जीवन आदरास्पद नहीं है, संकीर्णता और तंगदिली ने उसे बुरी तरह आक्रान्त कर रखा है, किसी की उन्नति को वह फूटी आंख भी देख नहीं सकता। उसका एक किराए-दार था, उसके बालक अध्ययनशील थे, विद्या की साधना में सदा लगे रहते थे, बड़े परिश्रमी थे। बजीफा (छात्रवृत्ति) प्राप्त करने की तैयारी कर रहे थे, अतः वे बालक खूब दिल लगा कर पढ़ रहे थे। किराएदार के बालकों की ज्ञान-साधना देख कर मालिक मकान को साँप सूंघ गया, वह विचार करने लगा कि यदि किराएदार के बालक पढ़, लिख गए तो समय आने पर ये अच्छे-अच्छे कामों में लग जाएंगे, परिणामस्वरूप इन का पिता आर्थिक दृष्टि से मेरे से आगे निकल जाएगा। यह विचार करने के बाद मालिक मकान ने बालकों की ज्ञान-साधना में विघ्न उपस्थित करने का निश्चय करके रात्रि को बिजली बन्द करनी आरम्भ कर दी। बालक रात्रि को बिजली के प्रकाश में पढ़ा करते थे, बजीफे की तैयारी में आधी-आधी रात बैठे पढते रहते थे, परन्तु बिजली के बन्द हो जाने से उन की पढ़ाई बन्द हो गई। बालकों की ज्ञान-साधना रुक जाने पर मालिक मकान बड़ा प्रमुदित होता है। इस प्रकार के अन्य भी अनेकों उदाहरण उपस्थित किए जा सकते हैं। इन सब का अभिप्राय इतना ही है कि जो व्यक्ति किसी की ज्ञानसाधना में बाधक बनते हैं, रोड़े अटकाते हैं, ज्ञान-प्राप्ति के साधनों को समाप्त या बिगाड़ने का प्रयास करते हैं, वे ज्ञानावरणीय कर्म का बन्ध करते हैं। फलतः उन के जीवन में एक समय ऐसा आता है कि वे पढ़ना चाहते हुए भी पढ़ नहीं पाते। जैसे उन्होंने किसी के मार्ग में विघ्न उपस्थित किए थे, वैसे ज्ञाना-वरणीय कर्म किसी न किसी पद्धति से उन की ज्ञानसाधना के अन्दर भी बाधा डाल देता है।

६—ज्ञान का दुरुपयोग करना—

किसी भी वस्तु का प्रयोग दो प्रकार से किया जा सकता है—

१-प्रशस्त, अच्छा और-२-अप्रशस्त, बुरा। यह प्रयोक्ता की भावना या कामना पर निर्भर है कि चाहे वह वस्तु का प्रयोग प्रशस्त करे या अप्रशस्त करे। उदाहरणार्थ, मनुष्य के दो हाथ हैं, इन हाथों से किसी को धक्का भी दिया जा सकता है और इन हाथों से किसी गिर रहे प्राणी को संभाला भी जा सकता है। इसी प्रकार हमारे पांव अप्रशस्त स्थान पर भी जा सकते है और इन के द्वारा हम सत्संग, मन्दिर, स्थानक, मस्जिद और गुरुद्वारे आदि धर्म-स्थानों में भी पहुंच सकते हैं। पांव की तरह लाठी का भी अच्छा और बुरा प्रयोग हो सकता है। हम लाठी से किसी व्यक्ति को उस की हड्डियाँ तोड़कर ज़ख्मी भी बना सकते हैं और उसी लाठी से किसी आततायी व्यक्ति से आक्रान्त व्यक्ति के जीवन को बचाया भी जा सकता है। जैसे हाथ आदि को हम प्रशस्त और अप्रशस्त अनुकूल तथा प्रतिकूल, सही और गलत दोनों तरह से प्रयोग में ला सकते हैं, वैसे विद्या का भी प्रयोग प्रशस्त और अप्रशस्त दोनों तरह से हो सकता है। आज का युग विज्ञान-युग माना जाता है, विज्ञान विद्या की प्रकर्षता से जनित विलक्षण बौद्धिक विकास का ही अवान्तर रूप माना जाता है। यह विज्ञान यदि हिंसा से सम्बन्धित हो जाता है तो ऐटम, हाईड्रोजन आदि नरसंहारक शस्त्रों का उत्पादक बन जाता है, और यही विज्ञान जब अहिंसा, दया, परोपकार के साथ जुड़ जाता है, तो प्राणि-जगत के दुःखों के नाशक और सुखों के समुत्पादक साधनों की उत्पत्ति करता है। अतः विद्या से अच्छे और बुरे दोनों ही कार्य किए जा सकते हैं। विद्या का एक प्रयोग आबाद घरों एवं परिवारों को उजाड़ सकता है और दूसरा प्रयोग उजड़े घरों एवं परिवारों को आबाद कर सकता है। जनसमूह से आकीर्ण किसी विशाल समारोह में द्रव्य, क्षेत्र, काल और भाव के अनुकूल प्रवचन करने के कारण इस विद्या से सम्मान भी सम्प्राप्त किया जा सकता है, और देश, काल के विरुद्ध वाणी का प्रसार करके या किसी को दुर्वचन बोल कर विद्या का दुरुपयोग होने से अपमान के विषभरे प्याले भी पीए जा सकते हैं। इस तरह विद्या

में सभी विशेषताएं अवस्थित हैं। यह मानवी जगत के सुख का कारण भी बन सकती है, और इस से जनमानस को परिपीडित भी किया जा सकता है। जैन-दर्शन का कर्मवाद मनुष्य के भविष्य को समुज्ज्वल बनाने के लिए बड़ी सुन्दर बात कहता है कि अयि मनुष्य! विद्या अनमोल ज्योति है, प्रकाश है, उस का दुरुपयोग मत कर, उस का सदुपयोग करके जनताजनार्दन की बुद्धिशुद्ध सेवा कर, उस के अन्तर्जगत में ज्ञान के पवित्र दीपक जाज्वल्यमान कर। जैन-दर्शन की आस्था है कि विद्या का दुरुपयोग करने से ज्ञानावरणीय कर्म का बन्ध होता है। यदि ज्ञानावरणीय कर्म की लानत से बचना चाहते हो तो विद्या भगवती का ग़लत प्रयोग मत करो, विद्या भगवती के प्रताप से उपलब्ध बौद्धिक शक्तियों का सही प्रयोग करके जन-मानस के जीवन को समुन्नत बनाने का प्रयास करो! यदि अपनी बौद्धिक शक्तियों का उपयोग जन-मानस को आकुल-व्याकुल बनाने में करोगे, एक दूसरे की हृदय-भूमि में फूट के बीज डालोगे, किसी के बनते कार्य को बिगाड़ोगे तो याद रखो, ज्ञानावरणीय कर्म की बेड़ियों में फंस जाओगे, और यह कर्म फिर ३० कोटा-कोटि सागरोपम जैसे महान लम्बे काल तक ज्ञान की ज्योति से तुम्हें सर्वथा वञ्चित रखेगा।

ज्ञानावरणीय कर्म कैसे भोगा जाता है?—

ज्ञानावरणीय कर्म किसे कहते हैं? इसका क्या स्वरूप है, इसका बन्धन कैसे होता है? यह सब पीछे की पंक्तियों में बतलाया जा चुका है। अब एक और प्रश्न उपस्थित होता है कि ज्ञानावरणीय कर्म का भुगतान कैसे होता है? यह अपना फल जीव को किस पद्धति से प्रदान करता है? जैनदर्शन के कर्मवाद का प्रतिपादन करने वाले महामहिम जैनाचार्यों ने इस प्रश्न का समाधान करते हुए फरमाया है कि ज्ञानावरणीय कर्म अपना फल जीव को दस प्रकार से प्रदान करता है। वे दस प्रकार ये हैं—

१-**श्रोत्रावरण**—जिस शक्ति के द्वारा श्रोत्रेन्द्रिय ज्ञान प्राप्त करती

है, उस शक्ति का आच्छादित या आवृत हो जाना। ज्ञानावरणीय कर्म जब जीव को अपना फल प्रदान करने लगता है तो सर्वप्रथम श्रोत्रेन्द्रिय की उस शक्ति का ह्रास करता है, जिस के द्वारा व्यक्ति ज्ञान की प्राप्ति करता है। २-**श्रोत्रविज्ञानावरण**--श्रोत्रेन्द्रिय के द्वारा प्राप्त होने वाले ज्ञान का ह्रास होना। श्रवणेन्द्रिय की वह शक्ति जिस से श्रोत्रेन्द्रिय ज्ञान उत्पन्न करती है, वह कारण है, और उस शक्ति से जो श्रवण किया जाता है वह उसका कार्य है। ज्ञानावरणीयकर्म का उदय कारण और कार्य दोनों को हानि पहुँचाता है। जिस व्यक्ति को ज्ञानावरणीय कर्म का उदय होता है, उसका श्रोत्र [श्रोत्रेन्द्रिय से ज्ञान प्राप्त करवाने वाली शक्ति] और श्रोत्रविज्ञान [श्रोत्रेन्द्रिय से प्राप्त होने वाला बोध] ये दोनों दूषित हो जाते हैं। अर्थात् श्रोत्रेन्द्रियजन्य ज्ञान की जनक शक्ति, और इस शक्ति से जनित शब्द का बोध, दोनों की जीव को उपलब्धि नहीं होती है।

३-**नेत्रावरण**--जिस शक्ति के द्वारा चक्षुरिन्द्रिय ज्ञान प्राप्त करती है, उस का आच्छादित होना। ४-**नेत्रविज्ञानावरण**--चक्षुरिन्द्रिय से प्राप्त होने वाले ज्ञान का न होना। नेत्र आँख का नाम है। आँख जिस शक्ति से घट और पट आदि पदार्थों का बोध प्राप्त करती है, वह शक्ति तथा इस शक्ति से पदार्थों का जो दर्शन होता है, यह दर्शन इन दोनोंको ज्ञानावरणीय कर्म का उदय रोक देता है। अर्थात् ज्ञानावरणीय कर्म जब उदयोन्मुख होता है तब नेत्र [नेत्रेन्द्रिय से ज्ञान प्राप्त करवाने वाली शक्ति] और नेत्रविज्ञान [नेत्रेन्द्रिय से प्राप्त होने वाला बोध] इन दोनों से व्यक्ति वञ्चित हो जाता है।

५-**घ्राणावरण**--जिस शक्ति से घ्राणेन्द्रिय ज्ञान प्राप्त करती है, उस शक्ति का आवृत होना। ६-**घ्राणविज्ञानावरण**--घ्राणेन्द्रिय से प्राप्त होने वाले बोध का रुक जाना। घ्राण नासिका का नाम है, नासिका से पदार्थों की सुगन्धि और दुर्गन्धि का बोध होता है, परन्तु जिस व्यक्ति को ज्ञानावरणीय कर्म का उदय आक्रान्त कर लेता है, उस का घ्राण

[घ्राणेन्द्रिय से ज्ञान प्राप्त करवाने वाली शक्ति] और घ्राणविज्ञान [घ्राणेन्द्रिय से प्राप्त होने वाला दुर्गन्धि और सुगन्धि का ज्ञान] ये दोनों ही अपना कार्य नहीं कर पाते। अर्थात् घ्राणेन्द्रिय-जनित ज्ञान की समुत्पादक शक्ति और इस शक्ति से जन्य बोध इन दोनों की व्यक्ति को प्राप्ति नहीं होती।

७-रसनावरण--जिस शक्ति से रसनेन्द्रिय ज्ञान प्राप्त करती है, उस का निस्तेज हो जाना, दब जाना। **८-रसना-विज्ञानावरण**--रसनेन्द्रिय से प्राप्त होने वाले ज्ञान का आच्छादित हो जाना। रसना ज़बान का नाम है, इससे खट्टे, मीठे और तीक्ष्ण आदि रसों का ज्ञान उपलब्ध होता है किन्तु जब मनुष्य-जीवन को ज्ञानावरणीय कर्म का उदय आक्रान्त कर लेता है तब उसे रसनेन्द्रिय-जनित ज्ञान की समुत्पादक शक्ति से जनित पदार्थों के अम्ल और मधुर आदि रसों के बोध की उपलब्धि नहीं होती।

९-स्पर्शनावरण--जिस शक्ति के द्वारा स्पर्शनेन्द्रिय, हल्का, भारी, शीत और उष्ण आदि स्पर्शों का बोध कराती है, उसका आच्छादित हो जाना। **१०-स्पर्शना-विज्ञानावरण**--स्पर्शनेन्द्रिय से प्राप्त होने वाले ज्ञान का रुक जाना। स्पर्शन त्वचा का नाम है। इससे कठोर, मृदु, शीत, उष्ण, हल्का और भारी आदि स्पर्शों का ज्ञान होता है, किन्तु जब जीव को ज्ञानावरणीय कर्म अपने प्रभाव से प्रभावित करता है तो वह स्पर्शनेन्द्रिय जनित ज्ञान की शक्ति तथा इस शक्ति से उत्पन्न स्पर्शों का बोध, इन दोनों की प्राप्ति नहीं होने देता।

ऊपर की पंक्तियों में ज्ञानावरणीय कर्म कैसे भोगा जाता है? इस प्रश्न का समाधान किया गया है। इस समाधान से यह स्पष्ट हो जाता है कि ज्ञानावरणीय कर्म जब उदयाभिमुख होता है तब प्राणी की श्रोत्रादि पांचों इन्द्रियां अपना स्वरूप खो बैठती हैं। जिस शक्ति से ये इन्द्रियाँ ज्ञान प्राप्त करती हैं, वह आच्छादित हो जाती है, तथा इस शक्ति के द्वारा जो बोध प्राप्त होता है- वह भी रुक जाता है।

प्रस्तुत में पद श्रोत्रावरण से श्रोत्रेन्द्रियविषयक क्षयोपशम का श्रावरण समझना चाहिए और श्रोत्रविज्ञानावरण से श्रोत्रेन्द्रियविषयक उपयोग का श्रावरण समझना चाहिये । निर्वृत्ति उपकरणरूप द्रव्येन्द्रिय यहाँ अपेक्षित नहीं है, परन्तु लब्धि और उपयोग रूप भावेन्द्रिय की ही यहां विवक्षा समझनी चाहिए। द्रव्येन्द्रिय तो नाम-कर्म से होती है, अतः ज्ञानावरण उस का विषय नहीं है ।

प्रत्येक कर्म का अनुभाव-फल स्व और पर की अपेक्षा से हुआ करता है । गति, स्थिति और भव पाकर जो फल-भोग होता है, वह स्वतः अनुभाव है । पुद्गल और पुद्गल-परिणाम की अपेक्षा जो फल-भोग होता है उसे परतः अनुभाव समझना चाहिये । कोई कर्म गति-विशेष पाकर ही तीव्र फल देता है, जैसे-असातावेदनीय कर्म नरक-गति में तीव्र फल देता है, नरक-गति में जैसी असाता होती है वैसी अन्य गतियों में नहीं होती । कोई कर्म स्थिति अर्थात् उत्कृष्ट स्थिति पाकर ही तीव्र फल देता है, जैसे मिथ्यात्व । मिथ्यात्व जितनी अधिक स्थिति वाला होता है उतना ही तीव्र होता है । कोई कर्म भवविशेष पाकर ही अपना प्रभाव दिखलाता है । जैसे-निद्रादर्शनावरणीय कर्म मनुष्य और तिर्यञ्च भव में अपना प्रभाव दिखलाता है । गति, स्थिति और भव को पाकर कर्म फल भोगने में कर्म-प्रकृतियां ही निमित्त, हैं, इसलिए यह स्वतः (निरपेक्ष) अनुभाव कहलाता है ।

पुद्गल और पुद्गलपरिणाम का निमित्त पाकर जिस कर्म का उदय होता है, वह सापेक्ष, परतः उदय है । कई कर्म पुद्गल का निमित्त पाकर फल देते हैं । जैसे किसी के लकड़ी या पत्थर फेंकने से चोट लग जाती है, इससे जो दुःख का अनुभव हुआ या क्रोध जाग उठा, वह पुद्गल की अपेक्षा असातावेदनीय और मोहनीयकर्म का उदय समझना चाहिये । खाए हुए आहार के न पचने से अजीर्ण हो जाता है, यह आहार-रूप पुद्गलों के परिणाम से असातावेदनीय का उदय जानना चाहिए । इसी प्रकार मदिरापान से ज्ञानावरणीय कर्म का

उदय होता है। स्वाभाविक पुद्गल-परिणाम, जैसे शीत, उष्ण, घाम आदि से भी असातावेदनीयादि कर्म का उदय होता है।

ऊपर की पंक्तियों में ज्ञानावरणीय कर्म का दस प्रकार का जो अनुभाव बताया गया है, वह भी स्वतः [निरपेक्ष] और परतः (सापेक्ष) इस पद्धति से दो तरह का होता है। पुद्गल और पुद्गलपरिणाम की अपेक्षा प्राप्त फल सापेक्ष है। कोई व्यक्ति किसी को चोट पहुंचाने के लिए एक या अनेक पुद्गल, जैसे-पत्थर ढेला या शस्त्र फेंकता है इन की चोट से उसकी उपयोग रूप ज्ञान-परिणति का घात होता है। यहाँ पुद्गल की अपेक्षा ज्ञानावरणीय कर्म का उदय समझना चाहिए। एक व्यक्ति भोजन करता है, उस का परिणाम सम्यक् न होने से वह व्यक्ति दुःख का अनुभव करता है, और दुःख की अधिकता से ज्ञान-शक्ति पर बुरा असर होता है। यह पुद्गल-परिणाम की अपेक्षा से ज्ञानावरणीय का उदय है। शीत, उष्ण, और घाम आदि स्वाभाविक पुद्गलपरिणाम से जीव की इन्द्रियों का घात होता है, और उससे ज्ञान को हानि पहुंचती है। यह स्वाभाविक पुद्गल-परिणाम की अपेक्षा से ज्ञानावरणीय का उदय समझना चाहिये। इस प्रकार पुद्गल, पुद्गलपरिणाम और स्वाभाविक पुद्गलपरिणाम की अपेक्षा ज्ञान-शक्ति का घात होता है, और जीव ज्ञातव्य वस्तुओ का ज्ञान नहीं कर पाता। विपाकोन्मुख ज्ञानावरणीय कर्म के उदय से, वाह्यनिमित्त की अपेक्षा किए बिना ही जीव ज्ञातव्य वस्तु को नहीं जानता है, जानने की इच्छा रखते हुए भी नही जान पाता है, एक बार जानकर भूल जाने से दूसरी बार नहीं जानता है, इस प्रकार इतना अधिक वह आच्छादित ज्ञान-शक्ति वाला हो जाता है। यह ज्ञानावरणीय कर्म का स्वतः [निरपेक्ष] अनुभाव माना गया है।

ज्ञानावरणीय कर्म के सम्बन्ध में लिखने को बहुत कुछ लिखा जा सकता है, जैनदर्शन ने इस कर्म को लेकर बड़ा गंभीर और व्यापक चिन्तन एवं मनन प्रस्तुत किया है। उसके आधार पर यदि अकेले

ज्ञानावरणीय कर्म के सम्बन्ध में ही विस्तारपूर्वक लिखा जाए तो एक विशालकाय ग्रन्थ तैयार हो सकता है, ऊपर की पंक्तियों में जो कुछ भी लिखा गया है, यह तो केवल इस कर्म की झांकी दिखलाने का प्रयास ही समझना चाहिये। ज्ञानावरणीय कर्म के विवेचन का उपसंहार करते हुए अन्त में यह निवेदन करना आवश्यक समझता हूँ कि यदि मनुष्य ज्ञान के प्रकाश से अपने जीवन को प्रकाशमान बनाना चाहता है और ज्ञानावरणीय कर्म के फल से बचना चाहता है तो जिस कारण-सामग्री से इस का बन्ध पड़ता है उस से उसे अपने को सदा सुरक्षित रखना चाहिये। कविता की भाषा में यदि कहें तो--

दुःखद ज्ञानावरणीय, जग में कर्म महान।
'ज्ञानमुनी' यह नष्ट हो, होवे केवल ज्ञान ।।

:

दर्शनावरणीय कर्म

बताया जा चुका है कि जैन-दर्शन ने कर्मों का विवेचन करते हुए द्रव्यकर्म के आठ भेद बताए हैं। इनमें पहला भेद ज्ञानावरणीय कर्म है। ज्ञानावरणीय कर्म के स्वरूप को लेकर पीछे की पंक्तियों में निवेदन किया जा चुका है। ज्ञानावरणीय के अनन्तर दर्शनावरणीय कर्म का स्थान है। दर्शनावरणीय कर्म क्या होता है? इस की क्या रूप-रेखा है? प्रस्तुत प्रकरण में इन्हीं प्रश्नों का समाधान करने का प्रयास किया जाएगा।

दर्शन शब्द का अर्थ—

कोषकारों के मत में दर्शन शब्द के अनेकों अर्थ उपलब्ध होते हैं, दर्शन चाक्षुष् प्रत्यक्ष, साक्षात्कार और जानने को भी कहते हैं। दर्शन उस शास्त्र का भी नाम है, जिसमें आत्मा, अनात्मा, ब्रह्म, प्रकृति, पुरुष, जगत, धर्म, मोक्ष, मानव जीवन के उद्देश्य आदि का निरूपण हो, अर्थात् तत्त्व ज्ञान कराने वाला शास्त्र दर्शन कहलाता है। वैदिक परम्परा के अनुसार-सांख्य, योग, वैशेषिक, न्याय, मीमांसा (पूर्व-मीमांसा) और वेदान्त [उत्तर-मीमांसा] ये ६ दर्शन आस्तिक और चार्वाक, जैन, माध्यमिक, योगाचार, सौत्रांतिक और वैभाषिक ये ६ दर्शन नास्तिक माने जाते हैं। सांख्य दर्शन के कर्ता कपिल ऋषि थे। इसमें प्रकृति ही सारे विश्व का मूल और पुरुष द्रष्टा मात्र माना गया है। यह ईश्वर को जगत का रचयिता और संचालक स्वीकार नहीं करता, तथा आत्मा के शेष चौबीस तत्त्वों से पार्थक्य के सम्यग् ज्ञान को ही मोक्ष का साधन मानता है। इसी प्रकार योगादि अन्य शास्त्रों के अर्थ भी तत्सम्बन्धी शास्त्रों से समझ लेने चाहियें। वैदिक परम्परा की—"जैन-दर्शन नास्तिक है" यह मान्यता नितान्त अशास्त्रीय और सर्वथा युक्ति-विकल समझनी चाहिये, क्योंकि जैन-दर्शन अन्य आस्तिक-दर्शनों की भाँति आत्मा, परमात्मा, लोक, परलोक, स्वर्ग, नरक, पुण्य, पाप, आवागमन आदि सभी तथ्यों को बिना किसी ननु-नच के स्वीकार करता है।

इसके अतिरिक्त, सांख्य-दर्शन की तरह जैन-दर्शन भी परमात्मा को जगत का रचयिता तथा संचालक स्वीकार नहीं करता। ऐसी स्थिति में जब सांख्य-दर्शन आस्तिक-दर्शनों के अन्तर्गत हो सकता है, तो जैन दर्शन की नास्तिक-दर्शनों में परिगणना क्यों? जैन-दर्शन की मान्यताएं अध्यात्म-जगत में बड़ा महत्त्वपूर्ण स्थान रखती हैं, आत्मा, परमात्मा, पुण्य, पाप, लोक और परलोक को लेकर जैन-दर्शन ने जितना गंभीर, युक्तिसम्मत तथा प्रामाणिक चिन्तन एवं मनन अध्यात्म जगत को प्रदान किया है, इतना तो अन्य किसी दर्शन में देखने को भी नहीं मिलता, तथापि उसे जो नास्तिक दर्शन कहा गया है, इसके पीछे द्वेष-बुद्धि और हृदय की संकीर्णता ही काम कर रही दिखाई देती है।

पाणिनीय व्याकरण सिद्धान्त-कौमुदी में आचार्य भट्टोजी दीक्षित आस्तिक नास्तिक शब्द की व्याख्या करते हुए लिखते हैं—**अस्ति-नास्ति-दिष्टं मतिः ।४।४।६०। अस्ति परलोकः इत्येवं मतिर्यस्य स आस्तिकः, नास्तीति मतिर्यस्य स नास्तिकः।** अर्थात् अस्ति शब्द सत्ता-अस्तित्व का और नास्ति शब्द निषेध-अभाव का संसूचक है। जिन विचारकों एवं दार्शनिकों का आत्मा, परलोक, पुण्य और पाप आदि के अस्तित्व में विश्वास है, श्रद्धान है, वे आस्तिक हैं और जो विचारक इनके अस्तित्व में विश्वास नहीं रखते, वे नास्तिक हैं। जैन-दर्शन का भली-भाँति परिशीलन करने से पता चलता है, कि यह आत्मा, परमात्मा, परलोक पुण्य, पाप, कर्म-बन्धन और मुक्ति आदि के अस्तित्व को स्पष्ट रूप से स्वीकार करता है। अतः जैन-दर्शन की आस्तिकता से किसी भी तरह इन्कार नहीं किया जा सकता। आस्तिक-नास्तिक शब्दों के अधिक ऊहापोह के लिए जिज्ञासु सज्जनों को मेरे लिखे "प्रश्नों के उत्तर" के प्रथम खण्ड के पञ्चम अध्याय का परिशीलन कर लेना चाहिये।

दर्शन विश्वास, आस्था, श्रद्धा का नाम भी है। यह दर्शन तीन प्रकार का होता है। जैसेकि-१-**मिथ्यादर्शन**=मिथ्यात्व-मोहनीय कर्म के उदय से अदेव में देव-बुद्धि और अधर्म में धर्म-बुद्धि आदि रूप आत्मा

का अयथार्थ श्रद्धान, २—सम्यग्दर्शन=मिथ्यात्व-मोहनीय कर्म के क्षय, उपशम या क्षयोपशम से उत्पन्न होने वाला आत्मा का परिणाम। साधु में साधु-बुद्धि, असाधु में असाधु-बुद्धि रूप आत्मिक परिणाम सम्यग्-दर्शन कहलाता है। सम्यग्दर्शन हो जाने पर मति आदि अज्ञान भी सम्यग् ज्ञान के रूप में परिणत हो जाता है। और ३-मिश्र-दर्शन-मिश्र-मोहनीय कर्म के उदय से आत्मा में होने वाला कुछ यथार्थ और कुछ अयथार्थ श्रद्धान।

दर्शन शब्द का अर्थ सामान्य बोध भी होता है। बोध के सामान्य और विशेष ये दो रूप होते हैं। पदार्थों के विशेष धर्मों का, जाति, गुण और क्रिया आदि की जानकारी विशेष बोध है और पदार्थों का सामान्य, साधारण सा बोध सामान्य बोध होता है। विशेष बोध को ज्ञान और सामान्य बोध को दर्शन कहते हैं। इस दर्शन को निराकार उपयोग भी कहा जाता है, उपयोग के सामान्यरूप से—साकार और निराकार ये दो विभाग किए जाते हैं। जो बोध ग्राह्यवस्तु को विशेष-रूप से जानने वाला होता है वह साकारोपयोग और जो बोध ग्राह्य वस्तु को सामान्य रूप से जानने वाला होता है, वह निराकार या अनाकार या निर्विकल्पक बोध कहलाता है। दर्शन ग्राह्यवस्तु को सामान्यरूप मे ग्रहण करता है अत: निराकार, अनाकार या निर्वि-कल्पक भी कहा जाता है।

प्रस्तुत में दर्शनावरणीय कर्म का प्रसग चल रहा है। दर्शना-वरणीय शब्द मे जो दर्शन पद है वह सामान्य बोध या वस्तु की साधारण जानकारी का परिचायक समझना चाहिए। वस्तु की साधारण जानकारी का अर्थ है—पदार्थो की सभी अवस्थाओं का बोध न होकर उस की किसी एक अवस्था का बोध होना। उदा-हरणार्थ, कल्पना करो। एक मनुष्य खड़ा है, वह किसी भवन में प्रविष्ट हो जाता है, प्रवेश करते ही उसे वहां घड़ी दिखाई देती है, घड़ी देखते ही उस मनुष्य को पहले-पहल 'यह घड़ी है'' यह बोध होता है।

घड़ी किस की है ?, कहां की बनी हुई है ?, किस क्वाल्टी की है ?, समय ठीक देती है या नहीं ?, इस में अलारम है या नहीं ?, अन्धकार में इस के अंक दिखाई देते हैं या नहीं ?, रेडिअम वाली है ?, इस का मूल्य कितना है ? आदि बातों की उसे कोई जानकारी नहीं होती। वह केवल इतना ही जानता है कि यह घड़ी है। इस सामान्य बोध का नाम दर्शन है, जब यही साधारण बोध विशाल रूप धारण कर लेता है, घड़ी को प्रत्येक दृष्टि से जान लेता है, तब यह बोध दर्शन न कहलाकर ज्ञान कहलाता है। यदि संक्षेप में कहें तो--बोध की पहली सामान्य अवस्था का नाम दर्शन है, और उस के अनन्तर होने वाली परिपूर्ण जानकारी को ज्ञान कहते हैं।

जैनदर्शन कहता है कि जो कर्म आत्मा की दर्शन-शक्ति को ढकता है, सामान्य बोध पर परदा बन कर छा जाता है, जीव को पदार्थों की साधारण जानकारी भी नहीं होने देता, उसे दर्शनावरणीय कर्म कहते हैं। यह कर्म आत्मा की दर्शन-शक्ति को कैसे आच्छादित करता है ? परदा बन कर उस पर कैसे छा जाता है ? आदि सभी बातों की जानकारी ज्ञानावरणीय कर्म के प्रकरण में दी जा चुकी है। अन्तर केवल इतना ही है कि वहां ज्ञान शब्द का प्रयोग है और यहाँ दर्शन का। क्योंकि ज्ञानावरणीय कर्म ज्ञान को आवृत करता है जब कि दर्शनावरणीय कर्म आत्मा की दर्शन-शक्ति को रोकता है। शेष सभी प्रश्न तथा प्रश्नों के समाधान एक समान ही समझने चाहिएं।

दर्शनावरणीय कर्म के ६ भेद–

ज्ञानावरणीय कर्म आत्मा की ज्ञानशक्ति को आवृत कर रहा है और दर्शनावरणीय उस की दर्शन शक्ति को आच्छादित कर डालता है, परन्तु अब यहां एक प्रश्न उपस्थित होता है कि दर्शनावरणीय कर्म कितने प्रकार का होता है ? इस का समाधान करता हुआ जैन-दर्शन कहता है कि दर्शनावरणीय कर्म नव प्रकार का होता है। वे नव भेद इस प्रकार हैं—

१-चक्षुर्दर्शनावरणीय कर्म-चक्षु आंख का नाम है, चक्षुर्दर्शनावरणीय कर्म के क्षयोपशम से आंख के द्वारा जो दर्शन होता है, घट, पट आदि पदार्थों का सामान्य या हल्का सा बोध होता है, उसे चक्षुर्दर्शन कहते हैं। इस चक्षुर्दर्शन पर जो कर्म परदा डाल देता है, बुर्का बन कर उसे आच्छादित कर लेता है, वह चक्षुर्दर्शनावरणीय कर्म कहलाता है।

२-अचक्षुर्दर्शनावरणीय कर्म—अचक्षुः का अर्थ है—चक्षुरिन्द्रिय को छोड़ कर श्रोत्र, घ्राण, रसना और स्पर्शन ये चार इन्द्रियां। अचक्षुर्दर्शनावरणीय कर्म के क्षयोपशम से श्रोत्र आदि चार इन्द्रियों द्वारा शब्द आदि पदार्थों का जा सामान्य बोध होता है, उसे अचक्षुर्दर्शन कहते हैं। इस अचक्षुर्दर्शन को जो कर्म आक्रान्त कर लेता है, इसे ढक देता है, वह अचक्षुर्दर्शनावरणीय कर्म माना जाता है।

३-अवधिदर्शनावरणीय कर्म--अवधि-दर्शनावरणीय कर्म के क्षयोपशम से श्रोत्र आदि इन्द्रियों और मन की सहायता के बिना रूपी अर्थात् वर्ण, रस, गन्ध और स्पर्श वाले पदार्थों का कुछ मर्यादा को लिए हुए जो सामान्य बोध होता है, उसे अवधिदर्शन कहते हैं, जो कर्म अवधिदर्शन को आच्छादित कर लेता है, वह अवधि-दर्शनावरणीय कर्म कहा जाता है।

मनःपर्याय-ज्ञान का दर्शन नहीं होता, क्योंकि यह ज्ञान पदार्थों के सामान्य बोध को अपना विषय नहीं बना पाता। यह सत्य है कि मनःपर्यायज्ञान का ऋतुमति भेद मनोगत सामान्य भावों को जानता है परन्तु ऋतुमति के सामान्यग्राही होने का इतना ही मतलब है कि यह जानता विशेषों को ही है, परन्तु मनःपर्यायज्ञान के दूसरे भेद विपुलमति जितने विशेषों को नहीं जानता। ऋजुमति और विपुलमति की शाब्दिक अर्थविचारणा पीछे पृष्ठ २१५ पर दी जा चुकी है। भाव यह है कि मनःपर्याय ज्ञान का दर्शन न होने से दर्शनावरणीय कर्म का मनःपर्याय-दर्शनावरणीय यह भेद नहीं पाया जाता।

४-केवल-दर्शनावरणीय कर्म--केवलदर्शनावरणीय के*क्षय होने पर जीव को इस विश्व के त्रिलोक-वर्ती तथा त्रिकालवर्ती समस्त पदार्थों का एक साथ जो सामान्य बोध होता है, उसे केवल-दर्शन कहते हैं, इस केवल-दर्शन को आवृत करने वाली कर्मशक्ति का नाम केवल-दर्शनावरणीय कर्म है। यह कर्म जीव की केवल-दर्शन-शक्ति को परदा बनकर ढक लेता है। **५-निद्रादर्शनावरणीय कर्म**--सोए हुए मनुष्य को जगाने

---

*स्वभाव से जीवों का भिन्न-भिन्न रूप से होना, अथवा पर्यायों का भिन्न भिन्न अवस्था भाव कहलाती है। ये-औपशमिक, क्षायिक, क्षायोपशमिक, औदयिक और पारिणामिक इन भेदो से पञ्चविघ होते हैं। जो उपशम से पैदा हो, वह औपशमिक है। उपशम आत्मा की एक प्रकार की शुद्धि है, जो सत्तागत कर्म का बिल्कुल उदय रुक जाने पर वैसी ही होती है, जैसे मल नीचे बैठ जाने पर जल में स्वच्छता। क्षय से पैदा होने वाला भाव क्षायिक है। क्षय आत्मा की वह परम विशुद्धि है, जो कर्म का सम्बन्ध बिल्कुल छूट जाने पर वैसे होती है, जैसे सर्वथा मल निकल जाने पर जल में स्वच्छता। क्षयोपशम से जनित भाव क्षायोपशमिक है। क्षयोपशम एक प्रकार की आत्मशुद्धि है जो कर्म के एक अंश का उदय सर्वथा रुक जाने पर और दूसरे अंश का प्रदेशोदय द्वारा क्षय होते रहने पर प्रकट होती है। यह विशुद्धि वैसी ही मिश्रित है जैसे धोने से मादक शक्ति के कुछ क्षीण हो जाने और कुछ रह जाने पर कोदों [सांवांकी (चने जैसा एक कदन्न = खराब अन्न) जाति का एक मोटा अन्न] की शुद्धि। नीरस किए हुए कर्मदलिकों का वेदन होना प्रदेशोदय है और रसविशिष्ट दलिकों के विपाकवेदन का होना विपाकोदय कहलाता है। उदय से जन्य भाव औदयिक है। उदय एक प्रकार का आत्मिक मालिन्य है, जो कर्म के विपाकानुभव से वैसा ही होता है, जैसे मल के मिल जाने पर जल में मालिन्य। पारिणामिक भाव द्रव्य का वह परिणाम है जो केवल द्रव्य के अस्तित्व से आप ही आप हुआ करता है। अर्थात्-किसी भी द्रव्य का स्वाभाविक स्वरूप परिणमन पारिणामिक भाव है। जैसे जीवत्व, भव्यत्व और अभव्यत्व। —तत्त्वार्थसूत्र में पण्डित सुखलाल जी।

में जहाँ अधिक परिश्रम न करना पड़े, आसानी से जगाया जा सके हलकी सी आवाज से जगा दिया जाए उस नीन्द को निद्रा कहते हैं, जिस कर्म के प्रभावसे जीव को यह निद्रा आती है, उसे निद्रादर्शना-वरणीय कर्म कहते हैं।

६-निद्रानिद्रा-दर्शनावरणीय कर्म–जो सोया हुआ जीव बड़ी मुश्किल से जागे, बड़े ज़ोर से चिल्लाने पर तथा ज़ोर से हिलाने पर भी कठिनता से जागता है, उस नीन्द को निद्रानिद्रा कहते हैं। यह निद्रा जिस कर्म के प्रभाव से आती है, उसे निद्रानिद्रा–दर्शनावरणीय कर्म कहा जाता है।

७-प्रचलादर्शनावरणीय कर्म–खड़े-खड़े या बैठे-बैठे जो नीन्द आती है, वह प्रचला है। जिस कर्म के उदय से जीव को यह निद्रा आती है वह प्रचलादर्शनावरणीय कर्म कहलाता है।

८-प्रचला-प्रचला-दर्शनावरणीय कर्म–जो निद्रा चलते-फिरते आती है, वह प्रचला-प्रचला कहलाती है। पशु चलते-फिरते भी सो जाते हैं, अतः पशुओं की ऐसी निद्रा प्रचला-प्रचला कही जा सकती है। जिस कर्म के प्रभाव से जीव को यह निद्रा आती है, वह प्रचला-प्रचला-दर्शनावरणीय कर्म होता है।

९-स्त्यान-गृद्धि-दर्शनावरणीय कर्म–स्त्यानगृद्धि निद्रा का ही एक अवान्तर भेद है। यह निद्रा बड़ी भयंकर मानी जाती है। जिस मनुष्य को यह निद्रा आती है, निद्रित दशा में उस मनुष्य के पास*

---

*जैन-तत्व प्रकाश में लिखा है कि दो हज़ार शेरों का बल एक अष्टापद पक्षी में, १० लाख अष्टापदों का बल एक बलदेव में, दो बलदेवों का बल एक वासुदेव में, दो वासुदेवों का बल एक चक्रवर्ती में, करोड़ चक्रवर्तियों का बल एक देवता में, करोड़ देवों का बल एक इन्द्र में, अनन्त इन्द्रों से बढ़कर बल एक तीर्थंकर भगवान में होता है, अनन्त इन्द्र मिलकर भी तीर्थंकर भगवान की कनिष्ठिका को झुका नहीं सकते। श्री जैन-सिद्धान्त-बोल-संग्रह के अनुसार, कूप आदि के तट पर बैठे हुए चक्रवर्ती को सांकल में बान्ध कर हाथी, घोड़े, रथ और पैदल आदि सारी सेना सहित ३२ हज़ार राजे खींचने लगे, तो भी

वासुदेव का आधा वल आ जाता है। वासुदेव तीन खण्डों का स्वामी होता है और हज़ारों व्यक्तियों को अकेला ही पछाड़ सकता है। ऐसे वासुदेव की आधी शक्ति जिस निद्रा में मनुष्य को उपलब्ध हो जाती है उसे स्त्यानगृद्धि कहते हैं। इस निद्रा में मनुष्य दिन या रात को सोचे हुए कार्य निद्रित दशा में ही कर डालता है। सुना गया है कि जगती में ऐसे मनुष्य भी हैं जो रात्रि को सोए पड़े निद्रा की दशा में ही उठ खड़े होते हैं। दुकान के वाहिर यदि पांच सौ गेहूं से भरी हुई वोरियां पड़ी हुई हों तो अकेले ही उठाकर आसानी से दुकान के अन्दर रख देते है। जैनदर्शन की मान्यतानुसार यह सव शक्ति स्त्यानगृद्धि निद्रा के प्रभाव से ही सम्प्राप्त होती है। वज्रर्षभ-नाराच संहनन वाले मनुष्य को यह निद्रा आती है। और यह निद्रा दर्शनावरणीय कर्म के प्रताप से आती है। यदि ऐसी निद्रा वाला मनुष्य निद्रित दशा में ही मर जाए तो मर कर नरक-गति में उत्पन्न होता है, ऐसे मनुष्य की गति नरक की मानी जाती है। जिस कर्म की कृपा से मनुष्य को यह स्त्यानगृद्धि निद्रा आती है, उसे स्त्यानगृद्धि-दर्शनावरणीय कर्म कहा जाता है। निद्रादर्शनावरणीय आदि शब्दों की अर्थविचारणा पर यदि गम्भीरता से विचार करते हैं तो इन पदों के दो-दो अर्थ सम्पन्न हो सकते हैं। जैसे-१-निद्रा के कारण दर्शन का आवरण-आच्छादन करने वाला कर्म निद्रादर्शनावरणीय होता है और २-निद्रा को उत्पन्न करने वाला दर्शनावरणीय कर्म-निद्रादर्शनावरणीय कर्म कहा जाता है। पहले अर्थ में निद्रा दर्शनशक्ति की घातिका प्रमाणित होती है क्योंकि सोया हुआ व्यक्ति दिखाई देने वाली वस्तुओं को देख नहीं सकता, और दूसरे अर्थ में-दर्शनावरणीय नामक कर्म निद्रा

वे एक चक्रवर्ती को खींच नहीं सकते, परन्तु उस जन्जीर को वाए हाथ से पकड़ कर चक्रवर्ती ३२ हज़ार राजाओं सहित समस्त सेना को अपनी तरफ आसानी से खींच सकता है। सैद्धान्तिक मान्यता के अनुसार चक्रवर्ती में जितना बल होता है, उससे आधा वल वासुदेव में पाया जाता है।

का* जनक सिद्ध होता है। इस दूसरे अर्थ के आधार पर ही-"दर्शनावरणीय कर्म के प्रभाव से प्राणियों को निद्रा आती है" ऐसे वाक्य प्रयोग में लाए जा सकते हैं, अन्यथा नहीं। इसी प्रकार निद्रा-निद्रादर्शनावरणीय और प्रचलादर्शनावरणीय आदि पदों के अर्थद्वय की कल्पना भी कर लेनी चाहिए। **रहस्यं तु केवलिगम्यम्।**

दर्शनावरणीय कर्म बान्धने के कारण—

दर्शनावरणीय कर्म क्या होता है ? वह कितने प्रकार का माना गया है ? इस सम्बन्ध में ऊपर की पंक्तियों में प्रकाश डाला जा चुका है। अब यहाँ एक प्रश्न और उपस्थित होता है कि दर्शनावरणीय कर्म का बन्धन कैसे होता है ! जैन-दर्शन इस प्रश्न का समाधान करता हुआ कहता है कि दर्शनावरणीय कर्म ६ कारणों★ से बान्धा जाता है। जैसे कि-१-दर्शन की आशातना-बेअदबी, अपमान करना, २-दर्शन-शक्ति को अधिगत करने वाले जीव से ईर्ष्या करना, द्वेष, हसद करना, उस के दोष निकालना, ३-दर्शन गुण का स्वामी होने पर भी उसके अस्तित्व से इन्कार करना, दर्शनशक्ति को छुपाना, ४-जिस व्यक्ति से दर्शन-शक्ति को सम्प्राप्त किया है, उसके नाम को छुपाना । ५-दर्शन की प्राप्ति मे विघ्न उपस्थित करना और ६- दर्शनशक्ति का दुरुपयोग करना। दर्शनावरणीय कर्म को बान्धने के ये ६ कारण ज्ञानावरणीय कर्म को बान्धने के कारणों के समान ही हैं। अतः ज्ञानावरणीय कर्म के बन्धकारणों का जैसा विवेचन पीछे किया गया है, वैसा ही दर्शनावरणीय कर्म के बन्धकारणों का व्याख्यान भी समझना चाहिये। अन्तर केवल इतना है कि वहां ज्ञानावरणीय कर्म का प्रसंग होने से ज्ञान-शब्द का प्रयोग किया गया है जबकि प्रस्तुत में दर्शनावरणीय का

---

*कर्म-परमाणुओं की फल-सम्बन्धी विचित्रता के कारण दर्शन-शक्ति को आवृत करने वाले कर्म-परमाणु ही निद्रा और निद्रानिद्रा आदि निद्राओं की उत्पत्ति का भी कारण बन जाते है।

★भगवती सूत्र शतक ८, उद्देशक ९, सू० ३५१

प्रकरण होने के कारण दर्शन शब्द का। इसके अतिरिक्त भेद वाली अन्य कोई बात नहीं है।

दर्शनावरणीय कर्म फल कैसे देता है ?—

दर्शनावरणीय कर्म का वन्ध कैसे होता ? यह ऊपर बताया जा चुका है, अब प्रश्न यह उपस्थित होता है कि दर्शनावरणीय कर्म जीव को अपना फल कैसे प्रदान करता है ? इस प्रश्न का समाधान करता हुआ जैनदर्शन कहता है कि दर्शनावरणीय कर्म जीव को अपना फल नव प्रकार से देता है और वे नव प्रकार पूर्वोक्त चक्षु-दर्शनावरणीय और अचक्षु-दर्शनावरणीय आदि नव भेद ही समझने चाहियें। भाव यह है कि जब दर्शनावरणीय कर्म उदयोन्मुख होता है तब, श्रोत्र, आंख नासिका, रसना और स्पर्शना ये पांचों इन्द्रियां जिस शक्ति से सामान्य बोध पैदा करती हैं, वह शक्ति कुण्ठित हो जाती है, जो कार्य उसे करना चाहिए, वह नहीं कर पाती, अर्थात् श्रोत्र आदि इन्द्रियों से घट-पदादि पदार्थों की जो साधारण जानकारी होती है, दर्शनावरणीय कर्म उसे आवृत या आच्छादितः कर देता है, बुर्का बन कर उस पर छा जाता है। चक्षुर्दर्शनावरणीय कर्म के उदय से एकेन्द्रिय, द्वीन्द्रिय त्रीन्द्रिय जीवों के जन्म से ही आंखें नहीं होतीं, चतुरिन्द्रिय और पञ्चेन्द्रिय जीवों की आंखें उक्त कर्म के उदय से नष्ट हो जाती हैं, अथवा रतौंधी [रात्रि को दिखाई न देना] आदि के हो जाने से उनसे कम दिखाई देता है। इसी प्रकार शेष इन्द्रियों और मन वाले जीवों के विषय में भी उन इन्द्रियों का और मन का जन्म से न होना अथवा जन्म से होने पर भी कमजोर अथवा अस्पष्ट होना पहिले के समान समझना चाहिए। इसके अतिरिक्त, दर्शनावरणीय कर्म के प्रभाव से १-निद्रा, २-निद्रा-निद्रा, ३-प्रचला, ४-प्रचला-प्रचला और ५-स्त्यानगृद्धि ये पांच प्रकार की जीव को निद्राएँ आती हैं। निद्रा आदि पदों का भावार्थ पीछे पृष्ठ २६२ से लेकर २६३ पर लिखा जा चुका है। इस तरह दर्शनावरणीय कर्म के प्रताप से इस जीव को नव प्रकार का फल भोगना पड़ता है।

दर्शनावरणीय कर्म का उक्त नवविध फल स्वतः और परतः दोनों प्रकार का होता है। मृदु शय्यादि एक या अनेक पुद्गलों का निमित्त पा कर जीव को निद्रा आती है। भैंस के दही आदि का भोजन करने से भी निद्रा का प्रादुर्भाव होता है। इसी प्रकार स्वाभाविक पुद्गल-परिणाम भी निद्रा का कारण बनता है। जैसे वर्षा-काल में आकाश का बादलों से घिर जाना, वर्षा की झड़ी लगना आदि कारण भी निद्रा में सहायक होते हैं। इस प्रकार पुद्गल, पुद्गल-परिणाम और स्वाभाविक पुद्गल परिणाम का निमित्त पाकर जीव में निद्रा का उदय होता है और उसके दर्शनोपयोग का घात करता है, यह परतः अनुभाव समझना चाहिये। स्वतः अनुभाव की रूप-रेखा इस प्रकार है—दर्शनावरणीय कर्म के पुद्गलों के उदय से दर्शनशक्ति का उपघात होता है और जीव दर्शन-योग्य वस्तु देख नहीं पाता, देखने की इच्छा रखते हुए भी नहीं देख सकता, एक बार देख कर वापिस भूल जाता है।

ऊपर की पंक्तियों में दर्शनावरणीय कर्म के स्वरूप को लेकर चिन्तन प्रस्तुत किया गया है। यह कर्म आत्मा के दर्शनगुण को आच्छादित कर देता है। इसकर्म के प्रकोप से सुरक्षित रहने का सर्वोत्तम उपाय बतलाता हुआ जैन दर्शन कहता है कि आत्मा के दर्शनगुण का अपमान मत करो, जिसके पास दर्शन की शक्ति अवस्थित है, उसका सम्मान करो, अपने दर्शन-गुण को कभी मत छुपाओ, जिस व्यक्ति से दर्शन गुण उपलब्ध किया है उसके प्रति सदा कृतज्ञ रहो, जो दर्शन गुण को प्राप्त करने का प्रयास कर रहे हैं उन के मार्ग में बाधक मत बनो, यदि तुम्हें दर्शन-गुण प्राप्त हो गया है तो उसका भूल करके भी दुरुपयोग मत करो, प्रत्युत उसका सदुपयोग करो। यह वह मार्ग है, जिस पर चल कर मनुष्य दर्शनावरणीय कर्म की मार से बच सकता है। संक्षेप में यदि कहें तो—

कर्म दर्शनावरणीय, दर्शन-घातक जान,
'ज्ञानमुनी" इससे, बचो, कहें वीर भगवान।

वेदनीय कर्म

अष्टविध कर्मों में तृतीय वेदनीय कर्म है। इस कर्म के प्रभाव से यह जीव सुख और दुःख दोनों को उपलब्ध करता है। जीवन-शास्त्र का अध्ययन करने से पता चलता है कि जीवन में कभी सुखों की वर्षा होती है और कभी दुःखों की आन्धियां चलती हैं। जीवन में सभी दिन बराबर नहीं होते। कभी अनुकूल और कभी प्रतिकूल परि-स्थितियों का चक्र जीवन में चलता ही रहता है। जीवन की स्थिति बिल्कुल चण्डोल (पंघूडा) जैसी बन जाती है। चण्डोल में बैठने वाले व्यक्ति कभी सब से ऊपर, कभी दरम्यान (मध्य) में और कभी सब से नीचे होते हैं। इसी प्रकार जीवन के चण्डोल में भी कभी सुखों की दृष्टि से बड़ी उच्चता आती है, प्रत्येक दृष्टि से अनुकूल और सुखमय वातावरण होता है, कभी दरमियानी दशा आती है, न तो विशेष दुःख होता है और नाँही विशेष सुख मिलता है और कभी बहुत निचली अवस्था पाई जाती है, निर्धनता-जनित निराशा, अपने यौवन पर होती है, सुख और शान्ति का चिन्ह भी दिखाई नहीं देता। इस तरह जीवन-क्षेत्र में कभी अच्छी, कभी बहुत अच्छी, कभी बहुत ही अधिक अच्छी, कभी बुरी, कभी बहुत बुरी और कभी बहुत ही अधिक बुरी दशा जो देखने को मिलती है, यह सब वेदनीय कर्म का प्रभाव ही समझना चाहिए। वस्तुतः यही कर्म कभी तो जीव को स्वर्गीय सुखों के मोतियों से मालामाल बना देता है, और कभी जीव इस के प्रकोप से सातवीं नरक के दुःखों की भीषण ज्वालाओं में सड़ता हुआ दिखाई देता है।

वेदनीय कर्म के दो भेद—

जैनदर्शन वेदनीय कर्म के स्वरूप का निरूपण करते हुए फरमाता है कि यह कर्म-१-**सातावेदनीय** और २-**असातावेदनीय** इन विकल्पों से

दो प्रकार का होता है। जिस कर्म के प्रताप से जीव सुखों का अनुभव करता है, वह कर्म सातावेदनीय है और जिस कर्म की कृपा से यह जीव दुःख, दर्द और संकट को उपलब्ध करता है उसे असातावेदनीय कहते हैं। व्यक्ति के जीवन में सुख और दुःख ये दोनों ही रूप चलते हैं। कभी यह आनन्द और प्रमोद में फूला नहीं समाता, मयूर की भाँति आनन्द-विभोर हो झूमने लगता है, तो कभी इसे परेशानियां और प्रतिकूल वातावरण ऐसे आकर घेर लेते हैं, कि इसकी आंखों के सामने सदा के लिए अन्धकार छा जाता है, निराशा और हताशा साकार होकर सामने खड़ी दिखाई देती है। अच्छा खाना, अच्छा पीना, अच्छा पहनना और अच्छा ओढना, पुत्र का जन्म, व्यापार में लाभ, सर्वत्र सम्मान की सम्प्राप्ति इन सब स्थितियों में जो प्रसन्नता एवं सुख की उपलब्धि होती है, वह सातावेदनीय कर्म की सत्कृपा का परिणाम-फल है। इसके विपरीत, किसी समय जीवन में विपत्तियों और आपदाओं का जाल सा बिछ जाता है। कभी सरदुखत है, कभी पेट में दर्द है, कभी किसी दुर्घटना के चक्र में फंस जाने से टांग टूट जाती है, महीनों हस्पताल में पड़े रहने से शरीर का एक भाग चेतनाशून्य-नाकारा हो जाता है, किसी टकराव से एक आंख फूट जाती है, बिना पानी के जैसे मछली तड़पती है ऐसे गुरदे का दर्द जीवन को तड़पा देता है, कभी बैठे-बैठे अचानक आंखो में काला मोतिया उतर आता है, कभी जवान पुत्र के मर जाने की खबर कानों में पड़ जाती है, कभी लड़की का वैधव्य मन को खेद-खिन्न बनाने लगता है, कभी व्यापार में हजारों का नुकसान हो जाने से दुकान ठप्प हो जाती है, कभी मकान को आग लग जाती है, जिस से धन-सम्पत्ति का नाश तो होता ही है, परन्तु साथ में धर्मपत्नी भी जल जाती है और कभी मकान की छत गिर जाती है, इस तरह की अन्य भी जितनी विपत्तियाँ हैं, अनिष्ट-प्रद बातें हैं, ये सब असातावेदनीय कर्म के प्रकोप के कारण ही खी जाती हैं।

वेदनीय कर्म कैसे बान्धा जाता है ?–

जीवन के उपवन में जो वसन्त या पतझड़ आता है, यह सब जीव के अपने ही कृत कर्म का फल है, और वह कर्म वेदनीय कहलाता है, वेदनीय कर्म सातावेदनीय और असातावेदनीय इन भेदों से दो प्रकार का माना गया है। सातावेदनीय कर्म से जीव को सुख की प्राप्ति होती है और असातावेदनीय जीवन-गत दुःखों का कारण बनता है। अब यहां प्रश्न यह उपस्थित होता है कि सातावेदनीय कर्म का बन्ध कैसे होता है ? सुख और शान्ति का समुत्पादक यह कर्म किस तरह बान्धा जाता है ? इस प्रश्न का समाधान करता हुआ जैन-दर्शन कहता है कि सातावेदनीय कर्म को वान्धने के दस कारण हैं, वे इस प्रकार है—

१-**प्राणानुकम्पा**—प्राण शब्द द्वीन्द्रिय, त्रीन्द्रिय और चतुरिन्द्रय जीवों का परिचायक है। जगती के जीवों के दुःखों, संकटों, कष्टों और विपत्तियों को अपना ही दुःख संकट, कष्ट और विपत्ति समझने का नाम अनुकम्पा है। स्पशन और रसना इन दो इन्द्रियों वाले, जोंक आदि, स्पशना, रसना घ्राण और इन तीन इन्द्रियों वाले लीख आदि, स्पशना, रसना, घ्राण और चक्षुः इन चार इन्द्रियों वाले मक्खी, मच्छर आदि जीवों के दुःखों को देख कर उन पर रहम खाना, दया-भाव लाना, उन के दुःखों को दूर करने का प्रयास करना प्राणानुकम्पा है। प्राणानुकम्पा वाला व्यक्ति दूसरों की आत्मा में अपनी आत्मा के दर्शन करता है, और अपनी आत्मा में दूसरी आत्माओं के। जिस मनुष्य के हृदय में "**आत्मवत् सर्व-भूतेषु**" की भावना साकार होती है, वह मनुष्य जव कभी किसी जीव को तड़पता देखता है, आकुल-व्याकुल पाता है तो उस की अन्तरात्मा तड़प उठती है, उस का कण-कण सिहर उठता है, और जब तक वह उस के दुःख तथा दर्द को दूर नहीं कर लेता तव तक उसे चैन नही पड़ती। प्राणी के दुःखों को दूर करने का विचार करना और विचारों के अनुसार दुःखियों के तड़पते और बिलखते हुए जीवनों को सुख-शान्ति पहुँचाना, उनकी आपदाओं का परिहार करके उन्हें सुख-सुविधा के समुच्च सिंहासन

पर विराजमान कर देना ही सच्ची प्राणानुकम्पा मानी गई है। जैन-दर्शन की आत्मा की पुकार है कि जिस व्यक्ति के हृदय में ऐसी सच्ची प्राणानुकम्पा होती है वह व्यक्ति सातावेदनीय कर्म का बन्ध करता है।

२-**भूतानुकम्पा**। भूत शब्द आम, सेव, केला, गाजर, मूली, अनार, नाशपाती आदि वनस्पति के जीवों का संसूचक होता है। वनस्पति के जीवन पर दयाभाव रखना, उन की रक्षा के लिए सदा प्रयत्नशील रहना, वनस्पति का कम से कम प्रयोग करना तथा वनस्पति का उपयोग करने वाले व्यक्तियों को दया-भाव-पूर्वक उसके परित्याग का सन्देश या उपदेश देना भूतानुकम्पा है। जिन मनुष्यों के हृदय भूत-दया की भावना से भावित होते हैं, या भूतानुकम्पा की आराधना करते हैं वे वनस्पति के जीवों को बचाते हैं, उन की रक्षा करते हैं, उन के लिए दया और सहानुभूति की आस्था रखते हैं, वे जंगल नहीं कटवाते, उन को आग नहीं लगवाते। जैन-दर्शन कहता है कि ऐसे भूत-दयालु जीव सातावेदनीय कर्म का बन्ध करते हैं।

३-**जीवानुकम्पा**। जीव शब्द पञ्चेन्द्रिय जीवों का बोधक है, मानुष, मानुषी, गाय, भैंस, घोड़ा और हाथी आदि पाँच इन्द्रियों वाले प्राणी जीव शब्द से व्यवहृत किए जाते हैं। पञ्चेन्द्रिय जोवों के दु:ख, शोक और पीड़ा को देख कर उन के प्रति अनुकम्पा भाव रखना, उन के दु:खों एवं क्लेशों को दूर करने का यत्न करना जीवानु-कम्पा होती है। जीवानुकम्पा वाला व्यक्ति कभी मांसाहार नहीं करता, अण्डे भी नहीं चबाता किन्तु जो मांसाहार करते हैं, कबूतर, मूर्गा, सूअर, बकरा आदि मूक पशुओं की गरदनों पर छुरियां चला कर उन का प्राणान्त कर देते हैं, अण्डे खाते है, उन को समझाता है, मांस-त्याग की महत्ता बतलाकर मांसाहार से उन्हें निवृत्त करता है। जैनदर्शन कहता है कि ऐसा दयालु व्यक्ति सातावेदनीय कर्म का बन्ध करता है।

४-**सत्त्वानुकम्पा**। सत्त्व शब्द चतुर्विध स्थावर जीवों का बोधक है। पृथ्वी, जल, अग्नि और वायु-काया के जीव सत्त्व कहलाते हैं।

सत्त्व प्राणियों पर अनुकम्पा करना, इन की हिंसा से बचना और दूसरों को सत्त्व-हिंसा से निवृत्त कराना सत्त्वानुकम्पा है। सत्त्वानुकम्पा करने वाला व्यक्ति सातावेदनीय कर्म का बन्ध करता है। उष्ण आदि प्रासुक जल का सेवन करना, मुख पर मुखवस्त्रिका का प्रयोग कर के बोलना आदि प्रवृत्तियां सत्त्वानुकम्पा के कारण ही साकार रूप लेती हैं।

५-प्राणादि को दुःख न देना। प्राण, भूत, जीव और सत्त्व इन को दुःख न देने से सातावेदनीय कर्म का बन्ध होता है। बाह्य और आन्तरिक निमित्त से पीड़ा का होना दुःख है। किसी भी व्यक्ति को बाह्य और आन्तरिक निमित्तों से परिपीड़ित न करने से सातावेदनीय कर्म को बान्धा जाता है। पूर्व के चार कारणों में प्राणादि चेतनाधारियों पर अनुकम्पा भाव लाने की बात मुख्य है किन्तु इस पांचवें कारण में प्राणादि व्यक्तियों को दुःख न पहुंचाने की बात प्रधान समझनी चाहिए।

६-प्राणादि को शोक न पहुंचाना--प्राण, भूत, जीव और सत्त्व इनको शोक न पहुंचाने से सातावेदनीय कर्म का बन्ध होता है। माता, पिता या मित्र आदि किसी हितैषी व्यक्ति के सम्बन्ध के टूटने से जो चिन्ता व खेद होता है, वह शोक है।

७-प्राणादि को ताप न पहुंचाना--प्राण, भूत, जीव और सत्त्व इन को ताप न पहुंचाने से सातावेदनीय कर्म का बन्ध होता है। अपमान से मन कलुषित होने के कारण जो तीव्र सन्ताप होता है, वह ताप है। श्रीमद्भगवद्गीता में लिखा है कि-**संभावितस्य चाकीर्त्तिः, मरणादतिरिच्यते।** अर्थात्-प्रतिष्ठित व्यक्ति का अपयश मृत्यु से भी बढ़कर होता है। भाव कहने का यह है कि सम्मानित व्यक्ति का अपमान हो जाने पर उसको एक भयंकर वेदना होती है, यह वेदना ही ताप है। विवेकशील व्यक्ति द्वारा किसी व्यक्ति को ताप नहीं पहुंचाना चाहिए, अन्यथा सातावेदनीय कर्म के कल्पवृक्ष की छाया से उसे वञ्चित रहना पड़ेगा।

८-प्राणादि को आक्रन्दित न करना—प्राण, भूत, जीव और सत्त्व इनको आक्रन्दित न करने से सातावेदनीय कर्म का बन्ध होता है। गद्‌गद स्वर (दुःख आदि के अतिरेक के कारण भरे हुए गले से मुँह से अस्पष्ट शब्दों का निकलना) से आँसू गिराने के साथ रोना-पीटना आक्रन्दन है। किसी के जीवन में आक्रन्दन की घड़ी न लाने से सातावेदनीय कर्म का बन्ध पड़ता है।

९- प्राणादि का वध न करना—प्राण, भूत, जीव और सत्त्व इनका वध न करने से सातावेदनीय कर्म का बन्ध होता है। वध का अर्थ है- किसी के प्राणों को लूट लेना। विष के बीज बोकर जैसे अमृत के फल नहीं मिल सकते, वैसे किसी को मारणान्तिक कष्ट पहुंचाकर स्वयं मारणान्तिक कष्ट से बचा नहीं जा सकता, इसीलिए जैन-दर्शन कहता है कि यदि सातावेदनीय कर्म का विशाल भवन खड़ा करना है तो किसी व्यक्ति का वध मत करो, उसके प्राण मत लूटो।

१०—प्राणादि को परिताप न पहुंचाना—प्राण, भूत, जीव और सत्त्व को परिताप न पहुंचाने से सातावेदनीय कर्म का बन्ध होता है। परिताप का अर्थ होता है-बहुत अधिक दुःखानुभूति के कारण काँप उठना। तत्त्वार्थसूत्र में सातावेदनीय कर्म के बन्ध का दसवाँ कारण-"प्राणादि को परिदेवन न पहुंचाना-"ऐसा लिखा है। परिदेवन शब्द-वियुक्त व्यक्ति के गुणों का स्मरण होने से करुणा-जनक रुदन करना, इस अर्थ का परिचायक समझना चाहिये। कर्म-ग्रन्थ में साता-वेदनीय कर्म के बन्धकारणों का निर्देश दूसरी पद्धति से किया गया है। वहां लिखा है कि-१-गुरुओं की सेवा करना, अपने से जो श्रेष्ठ हैं, उन गुरु, माता, पिता, धर्माचार्य, विद्या सिखलाने वाला, ज्येष्ठ भ्राता आदि की सेवा करना। २-क्षमा करना, बदला लेने का सामर्थ्य होते हुए भी अपकारी व्यक्तियों के अपराधों को सहन करना, ३-दया करना, दीन दुःखियों के दुःखों को दूर करने की कोशिश करना, ४-अणुव्रतों और महाव्रतों का पालन करना, ५-साधु की दश-

विध समाचारी का पालन करना, ६-क्रोध, मान, माया और लोभ के वेग से अपनी आत्मा को बचाना, ७-दान करना, सुपात्र व्यक्तियों को आहार, वस्त्र आदि देना, रोगियों को औषधि देना, जो जीव भय से व्याकुल हैं उन्हें भय से छुड़ाना, विद्यार्थियों को पुस्तकों तथा विद्या का दान देना। विद्यादान अन्नदान से भी बढ़कर है, क्योंकि अन्न से क्षणिक तृप्ति होती है परन्तु विद्यादान से जीवन सदा के लिए तृप्त हो जाता है और ८-अपनी आत्मा को धर्म में, सम्यग् दर्शन, ज्ञान और चारित्र में स्थिर करना।

सातावेदनीय कर्म कैसे भोगा जाता है ?–

सातावेदनीय कर्म किन कारणों से बान्धा जाता है ? यह ऊपर की पंक्तियों में बताया जा चुका है। अब प्रश्न यह उपस्थित होता है कि सातावेदनीय कर्म भोगा कैसे जाता है ? जीवात्मा को यह कर्म अपना फल किस पद्धति से प्रदान करता है ? इस प्रश्न का समाधान करता हुआ जैन-दर्शन कहता है कि सातावेदनीय कर्म आठ प्रकार से जीव को अपने फल का भुगतान कराता है। जैसे कि—१-**मनोहर शब्द**—मन को मोहित करने वाले शब्द, २—**मनोहर रूप**– मन को आकर्षित करने वाला आकार, सुन्दर सूरत और शक्ल ,३—**मनोहर गन्ध**–सुगन्धित पदार्थ, —४**मनोहर रस**–मन को प्रमुदित करने वाले मधुर रस, ५—**मनोहर स्पर्श**–दिल को प्रसन्न करने वाले स्पर्श वाली वस्तुएं, ६–**इष्ट सुख**—मन चाहा सुख,-**सुखमय वचन**—सुखोत्पादक वाणीविलास और ८—**शारीरिक सुख**–शरीर का स्वस्थ होना। भाव यह है कि सातावेदनीय कर्म जब उदयाभिमुख होता है तो व्यक्ति की ज़बान से जो शब्द निकलते हैं, बहुत अच्छे निकलते हैं, वे शत्रु का भी दिल चुरा लेते हैं, आकृति बड़ी सुन्दर और आकर्षक प्राप्त होती है, अच्छे सुगन्धित पदार्थों का समागम होता है, खाने के लिए स्वादिष्ट और मधुर पदार्थों की प्राप्ति होती है, कोमल और मृदु स्पर्श वाली वस्तुएं मिलती हैं, मन में चाही सभी बातें पूरी होती हैं, अच्छे-अच्छे हितकारी और आन-

न्द-जनक शब्द सुनने को मिलते हैं, शारीरिक दृष्टि से स्वास्थ्य पूर्ण नीरोग और निर्दोष रहता है।

असातावेदनीय कर्म कैसे बान्धा जाता है ?—

सातावेदनीय कर्म की बन्ध-सामग्री कौनसी है ? यह ऊपर की पंक्तियो में बताया जा चुका है। अब प्रश्न यह उपस्थित होता है कि असातावेदनीय कर्म का बन्ध कैसे पड़ता है ? इसकी बन्ध-सामग्री कौनसी है ? जैन-दर्शन इस प्रश्न का समाधान करता हुआ कहता है कि असातावेदनीय कर्म बारह तरह से बान्धा जाता है, जैसेकि-१-प्राण, भूत, जीव और सत्त्व को दु:ख देना। २-प्राणादि को शोक पहुंचाना, ३-प्राणादि को ताप पहुंचाना, ४-इन से आक्रन्दन कराना, इनको रुलाना ५-इनकी मार-पीट करना, ६-इनको परिताप देना। दु:ख आदि शब्दों का अर्थ पीछे सातावेदनीय के बन्ध-कारणों में लिखा जा चुका है, ७-इनको बहुत दु:ख देना, ८-इनको बहुत शोक पहुंचाना, ९-इनको बहुत सन्तप्त करना, १०-इनको बहुत रुलाना, ११-इनकी बहुत मार-पीट करना, और १२-इनको बहुत-परिताप पहुंचाना। इन बारह बन्ध-कारणों को यदि हम संक्षेप में अभिव्यक्त करना चाहें तो इतना ही कहना पर्याप्त होगा कि छोटे-बड़े किसी भी जीवन को परेशान करना, उसके अरमानों [कामनाओं] के साथ खेलना, इस के आबाद जगत को बर्बाद कर देना, उसके शान्ति-पूर्ण वातावरण को अशान्ति की भीषण, जाज्वल्यमान ज्वालाओं से जलाकर राख बना देना, असातावेदनीय कर्म को जन्म देना हैं, और उसका सम्पोषण करना है।

असातावेदनीय कर्म कैसे भोगा जाता है ?—

सातावेदनीय कर्म का भुगतान कैसे होता है ? यह किस तरह से जीव को अपने फल का भुगतान करवाता है ? यह ऊपर की पंक्तियों में निवेदन किया जा चुका है, अब प्रश्न यह उपस्थित होता है कि असातावेदनीय कर्म का भुगतान कैसे किया जाता है ? यह फलोन्मुख होता हुआ व्यक्ति के जीवन में कैसे-कैसे हालात उपस्थित करता है ? इस प्रश्न

का समाधान करता हुआ जैन-दर्शन कहता है कि असातावेदनीय कर्म आठ प्रकार से भोगा जाता है, जैसेकि-१-अमनोज्ञ शब्द-दिल को अच्छे न लगने वाले शब्द, २-अमनोज्ञ रूप-खराब आकृति, शकल, ३-अमनोज्ञ गन्ध-दुर्गन्धि-पूर्ण पदार्थ, ४-अमनोज्ञ रस-मन को बुरे लगने वाले रस-युक्त पदार्थ, ५-अमनोज्ञ स्पर्श-कठोर और दुःखद स्पर्श वाली वस्तुएं, ६-खराब मन-दूषित विचार-धारा, ७-बुरे वचन-कानों को अप्रिय लगने वाला वाणी-विलास, ८-अमनोज्ञ शरीर-रोगी और अस्वस्थ शरीर। इन सब का अभिप्राय यह है कि असातावेदनीय कर्म जब जीव को आक्रान्त कर लेता है तब रसना से ऐसे निकृष्ट और बुरे शब्द निकलते हैं, कि सुनने वाला मित्र भी शत्रु बन जाता है, शरीर का आकार प्रकार ऐसा खराब मिलता है कि लोग देखना भी पसन्द नहीं करते, दुर्गन्ध-मय वातावरण प्राप्त होता है, दिल को अच्छा न लगने वाला भोजन मिलता है, कठोर और शरीर को न सुहाने वाले स्पर्श की वस्तुएं उपलब्ध होती हैं, हृदय की लालसा कभी पूर्ण नहीं होती, जो सोचा जाता है, उससे बिल्कुल उलट होता है, कानों को दुःख-दायक शब्द सुनने पड़ते हैं, घर वाले और अड़ौसी-पड़ौसी ऐसे-ऐसे शब्द कहते हैं कि जिनको सुनकर कलेजा मुँह को आता है, शरीर बारह महीने, ३० तीस दिन का रोगी होता है, कभी सर दुखता है, कभी पेट में दर्द रहता है, कभी नज़ला (प्रतिश्याय) जीवन की शान्ति को समाप्त कर देता है। इस तरह जो भी सामग्री मिलती है, वह दुःख का ही कारण बनती है, सुख और ऐश्वर्य तो ढूंढने पर भी प्राप्त नहीं होता। जीवन बोझ रूप बन जाता है, जीने से मृत्यु को अधिक श्रेष्ठ मानने की स्थिति पैदा हो जाती है। सारांश यह है कि असातावेदनीय कर्म के प्रकोप से जीवन में जो भी चक्र चलता है, वह दुःख, क्लेश, शोक और परिताप का ही कारण बनता है, असातावेदनीय कर्म की छाया तले सुख-शान्ति का तो चिह्न भी दिखाई नहीं देता।

ऊपर की पंक्तियों में वेदनीय कर्म के स्वरूप को लेकर चिन्तन

प्रस्तुत किया गया है। वेदनीय कर्म का स्वरूप प्रकाश कर लेने पर यह बात बिल्कुल स्पष्ट हो जाती है कि यह कर्म जीवन में सुख और दुःख दोनों की सृष्टि करता है। जब सुख देने लगता है, या सुखों की वर्षा करता है तो यह सातावेदनीय कहलाता है और जब इससे दुःखों, संकटों और आपदाओं की आन्धियां चलती हैं, और यह जीवन को दुःखमय बना डालता है, तब इसे असातावेदनीय कहा जाता है। दुःखों के बीज बोने पर असातावेदनीय कर्म के फल लगते हैं और सुखों के बीज बोने पर जीवन की वाटिका सुख, शान्ति के पुष्पों की सुगन्धि से महकने लगती है। जैन-दर्शन कहता है कि जो मनुष्य दुःखों से बचना चाहता है, उसे दुःखों के बीज नहीं बोने चाहियें और जो मनुष्य सुखों के झूले पर झूलना चाहता है उसे सुखों के बीज बोकर दुःखी और खेदखिन्न व्यक्तियों को सुखी बनाने का प्रयास करना चाहिए। इसके अतिरिक्त, यह भी समझ लेना चाहिये कि साता-वेदनीय कर्म का अनुभाव-फल परतः और स्वतः दोनों तरह से होता है। माला, चन्दन आदि एक या अनेक पुद्गलों का भोगोपभोग करके जीव सुख का अनुभव करता है। देश, काल, वय और अवस्था के अनुरूप आहार परिणामरूप पुद्गलों के परिणाम से भी जीव साता-सुख का अनुभव करता है, इसी प्रकार स्वाभाविक पुद्गल-परिणाम भी समझना चाहिए। जैसे वेदना के प्रतिकार-रूप शीतोष्णादि का निमित्त पाकर जीव सुख का अनुभव करता है। इस प्रकार पुद्गल, पुद्गल-परिणाम और स्वाभाविक पुद्गल-परिणाम का निमित्त पाकर होने वाला सुख का अनुभाव सापेक्ष है। मनोज्ञ शब्दादि विषयों के बिना भी सातावेदनीय कर्म के उदय से जीव जो सुख का उपभोग करता है, वह निरपेक्ष अनुभाव है। तीर्थंकर भगवान के जन्मादि के समय होने वाला नारकी का सुख ऐसा निरपेक्ष ही होता है। साता-वेदनीय कर्म की भाँति असातावेदनीय कर्म का अनुभाव भी परतः और स्वतः दोनों तरह का होता है। विष, शस्त्र, कण्टकादि का निमित्त

पाकर जीव दुःख भोगता है। अपथ्य आहार रूप पुद्गल-परिणाम भी दुःखकारी होता है। अकाल में अनिष्ट शीतोष्णादिरूप स्वाभाविक पुद्गल-परिणाम का भोग करते हुए जीव के मन में असमाधि होती है। और इस से यह असाता-दुःख का अनुभव करता है। यह परतः अनुभाव समझना चाहिये। असातावेदनीय कर्म के उदय से बाह्य-निमित्तों के न होते हुए भी जीव को दुःख का जो उपभोग करना पड़ता है, यह स्वतः अनुभाव जानना चाहिए।

जिन मनुष्यों का यह विचार है कि जीवन में आने वाला सुख या दुःख ईश्वर या किसी देवी और देवता के द्वारा मिलता है उन्हें वेदनीय कर्म के स्वरूप का भली-भाँति चिन्तन करना चाहिए और यह समझना चाहिए कि जीवन में जो दुख और सुख का चक्र चलता है, वह न तो ईश्वर चलाता है और नाँही किसी देवी और देवता का इसमें हाथ है। सुख-दुःख का कारण मनुष्य स्वयं है, अपने शुभ और अशुभ कर्म ही इसे सुखी और दुःखी बनाते हैं। इसलिए कविता की भाषा में कहा गया है—

सुख, दुख दाता जगत में, वेदनीय है कर्म ।
"ज्ञानमुनी" सुखवान हो, सुख पावे का मर्म ॥

मोहनीय कर्म

अष्टविध कर्मों में मोहनीय का चतुर्थ स्थान है। जो कर्म आत्मा को मोहित करता है, भले और बुरे के विवेक से शून्य कर देता है, उसे मोहनीय कर्म कहते हैं। जिस प्रकार मदिरा का नशा मनुष्य में अपने हित और अहित का बोध नहीं रहने देता, ठीक वैसे ही मोहनीय कर्म जीव को हानि-लाभ के विवेक से रहित कर देता है, किसी समय यदि हिताहित का ध्यान आता भी है तो मोहनीय कर्म उस पर भी आचरण नहीं करने देता। अतएव कर्मशास्त्र के मर्मज्ञ आचार्यों ने मोहनीय कर्म को मदिरा के तुल्य बतलाया है।

शास्त्रों का परिशीलन करने से पता चलता है कि मदिरा ने मनुष्य के जीवन को बहुत अधिक हानि पहुँचाई है। पहले तो मनुष्य ग़म को ग़ल्त करने के लिए इस का सेवन करते हैं, परन्तु अन्त में ये स्वयं ही ग़ल्त हो जाते हैं। प्रातःकाल मदिरा-सेवी मदिरापान की जितनी चाहे निन्दा करे, पर जब प्याली पीने का समय आता है तो वे सब बातें भूल जाता है। चाहे बच्चे भूखे मरते रहें, परन्तु मदिरा-सेवी को उन पर ज़रा तरस नहीं आता। मदिरा ने जवानों की जवानियां नष्ट कर दीं। स्वर्गपुरी जैसी द्वारका-नगरी को जला कर राख की ढेरी बनाने वाली भी मदिरा-सेवन की नीचतम प्रवृत्ति ही थी। मदिरा-सेवन से मनुष्य की जो अविवेकपूर्ण स्थिति बनती है, वैसी ही दशा जीव की मोहनीय कर्म बना डालता है।

मोह कर्मों का सेनापति माना जाता है, इसे पराजित करना बड़ा कठिन कार्य है, साधारण मनुष्य की क्या बात है? बड़े-बड़े तपस्वी महापुरुष भी इस कर्म की भीष्म शक्ति के आगे नतमस्तक हो जाते हैं। तप की साक्षात् मूर्ति इन्द्रभूति गौतम मोह के कारण ही भगवान महावीर की अवस्थिति में केवल-ज्ञान की प्राप्ति नहीं कर सके।

श्री शालि-भद्र जी महाराज को मोह के कारण ही एक जन्म और लेना पड़ेगा। तुलसी-रामायण की मान्यता के अनुसार महाराजा दशरथ ने मोह के कारण ही प्राण गंवाए, कैकेयी ने भरत के मोह के कारण ही सूर्यवंशियों के सूर्य भगवान राम को बनवासी बना दिया। चिड़िए, कबूतर मोह के कारण ही अपने बच्चों को चोगा देते हैं। चींटियाँ सामान ढोती रहती हैं, मक्खिएं मधु तैयार करती हैं, ये सब मोह के ही साकार चित्र हैं।

मोहगर्भित वैराग्य--

वैसे तो मोह को हेय माना जाता है, परन्तु कभी-कभी मोह वैराग्य का कारण भी बन जाता है। इन्द्रियों के विषय-भागों से उदासीन होना वैराग्य है। यह तीन प्रकार का होता है जैसेकि १-**दुःखगर्भित**—किसी संकट के आने पर विरक्ति का उत्पन्न होना, २-**मोहगर्भित**—यदि पुत्री साध्वी बनती है, तो मोह के कारण माता भी दीक्षित हो जाती है, पिता साधु बनता है, तो साथ में अपने पुत्रों को भी साधु बना लेता है। मोह के कारण वैराग्य-दशा प्राप्त होने के कारण इस वैराग्य को मोहगर्भित कहा गया है। ३-**ज्ञानगर्भित**-पूर्व संस्कार या गुरूपदेश से आत्मज्ञान होने पर असार संसार का त्याग कर देना। यह वैराग्य सर्वोत्कृष्ट माना जाता है।

मोहनीय कर्म के दो भेद--

मोहनीय कर्म के १-**दर्शनमोहनीय** और २-**चारित्रमोहनीय** ये दो भेद होते हैं। जो पदार्थ जैसा है, उसे उसी रूप में समझना दर्शन है, अर्थात् सच्चे विश्वास को दर्शन कहते हैं। यह आत्मा का गुण है। इस दर्शन को मोहित-नष्ट करने वाले कर्म को दर्शन-मोहनीय कहते हैं। जिस अनुष्ठान के द्वारा आत्मा अपने असली स्वरूप को पाता है, वह चारित्र है, यह भी आत्मा का गुण है, इस को मोहित करने वाले कर्म को चारित्र-मोहनीय कहा जाता है।

दर्शनमोहनीय के ३ भेद—

दर्शन-मोहनीय क्या होता है? यह ऊपर बताया जा चुका है। दर्शनमोहनीय की विस्तृत व्याख्या करता हुआ जैन दर्शन इस के **१-सम्यक्त्व मोहनीय २-मिथ्यात्व मोहनीय** और **३-मिश्रमोहनीय** ये तीन भेद बतलाता है। सम्यक्त्व मोहनीय का अर्थ है—वह कर्म जो तत्त्व-श्रद्धान का कारण होकर भी औपशमिक या क्षायिक भाव वाली रुचि में बाधक बनता है।

१—सम्यक्त्व मोहनीय की व्याख्या-सम्यक्त्व-मोहनीय में सम्यक्त्व और मोहनीय ये दो पद हैं। सम्यक्त्व क्या होता है? यह भी समझ लेना आवश्यक है। सम्यक्त्व अध्यात्म-साधना की आधारशिला है। सम्यक्त्व के निश्चय और व्यवहार ये दो भेद हैं। आध्यात्मिक विकास से उत्पन्न एक प्रकार का आत्मिक परिणाम जो ज्ञेयमात्र को तात्त्विकरूप में जानने की, हेय को त्यागने की और उपादेय को ग्रहण करने की रुचिरूप है, वह निश्चय सम्यक्त्व है, और इस रुचि के बल से होने वाली धर्म-तत्त्व-निष्ठा का नाम व्यवहार सम्यक्त्व है। जैन-दर्शन की मान्यता के अनुसार सम्यक्त्व धर्मरूप वृक्ष का मूल है, धर्मरूपी नगर का द्वार है, धर्मरूपी महल की नींव है, धर्मरूपी जगत का आधार है, धर्मरूपी वस्तु को धारण करने का पात्र है, धर्मरूपी निधि-कोष है।

सम्यक्त्व दो पद्धतियों से उत्पन्न होता है-१-**निसर्ग**—स्वभाव से और २-**अधिगम**-उपदेश से। अनादिकालीन संसार-प्रवाह में तरह-तरह के दु:खों का अनुभव करते-करते योग्य आत्मा में कभी ऐसी परिणाम-शुद्धि हो जाती है—जो उस के लिए अपूर्व ही होती है। इस परिणाम-शुद्धि को अपूर्वकरण कहते हैं। अपूर्वकरण से राग-द्वेष की तीव्रता मिट जाती है, जो तात्त्विक पक्षपात [सत्य में आग्रह] की बाधक है। ऐसी राग-द्वेष की तीव्रता मिटते ही आत्मा सत्य के लिए जागरूक बन जाती है, यह आध्यात्मिक जागरण ही सम्यक्त्व कहलाता है। सम्यक्त्व के योग्य आध्यात्मिक जागृति हो जाने पर किसी आत्मा को उसके आविर्भाव में बाह्य निमित्त की अपेक्षा रहती है और किसी को नहीं। यह जानी-मानी बात है कि कोई व्यक्ति शिक्षक आदि की

मदद के बिना अपने आप ही शिल्प आदि कला सीख लेता है और कोई मदद से इस कला को सीख पाता है। इसी तरह सम्यक्त्व की प्राप्ति के लिए आन्तरिक निमित्त की समानता होने पर भी कोई व्यक्ति बाह्य कारण-सामग्री की अपेक्षा रखता है, किसी को उस निमित्त की अपेक्षा नहीं होती। बिना किसी बाह्य निमित्त के अपने-आप ही जो सम्यक्त्व प्राप्त होता है, वह नैसर्गिक-स्वाभाविक सम्यक्त्व है और उपदेश, सत्संग, शास्त्रस्वाध्याय और गुरु-दर्शन आदि निमित्तों से जो सम्यक्त्व प्रकट होता है वह आधिगमिक माना गया है।

सम्यक्त्व के तीन भेद—

सम्यक्त्व १-कारक, २-रोचक और ३-दीपक, इन भेदों से तीन प्रकार का भी होता है। जिस सम्यक्त्व के होने पर जीव सदनुष्ठान में श्रद्धा करता है, स्वयं सदनुष्ठान का आचरण करता है, दूसरों से करवाता है, वह कारक सम्यक्त्व है। जिस सम्यक्त्व के होने पर जीव सदनुष्ठान में केवल रूचि रखता है, परन्तु स्वयं उसका आचरण नहीं कर पाता वह रोचक सम्यक्त्व है। यह *चतुर्थ गुण-स्थानवर्ती जीव में पाया जाता है। श्री कृष्ण, महाराजा श्रेणिक में यही सम्यक्त्व था। जो मिथ्यादृष्टि स्वयं तत्त्व-श्रद्धान से शून्य होते हुए भी दूसरों में उपदेशादि के द्वारा तत्त्व के प्रति श्रद्धा उत्पन्न करते हैं उस सम्यक्त्व को दीपक-सम्यक्त्व माना जाता है। सम्यक्त्व के कारण [उपदेशादि] में कार्य का उपचार करके इसे सम्यक्त्व माना है, वैसे मिथ्यादृष्टि के साथ सम्यक्त्व का कोई सम्बन्ध नहीं है।

सम्यक्त्व के ५ चिन्ह—

सम्यक्त्व किस में पाया जाता है, और किस में नहीं ? यह जानने

---

*गुणों—आत्मशक्तियों के स्थानों—क्रमिक विकास की अवस्थाओं को या गुणों के स्थानों [पर्यायों] को गुणस्थान कहते हैं। ये मिथ्यादृष्टि, सास्वादन-सम्यग्दृष्टि, मिश्रदृष्टि, अविरतसम्यग्दृष्टि, देशविरति प्रमत्त-संयत और अप्रमत्तसंयत आदि भेदों से चौदह प्रकार के माने गए हैं।

के लिए जैन-दर्शन ने ५ लिंग-चिन्ह बताए हैं। जैसेकि-१-शम-तत्त्वों के असत् पक्षपात से होने वाले कदाग्रह आदि दोषों की उपशान्ति, कषायों के उपशम से होने वाला शान्तिभाव, २-संवेग-सांसारिक बन्धनों [रागद्वेष] का भय, मनुष्य और देव के सुखों का परित्याग कर के मोक्ष-सुख की इच्छा, ३-निर्वेद-विषयों में आसक्ति का कम होना, संसार से उदासीनता, वैराग्यभाव, ४-अनुकम्पा-दुःखियों के दुःखों को मिटाने की भावना। इसके द्रव्य और भाव ये दो भेद होते हैं, शक्ति होने पर दुःखियों के दुःख मिटाना द्रव्यानुकम्पा है, दुःखियों के दुःख को देखकर दया से हृदय का कोमल होना भावानुकम्पा है। और ५-आस्तिक्य-आत्मा और परमात्मा आदि परोक्ष किन्तु युक्ति-सिद्ध पदार्थों को स्वीकार करना, धर्मास्तिकाय और अधर्मास्तिकाय आदि पदार्थों पर विश्वास लाना। जिस व्यक्ति में ये पांच बातें हों, समझ लेना चाहिए कि वह सम्यक्त्वी है।

प्रवचन-सारोद्धार में सम्यक्त्व के तीन लिंग भी लिखे हैं-१-श्रुत-धर्म में राग, २-चारित्रधर्म में राग, और ३-देवगुरु की वैयावृत्य का नियम। जिस प्रकार तरुण मनुष्य रागरंग में अनुरक्त रहता है सम्यक्त्वी इससे भी अधिक शास्त्र-श्रवण में अनुरक्त रहता है, जिस प्रकार तीन दिनों का भूखा मनुष्य खीर आदि आहार को रुचि-पूर्वक करता है, सम्यक्त्वी उससे भी अधिक चारित्र पालने की भावना रखता है। देव और गुरु में पूज्य-भाव रखना, उनका आदर सत्कार करना ही देवगुरु के वैयावृत्य का नियम समझना चाहिए।

सम्यक्त्व के पांच भूषण—

आभूषणों से जैसे व्यक्ति शृंगारित होता है, वैसे ५ भूषणों से सम्यक्त्व का महादेव विभूषित होता है। वे ५ भूषण इस प्रकार हैं— १-जिन-शासन में निपुण होना, २-जिन-शासन की प्रभावना करना, जिन शासन के गुणों को दिपाना, जिन-शासन की महत्ता प्रकट हो ऐसे कार्य करना, ३-साधु साध्वी आदि चार तीर्थों की सेवा करना, ४-शिथिल, धर्म-भ्रष्ट लोगों को धर्मोपदेश आदि के द्वारा धर्म में स्थिर

करना, और ५-अरिहन्त, साधु तथा गुणवान पुरुषों का आदर, सत्कार करना, उन की विनय-भक्ति करना।

सम्यक्त्व के ५ अतिचार—

अनन्त संसार में भटकता हुआ भव्य जीव जब मिथ्यात्व की गांठे खोलता है, तब उसे सम्यक्त्व की प्राप्ति होती है। सम्यक्त्व एक रत्न है, जो सर्वश्रेष्ठ है, इससे श्रेष्ठ कोई रत्न नहीं है। यह एक बन्धु है, इससे बड़ा संसार में कोई बन्धु नहीं है। यह एक मित्र है, इससे बढ़कर कोई मित्र नहीं, और यह एक ऐसा लाभ है, जिसके सामने संसार के अन्य सब लाभ तुच्छ हैं। इसलिए ज्ञानी पुरुषों का कथन है कि सम्यक्त्व की प्रत्येक दृष्टि से सुरक्षा करनी चाहिए। इन को दूषित करने वाले ५ स्थान हैं, इन से सदा बचना चाहिऐ। ये पांच स्थान ये हैं—१-शङ्का-अरिहन्त भगवान से प्रतिपादित धर्मास्तिकाय आदि गहन पदार्थों की सम्यग् धारणा न होने से सन्देह करना। २-कांक्षा—अन्य सिद्धान्तों की चाह करना। ३-विचिकित्सा-क्रिया के विषय में फल के प्रति सन्देह करना कि तप आदि अनुष्ठानों का भविष्य में लाभ होगा या नहीं। शंका और विचिकित्सा में इतना ही अन्तर होता है कि शंका सैद्धान्तिक विषयों में होती है और विचिकित्सा क्रिया के फलके विषय में होती है। ४-परपाषण्डप्रशंसा-अन्य मत वालों की प्रशंसा करना, और ५-पर-पाषण्डी-संस्तव--अन्य मत वालों के साथ मर्यादा से अधिक संवास, आलाप, संलाप आदि करना।

सम्यक्त्व की प्राप्ति के लिए देव, गुरु और धर्म इन तीनों के प्रति सच्ची आस्था रखनी अत्यावश्यक होती है। अरिहन्त भगवान को देव समझना, ज़र, जोरु और ज़मीन के त्यागी तथा पांच महाव्रतधारी व्यक्ति को साधु जानना, अहिंसा [हिंसा न करना, तथा परिपीड़ित प्राणियों की रक्षा करना] में धर्म मानना, सम्यक्त्व का वास्तविक

× सम्यक्त्वरत्नान्न परंहि रत्नं, सम्यक्त्वबन्धोर्न परोऽस्ति बन्धुः।
सम्यक्त्वमित्रान्न परं हि मित्रं, सम्यक्त्वलाभान्न परोऽस्ति लाभः॥

स्वरूप होता है। यह बात अच्छी तरह समझ लेनी चाहिये कि रागी, द्वेषी व्यक्ति परमात्मा नहीं होता, शस्त्रधारी, स्त्री के पुजारी, संसार को दुःख देने वाले वीतराग नहीं होते। सीता, पार्वती, लक्ष्मी भले ही हमारे लिए मातास्वरूपा हैं, किन्तु उन के पतियों के लिए ये पत्नियां हैं, जहां पतिपत्नी-भाव है, वहां विकार हैं, जहां विकार हैं, वहां राग-द्वेष है, जहां रागद्वेष है, वहां वीतरागता नहीं, जहां वीतरागता नहीं, वहां अरिहंत-भाव नहीं रह पाता। क्योंकि अरिहंत सर्वथा निर्विकार होते हैं, इसी लिए जैनदर्शन अरिहन्त भगवान को अपना देव मानता है। सम्यक्त्व की प्राप्ति के लिए दूसरी बात साधु-सम्बन्धिनी सच्ची आस्था है। एक विचारक कहता है—साध वही जो साधे काया, पैसा एक न रखे माया। जिन सन्तों के बैंकों में अकौण्ट हैं, बड़ी-बड़ी जायदाद के जो मालिक हैं, बाल-बच्चेदार हैं, वे सन्त कैसे? लुधियाना में जैन-स्थानक के सामने एक ठाकुरद्वारा है, वहां के महन्त के लड़के का विवाह था, एक दिन महन्तनी मेरे पास आई, बोली—आप भी साधु, हम भी साधु, फिर आप मेरे लड़के की बारात क्यों नहीं जाते? साधुओं की बारात में यदि साधु नहीं जाएंगे तो फिर कौन जायगा? महन्तनी की बात सुनकर मुझे बड़ी हंसी आई। मैंने कहा-माई! सेहरे बान्धने वाले भी यदि साधु होने का दम भरेंगे, तो साधु और गृहस्थ में क्या अन्तर रहेगा? सच्चा साधु संसार के इन झञ्झटों से सर्वथा उन्मुक्त तथा पांच महाव्रतधारी होता है। सम्यक्त्व की तीसरी बात सच्ची धार्मिक आस्था है। धर्म दया में है, कुर्बानी देने में धर्म नहीं होता। कुछ लोग बलि देने में धर्म मानते हैं, यज्ञों में मूक पशुओं का बलिदान करते हैं। आज भी देवी-मन्दिरों में सूयरों, झोटों, और बकरों की बलि दी जाती है, उस पर धर्म की मोहर लगाई जाती है। सम्यक्त्व कहता है—हिंसा के साथ धर्म का कोई सम्बन्ध नहीं, धर्म के सिंहासन पर हिंसा की राक्षसी नहीं बैठ सकती। अमावस्या और पूर्णिमा का क्या मेल? धर्म और पाप कभी इकट्ठे नहीं बैठ सकते। विष और अमृत का मेल कैसा? इस तरह असत्य को सत्य समझना और

असत्य को असत्य के रूप में निहारना सम्यक्त्व माना गया है। इस सम्यक्त्व का घात करने वाला कर्म सम्यक्त्व-मोहनीय होता है।

शुभ और अशुभ फल देने की कर्म की मन्द या सामान्य शक्ति एक-स्थानक कहलाती है। अतः सम्यक्त्व-मोहनीय कर्म के पुद्गलों का जो स्वाभाविक रस है, वह एक-स्थानक है, तीव्र शक्ति द्विस्थानक, तीव्रतर शक्ति त्रिस्थानक और तीव्रतम शक्ति को चतुःस्थानक कहते हैं। इसे उदाहरण से समझिए जैसे ईख या नीम का रस है। एक मीठा है, दूसरा कटु। एक सेर रस को पका कर यदि रस के एक हिस्से को जला दिया जाए तो बचा हुआ पादोन भाग द्विस्थानक है, यह स्वाभाविक रस की अपेक्षा अधिक कटु अथवा अधिक मधुर होता है, यदि एक सेर रस के दो हिस्से जला दिये जाएं तो बचे हुए दो हिस्सों को त्रिस्थानक कहते हैं। यह रस पूर्व की अपेक्षा अधिकतर कटु और अधिकतर मधुर होता है, यदि तीन भाग जला दिए जाएं तो बचा हुआ पाव भर रस चतुःस्थानक है। यह रस कटुतम और मधुरतम बन जाता है। जीव को हिताहित की परीक्षा में विकल बनाने वाले मिथ्यात्व-मोहनीय कर्म के पुद्गलों का चतुःस्थानक, त्रिस्थानक और द्विस्थानक रस जहां नष्ट हो जाए केवल एक-स्थानक रस रह जाए ऐसे एक-स्थानक रस वाले मिथ्यात्वमोहनीय के पुद्गलों को सम्यक्त्व-मोहनीय कहा जाता है। यह कर्मपुद्गल शुद्ध होने के कारण तात्त्विक-रुचि रूप सम्यक्त्व में बाधा नहीं डालते, किन्तु इस के उदय से आत्मा को स्वभावरूप औपशमिक सम्यक्त्व तथा क्षायिक सम्यक्त्व नहीं होने पाता और सूक्ष्म पदार्थों के विचारने में शंकाएं बनी रहती हैं, जिस से सम्यक्त्व में मलिनता आ जाती है, इसी दोष के कारण इसे सम्यक्त्व-मोहनीय कहते हैं।

सम्यक्त्व-मोहनीय जिन-प्रणीत तत्त्वों पर श्रद्धानात्मक सम्यक्त्व रूप से भोगा जाता है, दर्शन का सर्वथा घात भी नहीं करता, फिर इसे दर्शनमोहनीय के भेदों में क्यों गिना जाता है? इस प्रश्न का समाधान करते हुए जैनदर्शन कहता है कि जैसे चश्मा आंखों का आच्छादक,

होने पर भी देखने में रुकावट नहीं डालता, उसी प्रकार शुद्ध दलिक रूप होने से सम्यक्त्व-मोहनीय भी तत्त्वार्थश्रद्धान में रुकावट नहीं करता, परन्तु चश्मे की तरह आवरण-रूप तो है ही।

२—मिथ्यात्व-मोहनीय की रूप-रेखा—

दर्शन-मोहनीय का दूसरा भेद मिथ्यात्व-मोहनीय है। इसका अर्थ है—जिस कर्म के उदय से तत्त्वों के यथार्थ रूप की रुचि न हो। इस कर्म के उदय से जीव को हित में अहित और अहित में हित की बुद्धि होती है। इसके कर्म-पुद्गलों में चतुःस्थानक त्रिस्थानक, और द्विस्थानक रस पाया जाता है, जिस प्रकार रोगी को पथ्य वस्तुएं अच्छी नहीं लगतीं, और कुपथ्य वस्तुएं अच्छी लगती हैं, इसी प्रकार जब मिथ्यात्व-मोह का उदय होता है, तब जीव को जैन-धर्म पर द्वेष और जैनेतर धर्म पर राग होता है। इस कर्म के प्रभाव से अदेव में देवबुद्धि-अधर्म में धर्म-बुद्धि और अगुरु में गुरु-बुद्धि पैदा हो जाती है।

मिथ्यात्व शल्य है—

शल्य का अर्थ है—जिससे पीड़ा हो। यह द्रव्य और भाव इन भेदों से दो प्रकार का होता है। काण्टा, भाला आदि द्रव्य शल्य हैं, और भाव शल्य तीन प्रकार के होते हैं। जैसेकि-१-माया=कपट-भाव रखना, अतिचार दोष लगा कर छल से उसकी आलोचना करना, करना कुछ किन्तु बतलाना कुछ, अर्थात् गुरु महाराज के समक्ष उसे अन्यरूप से निवेदन करना, दूसरे पर झूठे आरोप लगाना, २-निदान=देव, राजा, रानी या सेठ आदि के वैभव को देख या सुनकर मन में यह संकल्प करना कि मेरे द्वारा आचरण किये हुए ब्रह्मचर्य, तपस्या आदि अनुष्ठानों के फलस्वरूप मुझे अमुक ऋद्धि प्राप्त हो, अपनी अध्यात्म साधना को सांसारिक ऐश्वर्य के लिए बेचना, और ३-मिथ्या-दर्शन=देव, गुरु और धर्म के प्रति विपरीत तथा अयथार्थ श्रद्धा रखना। इस विवेचन से यह स्पष्ट है कि मिथ्यात्व भी एक शल्य है, जो जीवन को सदा परिपीड़ित करता रहता है।

मिथ्यात्व के पांच भेद–

कहा जा चुका है कि तत्त्वों के विपरीत या अयथार्थ श्रद्धान रूप जीव के परिणाम को मिथ्यात्व कहते हैं। कर्म-ग्रन्थ की मान्यतानुसार इसके पांच प्रकार होते हैं। जैसेकि-१-**आभिग्रहिक मिथ्यात्व**-तत्त्व की परीक्षा किए बिना ही पक्षपात-पूर्वक एक सिद्धान्त का आग्रह करना और अन्य पक्ष का खण्डन करना, २-**अनाभिग्रहिक मिथ्यात्व**-गुण, दोष की परीक्षा किए बिना ही सब पक्षों को बराबर समझना, ३-**आभिनिवेशिक मिथ्यात्व**-अपने पक्ष को असत्य जानते हुए भी उसकी स्थापना के लिए दुरभिनिवेश-दुराग्रह, हठ करना, ४-**सांशयिक मिथ्यात्व**-इस स्वरूप वाला देव है, या अन्य स्वरूप का ? इसी तरह गुरु और धर्म के विषय में संदेहशील बने रहना और ५-**अनाभोगिक मिथ्यात्व**-वह मिथ्यात्व जो विचार-शून्य एकेन्द्रियादि तथा विशेष ज्ञान विकल जीवों में पाया जाता है।

मिथ्यात्व के दस प्रकार–

जो बात जैसी है, उसे वैसा न मानना या विपरीत मानना मिथ्यात्व है। श्री स्थानाङ्ग सूत्र के अनुसार इसके दस प्रकार होते हैं, जैसे कि-१-अधर्म को धर्म समझना, २-धर्म को अधर्म मानना, ३-संसार के मार्ग को मोक्ष का मार्ग समझना, ४-मोक्ष के मार्ग को संसार का मार्ग मानना, ५-अजीव को जीव समझना, ६-जीव को अजीव मानना, ७-कुसाधु को सुसाधु समझना, ८-सुसाधु को कुसाधु मानना, ९-जो व्यक्ति राग-द्वेष रूप संसार से मुक्त नहीं है, उसे मुक्त समझना, और १०-जो महापुरुष संसार से मुक्त हो चुका है, उसे संसारी मानना।

मिथ्यात्व गुण-स्थान–

मिथ्यात्व एक गुण-स्थान है। गुण स्थान का अर्थ है–गुणों-आत्म-शक्तियों के स्थानों की, आत्मा के क्रमिक विकास की अवस्था। ये चौदह होते हैं, इन में सब से पहला मिथ्यात्व है, मिथ्या-दृष्टि-गुण-स्थान है।

जिस अवस्था में इस जीव की दृष्टि, श्रद्धा मिथ्या हो, उलटी हो उसे मिथ्यादृष्टि गुण-स्थान कहते हैं। जैसे धतूरे के बीज खाने वाले को अथवा पीलिए रोग वाले व्यक्ति को सफेद वस्तु भी पीली दिखाई देती है, या पित्त के प्रकोप वाले को मिश्री भी कड़वी लगती है उसी प्रकार मिथ्यादृष्टि वाला जीव कुदेव में देव-बुद्धि, कुगुरु में गुरु-बुद्धि और कुधर्म में धर्म-बुद्धि रखता है। जीव की यह अवस्था उसे संसार में जन्म-मरण के दुःखों से परिपीड़ित करती रहती है।

३—मिश्रमोहनीय कर्म की रूपरेखा—

वह कर्म जिस के कारण तत्त्वश्रद्धान की रुचि या अरुचि न होकर जीव की डाँवांडोल अवस्था बनी रहती है, उसे मिश्रमोहनीय कहते हैं। इस कर्म के उदय से आत्मा में कुछ यथार्थ और कुछ अयथार्थ तत्त्वश्रद्धान होता है। जिस द्वीप में खाने के लिये केवल नारियल ही होते हैं, वहां के मनुष्यों ने न अन्न देखा होता है, और नाँही उसके विषय में कुछ सुना ही होता है, अतएव उनको अन्न में जैसे रुचि नहीं होती, और नाँही द्वेष ही होता है, इसी प्रकार जब मिश्रमोहनीय कर्म का उदय होता है तब जीव को जैनधर्म के प्रति प्रीति या अप्रीति दोनों ही नहीं होती। इस कर्म का उदयकाल अन्तर्मुहूर्त्त का होता है। मिश्रमोहनीय कर्म के पुद्गल अर्ध-विशुद्ध होते हैं, ये ऐसे मादक द्रव्य के समान होते हैं जिस का कुछ भाग शुद्ध और कुछ अशुद्ध होता है। इसमें अनन्तानुबन्धी कषाय का उदय न रहने से आत्मा में कुछ शुद्धता और मिथ्यात्वमोहनीय का उदय होने से कुछ अशुद्धता रहती है। जैसे गुड़ मिले हुए दही का आस्वाद कुछ मीठा और कुछ खट्टा होता है, इसी प्रकार इस अवस्था में जीव की श्रद्धा कुछ सच्ची और कुछ मिथ्या पाई जाती है। इस दशा वाला जीव किसी बात का दृढ़ होकर विश्वास नहीं करता, इसकी बुद्धि में दुर्बलता आ जाती है। इसीलिए सर्वज्ञ प्रणीत तत्त्वों पर यह न तो एकान्त रुचि करता है और नाँही एकान्त अरुचि।

२—चारित्र—मोहनीय कर्म

मोहनीय कर्म का दूसरा भेद चारित्र-मोहनीय है। जिस अनुष्ठान के द्वारा आत्मा अपने असली स्वरूप को प्राप्त करता है उसे चारित्र कहते हैं। अथवा कर्मों के चय-संचय को नष्ट करने वाला अनुष्ठान चारित्र है। इसके पांच भेद होते हैं। जैसेकि-१-**सामायिक**-सम अर्थात् राग-द्वेष से रहित चित्तपरिणाम, उस की आय अर्थात् प्राप्ति को समाय कहते हैं, समाय है उद्देश्य जिस अनुष्ठान का उसे सामायिक कहा जाता है। इस में सावद्य व्यापार का परित्याग करना होता है। इस के १-**इत्वरकालिक**-थोड़े काल की और २-**यावत्कालिक**-जीवन-पर्यन्त की, ये दो भेद होते हैं। २-**छेदोपस्थापनिक**-जिस में पूर्व पर्याय का छेद और ५ महाव्रतों का उपस्थापन-आरोपण होता है। ३-**परिहार-विशुद्धि**-जिस में परिहार- तपविशेष से कर्मों की निर्जरारूप शुद्धि होती है। ९ साधुओं का गण परिहार तप करता है, सर्वप्रथम इन में चार साधु तप करते हैं, चार इनकी वैयावृत्य करते हैं, एक व्याख्यान बाँचता है। ६ मास के अनन्तर शेष चार तप करते हैं, पहले चार तपस्वी इनकी सेवा करते हैं, फिर व्याख्याता ६ महीने तप करता है, सात इसकी सेवा करते है, आठवां व्याख्यान करता है। इस तरह इस तप में १८ मास लगते हैं। ४-**सूक्ष्मसम्पराय**-सम्पराय कषाय का नाम है, जिस चारित्र में केवल संज्वलन-लोभ रूप कषाय रहता है, उसे सूक्ष्मसम्पराय चारित्र कहते हैं और ५-**यथाख्यात**-अकषायी साधु का निरतिचार यथार्थ चारित्र। चारित्र के दो भेद भी होते हैं, जैसेकि-१-**सर्वविरति**-मन, वचन और काया से हिंसा, असत्य, चौर्य, मैथुन और लोभ का सर्वथा परित्याग और २-**देशविरति**-श्रावक धर्म। सर्वविरति धर्म को अनगार धर्म और देशविरति धर्म को सागार धर्म भी कहा जाता है। इस पञ्चविध तथा द्विविध चारित्र का घात करने वाला कर्म चारित्र-मोहनीय कहलाता है।

चारित्रमोहनीय कर्म के दो भेद—

मोहनीय कर्म के दूसरे भेद चारित्रमोहनीय के दो प्रकार होते हैं। जैसेकि-१-कषायमोहनीय और २-नोकषायमोहनीय। जिस के द्वारा कष अर्थात् जन्ममरणरूप संसार की प्राप्ति हो उसे कषाय कहते हैं। अथवा आत्मा के शुद्ध स्वभाव को जो मलिन करता है वह कषाय है। क्रोध मान, माया और लोभ ये चार कषाय होते हैं। जिस कर्म के कारण इन क्रोधादि कषायों की उत्पत्ति हो उसे कषाय-मोहनीय कहा जाता है। क्रोधादि कषायों के उदय के साथ जिनका उदय होता है, अथवा क्रोधादि कषायों को उभाडने, उत्तेजित करने वाले हास्यादि नवक को नोकषाय कहते हैं। ये नोकषाय जिस कर्म की कृपा से उत्पन्न होते हैं वह कर्म नोकषाय-मोहनीय कहलाता है।

कषायमोहनीय के १६ भेद—

दशवैकालिक सूत्र के अध्याय आठ की ४०वीं गाथा के—चत्तारि एए कसिणा कसाया, सिंचंति मूलाइं पुणब्भवस्स, इन शब्दों के अनुसार क्रोध आदि कषाय संसार रूपी वृक्ष के मूल का सिंचन करते हैं। क्रोध, मान, माया और लोभ इन कषायों की स्वतंत्र अनिष्ट-कारिता का वर्णन करते हुए भगवान महावीर फरमाते हैं—

> **कोहो पीइं पणासेइ, माणो विणयनासणो,**
> **माया मित्ताणि नासेइ, लोहो सव्वविणासणो।**
>
> —दशवैकालिक, अ० ८/३८

—क्रोध प्रीति का, मान विनय का माया-कपट मित्रता का, और लोभ प्रीति आदि सभी सदगुणों का नाश कर देता है। जैन-दर्शन ने कषाय के परिहार के भी बहुत उत्तम साधन बतलाए हैं। जैन-दर्शन कहता है कि क्रोध को *क्षमा अर्थात् शान्ति से जीता जा सकता है, इसे निष्फल बनाया जा सकता है, मृदुता कोमलवृत्ति के द्वारा मान पर

---

*उवसमेण हणे कोहं, माणं मद्दवया जिणे,
मायं चज्जवभावेण, लोहं संतोसओ जिणे। दश० अ० ८।३९

विजय प्राप्त की जा सकती है, ऋजुता-सरलता द्वारा माया-कपट का मर्दन हो सकता है। तथा सन्तोष-रूपी अस्त्र से लोभ के दानव का संहार किया जा सकता है।

कषायो में पहला स्थान क्रोध का है। कृत्य और अकृत्य के विवेक को हटाने वाले प्रज्वलनरूप आत्मा के परिणाम को क्रोध कहते हैं। अथवा किसी अनुचित कर्म, अपकार आदि से उत्पन्न, दूसरे का अपकार करने का तीव्र मनोविकार क्रोध होता है। क्रोधवश प्राणी किसी की बात सहन नहीं करता, बिना विचारे अपने और दूसरे के अनिष्ट के लिए सदा जलता रहता है। क्रोध कितना हानिकारक है? इस सम्बन्ध में श्री स्थानांगसूत्र के स्थान चतुर्थ में लिखा है कि **पव्वय-राइसमाणं को,हं अणुपविट्ठे जीवे। कालं करेइ णेरइएसु उववज्जइ।** अर्थात् पर्वत की दरार के समान जीवन में कभी न मिटने वाला उग्र क्रोध आत्मा को नरक-गति की ओर ले जाता है। स्थानागसूत्र, स्थान द्वितीय के अनुसार-**कुद्धो**...**सच्चं, सीलं, विणयं हणेज्ज**। अर्थात् क्रोध में अन्धा हुआ व्यक्ति सत्य, शील और विनय का नाश कर डालता है। श्री दशवैकालिक सूत्र अध्याय ९ में लिखा है—

जे य चण्डे मिए थद्धे, दुव्वाई नियडी सढे।
वुज्झइ से अविणीयप्पा, कट्ठं सोयगयं जहा॥

—जो मनुष्य क्रोधी, अविवेकी, अभिमानी, दुर्वादी, कपटी और धूर्त है वह ससार के प्रवाह मे वैसे ही बह जाता है, जैसे जल के प्रवाह में काष्ठ।

अथर्व-वेद के अनुसार—**यदग्निरापो अदहत्**—१।२५।१। अर्थात् क्रोधरूप अग्नि जीवनरस को जला देती है। वाल्मीकि-रामायण कहती है—**क्रुद्धः पापं न कुर्यात् कः, क्रुद्धो हन्याद् गुरूनपि**—सुन्दर काण्ड ५५।४। अर्थात् क्रोध से उन्मत्त हुआ मनुष्य कौनसा पाप नहीं कर डालता? वह अपने गुरुजनों की भी हत्या कर देता है। जैनदर्शन की मान्यतानुसार क्रोध के **१—अनन्तानुबन्धी, २—अप्रत्याख्यान, ३—प्रत्याख्यानावरण और ४—संज्वलन**

ये चार भेद होते हैं। जिस क्रोध के प्रभाव से जीव अनन्त काल तक संसार में परिभ्रमण करता है, वह अनन्तानुबन्धी क्रोध होता है। यह सम्यक्त्व का घात करता है, जीवनपर्यन्त बना रहता है, पर्वत के फटने पर जो दरार होती है, जैसे उसका मिलना असंभव है, इसी प्रकार यह क्रोध भी किसी उपाय से शान्त नहीं होता। इस की गति नरक की होती है। जिस क्रोध के उदय से देश विरतिरूप थोड़ा सा भी प्रत्याख्यान नहीं होता उसे अप्रत्याख्यान कहते हैं। इस से श्रावक-धर्म की प्राप्ति नहीं होती। सूखे तालाब आदि में मिट्टी के फट जाने पर दरार होती है, वर्षा के होने पर जैसे वह मिलती है, वैसे ही यह क्रोध विशेष परिश्रम से शान्त होता है। इस की स्थिति एक वर्ष की और गति तिर्यञ्च की होती है। अर्थात् यह क्रोध एक वर्ष तक बना रहता है और इससे तिर्यंचगति के योग्य कर्मों का बन्ध होता है। जिस क्रोध के उदय से सर्वविरतिरूप प्रत्याख्यान रुक जाता है, साधु-धर्म की प्राप्ति नहीं होती वह प्रत्याख्यानावरण क्रोध है। जैसे रेते में लकीर खींचने पर कुछ समय में वायु से वह लकीर वापिस भर जाती है वैसे यह क्रोध कुछ उपाय से शान्त होता है। यह चार मास तक बना रहता है, इस से मनुष्यगतियोग्य कर्मों का बन्ध होता है। जो क्रोध परिषह और उपसर्ग के आ जाने पर सन्तों को भी थोड़ा सा जलाता है, उन पर भी थोड़ा सा असर कर देता है, वह संज्वलन होता है। यह यथाख्यात चारित्र की प्राप्ति में बाधक बनता है। पानी में खींची हुई लकीर जैसे खींचने के साथ ही मिट जाती है, वैसे किसी कारण से उदय में आया यह क्रोध शीघ्र ही शान्त हो जाता है। इस की स्थिति दो मास की होती है और गति देवलोक की है। क्रोध की स्थिति और गति को लेकर जो मान्यता ऊपर व्यक्त की गई है, यही मान्यता मान, माया और लोभ की भी जाननी चाहिए किन्तु यह मान्यता बाहुल्यता की अपेक्षा से समझनी चाहिये,। क्योंकि श्री बाहु-बलि जी महाराज को संज्वलन कषाय एक वर्ष तक रहा था, और

[illegible] राजर्षि के अनन्तानुबन्धी कषाय अन्तुर्मुहूर्त्त तक ही रहा था । इसी प्रकार अनन्तानुबन्धी कषाय के रहते हुए मिथ्यादृष्टियों का [illegible] में उत्पन्न होना शास्त्र में वर्णित है ।×

कषायों में दूसरा स्थान मान का है । ज्ञान और बल आदि गुणों में अहंकार-बुद्धि-रूप आत्मा के परिणाम को मान कहते है । मानी जीव अपने को बड़ा और दूसरो को तुच्छ समझता है, दूसरे की बढ़ती को सहन नहीं कर पाता । इसके-१-**अनन्तानुबन्धी**, २-**अप्रत्याख्यान**, ३-**प्रत्याख्यानावरण** और ४-**संज्वलन** ये चार प्रकार होते है । जैसे पत्थर का खम्भा अनेक उपाय करने पर भी नही नमता, वैसे जो मान किसी भी उपाय से दूर किया जा सके वह अनन्तानुबन्धी मान होता है । इसका शेष वर्णन अनन्तानुबन्धी क्रोध के समान जानना चाहिये । जैसे हड्डी अनेक उपायों से नमती है, वैसे जो मान अति परिश्रम से दूर किया जा सके वह अप्रत्याख्यान मान है । इसका शेष वर्णन अप्रत्याख्यान क्रोध के समान समझना चाहिये । जैसे काठ तैल आदि की मालिश से नम जाता है, वैसे जो मान थोड़े परिश्रम से समाप्त हो सके उसे प्रत्याख्यानावरण मान कहा जाता है । इसकी अवशिष्ट रूप-रेखा प्रत्याख्यानावरण क्रोध के तुल्य है । जैसे लता या तिनका बिना परिश्रम के सहज ही नम जाता है, वैसे जो मान सहज ही छूट जाता है, वह सज्वलन मान है । इसकी शेष व्याख्या सज्वलन क्रोध के समान समझनी चाहिये ।

अभिमान कितना बुरा है ? और निरभिमानता कितनी अच्छी है ? इस सम्बन्ध में कवि हरयशराय जी अपनी साधु-गुण-माला में कितनी सुन्दर बात कहते हैं—

मान रे मानव मान बुरो, मतिमान गुमान न मान न नीको,
मान करो अपमान लहे, न विमान लहे वर देवपुरी को ।

×श्री जैनसिद्धान्तबोलसंग्रह, प्रथम भाग, पृष्ठ १२१

मान मिटे सन्मान बधे, परमान करो शुभ वाक बलो को ;
मानव जन्म समान नहीं कछु धर्म सुमानव जात भली को ।
देवसमूह सुशोभित सुन्दर, इन्द्र जहां सिर आन नमावें ,
खण्डपति खगनायक भूपति भोंन-पती पद वन्दन आवें ।
जोड़ के हाथ करें महिमा यश, बेन कहें जयकार बुलावें ,
या विधि में मन मान न आवत, सो प्रणमो ऋषिराज
कहावें ।

—हे मनुष्य ! इस बात को समझ ले कि अभिमान करना बहुत ही बुरा है, अत: बुद्धिशाली व्यक्ति के लिए अहंभाव अच्छा नहीं है, मान करने पर अपमान मिलता है। मानी व्यक्ति स्वर्गपुरी के विमानों से वञ्चित हो जाता है, मान छोड़ने पर सम्मान बढ़ता है, साधु सन्तों के—मानव जीवन के समान अन्य कोई जीवन नहीं. धर्म-परायण श्रेष्ठ मनुष्यों का जन्म ही सब-श्रेष्ठ है, इन उत्तम वचनों पर सदा विश्वास करना चाहिये।

उत्तम देव-समूह से सुशोभित इन्द्र जहाँ आकर नतमस्तक होते हैं, चक्रवर्ती, वैमानिक देव, विद्याधर, भूपति, भवनों के अधिनायक देवादि जहाँ चरण-वन्दन करते है, हाथों को जोड़ कर यश और महिमा भरे वचनों को कहते हुए जय-जय कार बुलाते हैं, इस स्थिति में भी जिन में मान नहीं उत्पन्न होता, वे ही वास्तव में ऋषिराज हैं, मैं उनके चरणों में वन्दन करता हूँ ।

मान के दस प्रकार भी होते हैं, जैसेकि-१-'जातिमद'-मेरी जाति सब जातियों से उत्तम है, मैं श्रेष्ठ जाति वाला हूँ, जाति की दृष्टि से मेरी बराबरी कौन कर सकता है ? इस प्रकार जाति को लेकर मद करना जातिमद है, २-'कुलमद'-कुल-खानदान, का मद करना, ३-'बलमद-' बल-शरीर आदि की शक्ति के कारण मद करना, ४-रूपमद-रूप आकृति व शक्ल को लेकर मद करना, ५-'तपोमद'-तपस्या के कारण अहंकार करना, ६-'लाभमद'-मुझे सर्वत्र लाभ होता है, इस विचारणा से मद

करना, ७-'सूत्रमद' शास्त्रीय ज्ञान की अपेक्षा मान करना और ८-'ऐश्वर्य मद'-चल और अचल वैभव को लेकर मद करना, ९-'नागसुपर्ण-मद, मेरे पास नागकुमार और सुपर्ण कुमार जाति के देव आते हैं, देव भी मेरी सेवा करते है, मैं कितना तेजस्वी हूँ? इस दृष्टि से मद करना और १०-'अवधिज्ञान-दर्शन मद'-जितना अवधि ज्ञान मेरे पास है, इतना किसी को नहीं हुआ। शास्त्र कहता है कि इस भव में जिस बात का मद किया जाता है, आगामी भव में उसी बात में हीनता प्राप्त होती है, अतः आत्मार्थी व्यक्ति को कभी मद नहीं करना चाहिए।

कषायों में तीसरा स्थान माया का है। मन, वचन और काया की की कुटिलता, दूसरे के साथ की गई कपटाई, ठगाई और दगा रूप आत्मा के परिणाम-विशेष को माया कहते हैं। माया कितनी हानिप्रद है? इस सम्बन्ध में श्री सूत्रकृताङ्ग सूत्र में भगवान महावीर फरमाते हैं—

जइ वि णिगणे चरे, जइ वि भुंजे मासमंतसो,
जे इह मायाइ मिज्जइ, आगंता गब्भायऽणंतसो।

भले ही मनुष्य नग्न रहे, मास-मास का अनशन करे, एवं शरीर को कृश और क्षीण कर डाले, किन्तु जो अन्दर में दम्भ रखता है वह जन्म-मरण के अनन्त चक्र में भटकता ही रहता है। और भी कहा है—'सुहुमे सल्ले दुरुद्धरे'। अर्थात् मन में रहे हुए विकारों के सूक्ष्म शल्य को निकालना कभी-कभी बहुत कठिन हो जाता है। 'सच्चाण सहस्साण वि, माया एक्का वि णासेदि। अर्थात् एक माया-कपट हजारों सत्यों का नाश कर डालती है। अथर्ववेद में लिखा है—'यदन्तरं तद्-बाह्यं यद् बाह्यं तदन्तरम्" अर्थात् जो तुम्हारे अन्दर में हो, वही बाहर में हो, और जो बाहर में हो, वही तुम्हारे अन्दर में हो, भाव यह है कि तुम सदा निच्छल और निष्कपट होकर रहो।

जैन-दर्शन के मन्तव्यानुसार माया के-१-अनन्तानुबन्धी, २-अप्रत्याख्यान, ३-प्रत्याख्यानावरण और ४-संज्वलन, ये चार भेद होते

हैं। जैसे बांस की कठिन जड़ का टेढ़ापन किसी भी उपाय से दूर नहीं किया जा सकता, वैसे जो माया किसी भी तरह दूर न हों, सरलता के रूप में परिणत न हो सके, वह अनन्तानुबन्धी माया है। उसका शेष वर्णन अनन्तानुबन्धी क्रोध जैसा है। जैसे मेंढ़े का टेढ़ा सींग अनेक उपाय करने पर भी बड़ी मुश्किल से सीधा होता है, वैसे जो माया अत्यन्त परिश्रम से दूर की जा सके वह अप्रत्याख्यान माया है। इसका अवशिष्ट वर्णन अप्रत्याख्यान क्रोध के समान है। जैसे चलते हुए बैल की मूत्र की टेढ़ी लकीर पवनादि से सूख जाने पर मिट जाती है, वैसे जो माया सरलता-पूर्वक दूर हो सके वह प्रत्याख्यानावरण माया है। इस का शेष विवेचन प्रत्याख्यानावरण क्रोध के तुल्य है। जैसे छीले हुए बांस के छिलके का टेढ़ापन बिना प्रयत्न के सहज में ही मिट जाता है, वैसे जो माया बिना परिश्रम के शीघ्र ही अपने आप दूर हो सके वह संज्वलन माया है। इस का शेष वर्णन संज्वलन क्रोध की भाँति समझ लेना चाहिए।

कषायों में चतुर्थ स्थान लोभ का है। लोभ के दुःखान्त परिणाम को अभिव्यक्त करते हुए भगवान महावीर श्री स्थानांगसूत्र में फरमाते हैं—"इच्छालोभिते मुत्तिमग्गस्स पलिमंथू" अर्थात् लोभ मुक्ति-मार्ग का बाधक है। श्री प्रश्नव्याकरण सूत्र में लिखा है—"लुद्धो लोलो भणेज्ज अलियं," अर्थात्-मनुष्य लोभ-ग्रस्त हो कर झूठ बोलता है। श्री उत्तराध्ययन सूत्र के अध्याय आठ में लिखा है।

कसिणं पि जो इमं लोयं, पडिपुण्णं दलेज्ज इक्कस्स।
तेणावि से ण संतुस्से, इइ दुप्पूरए इमे आया ॥१६॥

—धन, धान्य से भरा हुआ यह समग्र विश्व भी यदि किसी एक व्यक्ति को दे दिया जाए, तब भी वह उससे सन्तुष्ट नहीं हो सकता, इस प्रकार आत्मा की यह तृष्णा दुष्पूर है, पूर्ण होनी कठिन है। और भी लिखा है—

जहा लाहो तहा लोहो, लाहा लोहो पवड्ढइ।
दो मास-कयं कज्जं, कोडीए वि न निट्ठिअं ॥१७।

—ज्यों-ज्यों लाभ होता हैं, त्यों-त्यों लोभ होता है, इस प्रकार लाभ से लोभ निरन्तर बढ़ता ही जाता है। दो माशा सोने से सन्तुष्ट होने वाला करोड़ों स्वर्ण मुद्राओं से भी सन्तुष्ट नहीं हो पाया।

उत्तराध्ययन सूत्र के नवम अध्याय में—"इच्छा हु आगास-समा अणन्तिया" यह कह कर भगवान महावीर ने इच्छाएं आकाश के समान अनन्त बतलाई हैं। उक्त सूत्र के २२वें अध्ययन में—"भवतण्हा लया वुत्ता, भीमा भीमफलोदया" यह कह कर संसार की तृष्णा भयंकर फल देने वाली विष-बेल स्वीकार की है। तृष्णा अग्नि है, इसे बुझाना कितना कठिन है ? इस सम्बन्ध में एक आचार्य कितनी सुन्दर बात फरमाते है—

सक्का वण्ही निवारेतुं, वारिणा जलितो बहिं,
सव्वोदही जलेणावि, मोहग्गी दुण्णिवारओ।

—बाहर में जलती हुई अग्नि को थोड़े से जल से शान्त किया जा सकता है, किन्तु मोह अर्थात् तृष्णा रूप अग्नि को समस्त समुद्रों के जल से भी शान्त नहीं किया जा सकता।

वैदिक ग्रन्थ ऋग्वेद में लिखा है—"एकपाद्-भूयो द्विपदो विचक्रमे, द्विपात् त्रिपादमभ्येति पश्चात्"—१०।११७।८। अर्थात्— जिस के पास सम्पत्ति का एक भाग है, वह दो भाग वाले के पथ पर चलता है, दो भाग वाला तीन भाग वाले का अनुकरण करता है। अर्थात् कामना की दौड़ निरन्तर आगे बढ़ती रहती है। महाभारतकार— "लोभो धर्मस्य नाशाय"-७१।३४ यह कहकर लोभ को धर्म का नाशक स्वीकार करते हैं। गीताकार के—"त्रिविधं नरकस्येदं, द्वारं नाशमात्मनः, कामः क्रोधस्तथा लोभस्तस्मादेतत्त्रयं त्यजेत्"—१७।३। ये शब्द लोभ को नरक का तीसरा द्वारा संसूचित कर रहे हैं। अन्नपूर्णो-

पनिषद् में लिखा है--"न क्षीणा वासना, यावच्चित्तं तावन्न शाम्यति"-४।७६। अर्थात्-जब तक वासना क्षीण नहीं होती, तब तक चित्त शान्त नहीं हो सकता।

जैनदर्शन लोभ के--"१-अनन्तानुबन्धी," "२--अप्रत्याख्यान" "३--प्रत्याख्यानावरण" और "४--संज्वलन" ये चार प्रकार मानता है। जैसे किरमची का रंग किसी भी उपाय से नहीं छूटता, वैसे जो लोभ किसी भी उपाय से दूर न हो सके, वह अनन्तानुबन्धी है। इस का अवशिष्ट वर्णन अनन्तानुबन्धी क्रोध जैसा है। जैसे गाड़ी के पहिए का खञ्जन परिश्रम करने पर अत्यन्त कष्ट के साथ छूटता है, वैसे जो लोभ अति-परिश्रम से कष्ट-पूर्वक दूर किया जा सके, वह अप्रत्याख्यान लोभ है, इस की शेष रूपरेखा अप्रत्याख्यान क्रोध के समान समझनी। चाहिये। जैसे दीपक का काजल साधारण परिश्रम से छूट जाता है वैसे जो लोभ कुछ परिश्रम से दूर हो सके वह प्रत्याख्यानावरण लोभ है। इस की शेष रूपरेखा प्रत्याख्यानावरण क्रोध के समान जाननी चाहिए। जैसे हल्दी का रंग सहज ही छूट जाता है, वैसे जो लोभ आसानी से स्वय दूर हो जाए वह संज्वलन लोभ है। इस के सम्बन्ध में जो अन्य चिन्तन है, वह सज्वलन क्रोध की तरह अवगत कर लेना चाहिए।

ऊपर को पंक्तियों क्रोध, मान, माया और लोभ इन×कषायों के स्वरूप का दिग्दर्शन कराया गया है। प्रत्येक कषाय के अनन्तानुबन्धी आदि चार-चार भेद होने से कषायों के १६ भेद हो जाते हैं कषाय-मोहनीय के यही १६ भेद होते हैं। क्रोध आदि विकार कषाय-मोहनीय कर्म के कारण उत्पन्न होते हैं अतः इन को कषाय-मोहनीय कहा जाता है।

×श्री प्रज्ञापना सूत्र के आधार पर, नरकगति में क्रोध की अधिकता पाई जाती है, तिर्यञ्च-गति में माया की, मनुष्यगति में मान की और देवगति में लोभ की अधिकता उपलब्ध होती है।

नोकषायमोहनीय के ६ भेद—

क्रोध आदि प्रधान कषायों के साथ ही जो मानसिक विकार उत्पन्न होते हैं, तथा फल देते हैं उन्हें नोकषाय कहते हैं । ये स्वयं प्रधान नहीं होते, जैसे बुध का ग्रह दूसरे के साथ ही रहता है, साथ ही फल देता है, इसी तरह नोकषाय भी कषायों के साथ रहते हैं तथा इन्हीं के साथ फल देते हैं, जिस कर्म के प्रभाव से इन की उत्पत्ति होती है, उसे नोकषाय-मोहनीय कहा जाता है, इसके ६ भेद होते हैं, इन की नाम--निर्देशपूर्वक अर्थविचारणा इस प्रकार है—

"१-स्त्रीवेद" जिस कर्म के उदय से स्त्री को पुरुष की इच्छा होती है । जैसे पित्त के उदय से मीठा खाने की इच्छा पैदा होती है, वैसे स्त्रीवेद के उदय से स्त्री को पुरुष के साथ सम्भोग करने की कामना जागृत हो जाती है । स्त्रीवेद गोबर की आग के समान होता है, जो अन्दर ही अन्दर सदा बना रहता है । "२-पुरुषवेद"–जिसके उदय से पुरुष को स्त्री की इच्छा होती है । जैसे कफ के प्रकोप से खट्टी चीज खाने को मन करता है, वैसे पुरुषवेद से स्त्री की लालसा जागृत होती है । पुरुषवेद जंगल की अग्नि के समान होता है जो एक दम भड़क उठता है और फिर जल्दी शान्त हो जाता है । "३-नपुंसक-वेद"-जिस के उदय से स्त्री और पुरुष दोनों की इच्छा होती है । जैसे पित्त और कफ के उदय से स्नान करने की अभिलाषा उत्पन्न होती है, वैसे नपुंसकवेद के उदय से स्त्री और पुरुष दोनों की इच्छा हो जाती है । यह बडे भारी नगर के दाह के समान होता है, जा तेज और स्थायी दोनों तरह का होता है । पुरुषवेद, स्त्रीवेद और नपुंसक-वेद में उत्तरोत्तर वेदना की अधिकता होती है । "४-हास्य"–जिस के कारण जीव सकारण या अकारण हंसने लगता है । '५-रति'–जिसके उदय से जीव की सचित्त या अचित्त बाह्य पदार्थों में अरुचि उत्पन्न हो । "७-भय"–जिसके उदय से जीव को वास्तव में किसी प्रकार का भय न होने पर भी इहलोक और परलोक आदि सात प्रकार का भय

उत्पन्न होता है [सात प्रकार का भय इस प्रकार है-"१-इहलोक-भय"--अपनी ही जाति के प्राणी से डरना। जैसे-मनुष्य का मनुष्य से, देव का देव से, तिर्यञ्च का तिर्यञ्च से और नारकी का नारकी से डरना, '२-परलोकभय'-दूसरी जाति वाले से डरना, जैसे मनुष्य का तिर्यञ्च या देव से अथवा तिर्यञ्च का देव या मनुष्य से डरना। "३-आदानभय"-धन की रक्षा के लिए चोर आदि से डरना, '४-अकस्माद्-भय'-बिना किसी बाह्य कारण से डरना। "५-वेदनाभय"-पीड़ा से डरना-'६--मरणभय'-मरने से डरना और ७-'अश्लोकभय'-अपकीर्ति से डरना] ८-"शोक"-जिसके उदय से शोक और रुदन आदि हो और "९-जुगुप्सा"-जिसके उदय से घृणा उत्पन्न हो,।

मोहनीय कर्म कैसे बान्धा जाता है?-

ऊपर की पंक्तियों में कर्मों के सेनापति मोहनीय कर्म के स्वरूप का दिग्-दर्शन कराया गया है। इस के-दर्शन, और चारित्र ये दो मूल-भेद हैं। दर्शन के तीन तथा चारित्र के २५ [१६ कषाय और ९ नो-कषाय] ये सब मिलाकर २८ भेद बन जाते हैं। इस तरह मोहनीय कर्म की २८ उत्तरप्रकृतियां मानी जाती हैं। अब यहां यह प्रश्न उपस्थित होता है कि मोहनीय कर्म कैसे बान्धा जाता है? इस प्रश्न का समाधान करता हुआ जैन-दर्शन कहता है कि मोहनीय कर्म ६ कारणों से बान्धा जाता है। जैसे कि-"१-तीव्रक्रोध"-अत्यधिक क्रोध करना। प्रतिक्षण क्रोध की ज्वालाओं में जलते रहना, "२-तीव्रमान"-अत्यधिक अहंकार करना, सर्वदा मान के घोड़े पर सवार रहना, '३-तीव्र-माया'--अत्यधिक बकवृत्ति रखना, सदा दूसरों को धोखा देने की भावना बनाए रखना, "४-तीव्र लोभ"--अत्यधिक लालच करना, किसी की गरदन भी काटनी पड़े तो भी संकोच न करना, किन्तु धन की लालसा पूर्ण करने की चेष्टा करते रहना, "५-तीव्रदर्शनमोहनीय"-दर्शन-मोहनीय के प्रभाव की अधिकता का होना और "६-तीव्र-चारित्र-मोह-नीय"-चारित्र-मोहनीय के प्रभाव की अधिकता का होना। यहां चारित्र-मोहनीय शब्द से नोकषायमोहनीय का ग्रहण करना अभीष्ट

है, क्योंकि तीव्र क्रोध, मान, माया और लोभ से कषायमोहनीय का ग्रहण हो ही जाता है।

महामोहनीय के ३० कारण—

मोहनीय कर्म के ६ बन्धकारणों का ऊपर निर्देश कर दिया गया है, किन्तु शास्त्रकारों ने मोहनीय कर्म के बन्ध के तीस स्थान भी बताए हैं। इन का सेवन करने वालों के अध्यवसाय अत्यन्त तीव्र एवं क्रूर होते हैं, जिन पर इन का प्रयोग किया जाता है, उन के परिणाम भी तीव्र वेदनादि कारणों से अत्यन्त संक्लिष्ट एवं महामोह उत्पन्न करने वाले हो जाते हैं, इस कारण इन स्थानों का कर्त्ता अपने कार्य के अनुरूप ही सैंकड़ों भव तक दुःख देने वाले महामोह रूप कर्म बान्धता है इसीलिए ये महामोहनीय के तीस स्थान कहलाते हैं। वे ये हैं—

१-जो जीव त्रस्त प्राणियों को पानी में डुबो-डुबो कर मारता है, वह महामोहनीय कर्म का बन्ध करता है। इसी प्रकार २-नाक, मुख आदि इन्द्रिय-द्वारों को हाथ से ढक कर, श्वास रोक कर जीवों को मारना, ३-बाडे आदि स्थानों में प्राणियों को घेर कर चारों ओर से अग्नि जला देना, उसके धुएं से दम घोट कर निर्दयता-पूर्वक मारना, ४-किसी का सर काट देना, ५-मस्तक पर गीला चमड़ा बान्ध कर निर्दयता-पूर्वक मारना, ६-पथिकों को विश्वास में लाकर तथा निर्जन स्थान में ले जाकर उन को मारना और इस हत्याकाण्ड से प्रसन्न होना, ७-गुप्तरीति से अनाचार का सेवन करना और कपट-पूर्वक उसे छिपाना, प्रश्नों के झूठे उत्तर देना, सूत्रों के वास्तविक अर्थ छिपाकर आगमविरुद्ध अप्रासंगिक अर्थ करना, ८-निर्दोष व्यक्ति को दोषी बनाना, अपना पाप दूसरे के सिर मढ़ देना, ९-जनसमूह में मिश्र भाषा [थोड़ा सत्य और बहुत झूठ] बोलना, कलह को शान्त न होने देना, १०-मन्त्री का राज्यलक्ष्मी को विनष्ट करना, राजा को अधिकार-च्युत कर के स्वयं राज्य का उपभोग करना, राज्य अधिकारियों में भेद डाल देना, ११-बालब्रह्मचारी न होने पर भी अपने

को बालब्रह्मचारी कहना, १२-मैथुन से निवृत्त न होने पर भी अपने को ब्रह्मचारी कहना, १३-जिस राजा आदि के सहारे से जीवन का भवन खड़ा हुआ है, उसी की जड़ें काटना, जिस राजा के आश्रय से आजीविका चलती है, उसको हानि पहुंचाना, १४-जिस की कृपा से असमर्थ व्यक्ति समर्थ बना है, उस समर्थ व्यक्ति का अपने उपकारी के उपकार को भूल जाना, उसके प्रति द्वेष रखना, उस की सुख-सुविधा में विघ्न डालना, १५-सबका पालन करने वाले, गृहस्वामी, सेनापति, राजा, कलाचार्य या धर्माचार्य की हत्या कर देना, इन के आश्रित व्यक्तियों को निराश्रित बना डालना, १६-देश के नायक या व्यापारियों के नेता की हिंसा करना, १७-जैसे समुद्र में गिरे व्यक्तियों को द्वीप आधार होता है, वैसे बहुत से प्राणियों के लिए द्वीप की तरह जो आधार-भूत है या रक्षक है, उस की हत्या कर देना, १८-साधु को ज़बर्दस्ती धर्म से गिराना, १९-सर्वज्ञ की कल्पना झूठी है, इस तरह अनन्त ज्ञान के धारक जिन-देव का अवर्णवाद बोलना, २०-धर्म के प्रति द्वेष रखना, उसकी बुराई करना, लोगों को धर्म से विमुख करना, २१-जिस आचार्य, उपाध्याय से ज्ञान और विनय का शिक्षण ग्रहण किया है, उनकी निन्दा करना, कृतघ्न बनना, २२-जिन आचार्य आदि गुरुजनों से ज्ञान प्राप्त किया है, अभिमानवश उनकी सेवा न करना, २३-बहुश्रुत [बहुत से शास्त्रों का ज्ञाता] न होने पर भी अपने को बहु-श्रुत प्रकट करना, आत्मश्लाघा के लिए अपनी झूठी प्रशंसा करना, २४-तपस्वी न होने पर भी अपने आपको तपस्वी कहना, २५-आचार्य, उपाध्याय के बीमार होने पर समर्थ होते हुए उन की सेवा न करना, जब मैं बीमार था, इन लोगों ने मेरी सेवा नहीं की थी, ऐसा सोच कर सेवा से बचने के लिए छल व कपट करना, २६-हिंसाजनक शस्त्रों का तथा कामोत्पादक विकथाओं का बार-बार प्रयोग करना, कलह बढ़ाना, २७-अपनी प्रशंसा के लिए या दूसरों को मित्र बनाने के लिए अधार्मिक, हिंसायुक्त वशीकरण का प्रयोग करना, २८-विषय-भावनाओं के चिन्तन में ही सदा लगे रहना, विषयोपभोग

से कभी तृप्त न होना, २९-वैमानिक देवों की ऋद्धि, बल, वीर्य आदि का अभाव बतलाना और उन का अवर्णवाद-बोलना और ३०-पूजा-प्राप्ति के लिए, वैमानिक आदि देवों का दर्शन न होने पर भी "ये मुझे दिखाई देते हैं" ऐसा मिथ्या-भाषण करना। इन सब बातों से महा-मोहनीय कर्म का बन्ध होता है, और इस कर्म के कारण जीव सत्तर-कोटा-कोटि सागरोपम जैसे लम्बे काल के लिए ससार में दुःखोभोग करता रहता है।

मोहनीय कर्म भोगा कैसे जाता है?—

मोहनीय कर्म का वन्ध कैसे पड़ता है? यह ऊपर बता जा चुका है, अब प्रश्न उपस्थित होता है कि यह कर्म जीव को अपना भुगतान कैसे करवाता है? इस प्रश्न का समाधान करता हुआ जैन-दर्शन कहता है कि मोहनीय कर्म का अनुभाव-फल पांच प्रकार का होता है-जैसेकि '१-सम्यक्त्व-मोहनीय' सम्यक्त्व का प्राप्त न करना, '२-मिथ्यात्व-मोहनीय'-तत्त्वों का अयथार्थ श्रद्धान होना, '३-सम्यक्त्व-मिथ्यात्व-मोहनीय'-तात्त्विक श्रद्धान का डाँवाडोल होना. '४-कषायमोहनीय'-क्रोध आदि कषायो का उत्पन्न होना, और '५-नोकषायमोहनीय'-हास्य आदि नोकषायों को पैदा होना। इस से स्पष्ट हो जाता है कि मोहनीय कर्म की २८ जो उत्तरप्रकृतिया है, उन २८ प्रकारों से ही जीव को अपने फल का यह भुगतान करवा डालता है। अर्थात् सम्यक्त्व-मोहनीय के उदय से क्षायिक सम्यक्त्व का घात होता है, मिथ्यात्व-मोहनीय से देव, गुरु, धर्म के प्रति विपरीत श्रद्धान होता है। मिश्रमोह-नीय का उदय जीव के तात्त्विक श्रद्धान को डॉवाँडोल कर देता है। कषाय-मोहनीय के उदय से अनन्तानुन्धी अप्रत्याख्यान, प्रत्याख्याना-वरण और संज्वलन रूप क्रोध, मान, माया और लोभ की उत्पत्ति होती है। पुरुषवेद-मोहनीय, स्त्रीवेद-मोहनीय और नपुंसकवेद-मोह-नीय से क्रमशः स्त्रीवेद, पुरुषवेद और नपुंसकवेद जाग उठता है। हास्य-मोहनीय के उदय से हास्य का, रति-मोहनीय से रति का,

अरति-मोहनीय से अरति का, भय-मोहनीय से भय का, शोक-मोहनीय के उदय से शोक का, और जुगुप्सा-मोहनीय कर्म के उदय से जुगुप्सा का प्रादुर्भाव होता है। इस तरह मोहनीय कर्म अपनी-अपनी प्रकृति के अनुसार जीव को अपने फल का भुगतान कराता रहता है।

मोहनीय एक भयंकर कर्म है—

ज्ञानावरणीय आदि आठ कर्मों में मोहनीय कर्म को एक बड़ा भयंकर कर्म माना गया है, जैसे सेनापति सेना का मालिक होता है, वैसे ही यह कर्मों की सेना का अधि-नायक माना जाता है। जब तक इस कर्म पर नियन्त्रण न कर लिया जाए तब तक केवलज्ञान के द्वार खुल नहीं सकते। मोह को जीते बिना हज़ारों वर्ष की तप:साधना भी व्यर्थ बन जाती है। मोहनीय कर्म के कारण ही श्री बाहुबली जी महाराज घोर-तपस्वी होने पर भी केवल ज्ञान के महा-मन्दिर में प्रविष्ट नहीं हो सके, भगवान महावीर के प्रधान शिष्य श्री इन्द्रभूति जी गौतम मोह के कारण ही भगवान महावीर के जीवन-काल में केवल-ज्ञानी नहीं बन सके। मोहनीय कर्म की भयंकरता को अभिव्यक्त करने के लिए अनेकों उदाहरण प्रस्तुत किए जा सकते हैं परन्तु अधिक विस्तार में न जाकर संक्षेप में इतना निवेदन कर देना ही पर्याप्त है कि मोह-नीय कर्म का सेनापति जीतना बड़ा मुश्किल है, और इसपर जब काबू पा लिया जाता है तब संसार की समस्त समस्याएं समाहित हो जाती हैं। अत: हम सब का सर्वप्रधान यही कर्तव्य बनता है कि मोह-नीय कर्म पर विजय प्राप्त करने के लिए जिन कारणों से इसकी उत्पत्ति होती है, उनसे सदा बचते रहें। कहा भी है—

मोह कर्म सब से बड़ा, देवे दुःख महान,
'ज्ञानमुनी' जो तोड़ दे, पावे पद निर्वाण।

आयुष्कर्म

कर्म आठ होते हैं, इनमें पांचवां आयुष्कर्म है, जिस के कारण जीव भवविशेष में, नियत शरीर में नियत काल तक रुका रहे, वह आयुष्कर्म होता है। इस कर्म के प्रभाव से ही आत्मा शरीर में अवस्थित रहती है, जब आयुष्कर्म समाप्त हो जाता है, तब आत्मा इस शरीर को छोड़ देती है। जीवन और मृत्यु के दृश्य आयुष्कर्म के कारण ही दिखाई देते हैं। जब आयुष्कर्म का उदय होता है, तब जीवन का अस्तित्व दृष्टिगोचर होता है, दुनिया आबाद हो जाती है, और जब यह कर्म अपनी माया समेट लेता है, आत्मा से पृथक् हो जाता है तो व्यक्ति का स्वर्ण जैसा शरीर भी मिट्टी का ढेला बन जाता है, सब खेल समाप्त हो जाते हैं। आयुष्कर्म की समाप्ति होते देर नहीं लगती, मनुष्य किसी भी दशा में बैठा हो, अपना समय पूर्ण हो जाने पर आयुष्कर्म इसे छोड़ कर भाग जाता है। मनुष्य चाहे भोजन कर रहा हो, हाथ में ग्रास हो, इस की समाप्ति पर ग्रास हाथ में ही रह जाता है, और जीवन-लीला समाप्त हो जाती है। फगवाड़े की घटना है, एक व्यक्ति घर आता है, पत्नी से पानी मांगता है, पत्नी पानी लेकर आती है, परन्तु पानी पीने वाला पानी आने से पहले ही चल देता है। नया-शहर की बात है। पति ने पत्नी से कहा—चाय तैयार कर के लाओ, इतने में महामंत्र नवकार की माला कर लेता हूं। चाय तैयार कर के जब पत्नी पति के पास आती है, तब क्या देखती है ? पतिदेव के हाथ में माला है, समाधि में बैठे हैं, परन्तु आत्मदेव प्रस्थान कर चुके हैं। ऐसी एक नहीं अनेकों घटनाएं देखने को मिलती हैं, जिन से यह स्पष्ट हो जाता है, कि जब यह आयुष्कर्म समाप्त होने पर आता है तो दुनिया की कोई शक्ति इसे रोक नहीं

सकती, बड़े-बड़े मन्त्रवादी, यन्त्रवादी और तन्त्रवादी भी इस का पार नहीं पा सके, बड़े से बड़े डाक्टर यहां बेबस हो जाते हैं।

आयु के दो प्रकार—

आयु दो प्रकार की होती है, १-अपवर्तनीय और २-अनपवर्तनीय। बाह्य *शस्त्र आदि निमित्त पाकर जो आयु स्थिति पूर्ण होने से पहले ही शीघ्रता से भोग ली जाती है, वह अपवर्त्तनीय आयु है तथा जो आयु अपनी पूरी स्थिति भोग कर ही समाप्त होती है, बीच में नहीं टूटती वह अनपवर्त्तनीय आयु होती है। अपवर्त्तनीय और अनपवर्त्तनीय आयु का बन्ध स्वाभाविक नहीं पड़ता, यह परिणामों के तारतम्य [न्यूनाधिक्य के अनुसार क्रम] पर अवलम्बित है। भावी जन्म की आयु वर्तमान में बन्धती है। आयु-बन्ध के समय यदि परिणाम मन्द हों तो आयु का बन्ध शिथिल पड़ता है, इस कारण निमित्त मिलने पर बन्ध-काल की कालमर्यादा घट जाती है। इस के विपरीत, यदि आयुबन्ध के समय परिणाम तीव्र हों तो आयु का बन्ध गाढ़ होता है। बन्ध के गाढ़ होने से निमित्त मिलने पर भी बन्ध-काल की काल-मर्यादा कम नहीं होती, और आयु एक साथ नहीं भोगी जा सकती। अपवर्तनीय आयु सोपक्रम होती है, इसमें विष, शस्त्र आदि का निमित्त अवश्य प्राप्त होता है, और उस निमित्त को पाकर जीव नियत समय के पूर्व ही मर जाता है। अनपवर्तनीय आयु सोपक्रम और निरुपक्रम दोनों

---

*बांधी हुई आयु बिना पूरी किए बीच में ही मृत्यु का हो जाना आयुभेद कहलाता है, यह अपवर्त्तनीय आयु वाले के ही होता है। इसके ७ कारण होते हैं। जैसेकि १-अध्यवसान—राग, स्नेह या भय रूप प्रबल मानसिक आघात का होना, २-निमित्त—शस्त्र, दण्ड आदि का निमित्त पाकर, ३-आहार—अधिक भोजन कर लेने पर, ४-वेदना—आंख या शूल वगैरह की असह्य वेदना होने पर, ५-पराघात—गड्ढे में गिरना वगैरह बाह्य आघात पा कर, ६-स्पर्श-सांप वगैरह के काट लेने पर अथवा ऐसी वस्तु का स्पर्श होने पर जिस के छूने से शरीर में विष फैल जाए और ७-सांस की गति बन्द होने पर।

तरह की होती है। सोपक्रम आयु वाले व्यक्ति को अकाल-मृत्यु-योग्य विष और शस्त्र आदि का संयोग होता है, और निरुपक्रम आयु वाले को नहीं होता। विष और शस्त्र आदि निमित्त का प्राप्त होना उपक्रम है। अपवर्तनीय आयु अधूरी ही टूट जाती है, इसलिए वहां शस्त्र आदि की नियमित रूप से आवश्यकता पड़ती है, अनपवर्त्तनीय आयु बीच में नहीं टूटती, उसके पूरा होते समय यदि शस्त्र आदि निमित्त प्राप्त हो जाएं तो उसे सोपक्रम कहा जाएगा, यदि ये निमित्त प्राप्त न हों तो वह निरुपक्रम कहलाती है।

अपवर्तनीय आयु में यदि "—नियत स्थिति से पहले ही जीव की मृत्यु हो जाती है—" यह मान लेते हैं तो कृतनाश, अकृतागम और निष्फलता इन दोषों का प्रसंग उपस्थित हो जाता है। यदि आयु के अवशिष्ट रहने पर जीव मर जाता है तो कृत कर्म का फल न भोगने से कृतनाश दोष की स्थिति बनती है, मरणयोग्य कर्म के न होने पर भी मृत्यु के आ जाने के कारण अकृतागम दोष बन जाता है, तथा अव-शिष्ट बन्धी हुई आयु का भोग न होने से निष्फलता दोष का प्रसंग आता है। इन दोषों से कैसे निवृत्ति हो सकती है? इस प्रश्न का समाधान करता हुआ जैन-दर्शन कहता है कि अपवर्तनीय आयु में बंधी हुई आयु का भोग न होने से जो दोष बताए जाते हैं, वे ठीक नहीं हैं, क्योंकि अपवर्तनीय आयु में बंधी हुई आयु पूरी ही भोगी जाती है, बद्धायु का कोई भी अंश ऐसा नहीं बचता जो न भोगा जाता हो। यह अवश्य है कि इसमें बन्धी हुई आयु कालमर्यादा के अनुसार न भोगी जाकर एक साथ शीघ्र ही भोग ली जाती है। अपवर्तन का अर्थ है—शीघ्र ही अन्तर्मुहूर्त्त में अवशिष्ट कर्म भोग लेना। इसलिए उक्त दोषों का यहाँ होना संभव नहीं है। दीर्घकाल-मर्यादा वाले कर्म अन्तर्मुहूर्त्त में ही कैसे भोग लिए जाते हैं? यह तीन दृष्टान्तों से समझिए। जैसे इकट्ठी की हुई सूखी तृणराशि के एक-एक अवयव को क्रमशः जलाया जाए तो उस तृणराशि के जलने में अधिक समय लगता है, परन्तु यदि उसी

तृणराशि का बन्ध ढीला करके चारों ओर से उसमें आग लगा दी जाए तथा वायु भी अनुकूल हो तो वह शीघ्र ही जल जाती है। दूसरा उदाहरण लीजिए—एक प्रश्न को हल करने के लिए एक सामान्य व्यक्ति गुणा भाग की लम्बी रीति का आश्रय लेता है, और उसी प्रश्न को हल करने के लिये एक गणित-शास्त्री संक्षिप्त रीति का उपयोग करता है। पर दोनों का उत्तर एक समान होता है। एक उदाहरण और लीजिए—एक धोया हुआ कपड़ा जल से भीगा ही इकट्ठा करके रख दिया जाए तो वह बहुत देर से सूखता है और यदि उसी को खूब निचोड़ कर के धूप में फैला दिया जाए तो वह तत्काल सूख जाता है। इसी तरह अपवर्तनीय आयु में शस्त्र आदि का निमित्त मिल जाने के कारण आयुष्कर्म के समस्त दलिक एक साथ भोगे जाते हैं, परन्तु वे शीघ्रता के साथ भोग लिए जाते हैं। इसके अतिरिक्त, यह भी समझ लेना चाहिये कि देवता, नारकी, असंख्य वर्ष की आयु वाले तिर्यञ्च और मनुष्य, तीर्थंकर, चक्रवर्ती आदि उत्तम पुरुष, तथा चरमशरीरी [इसी भव में मोक्ष जाने वाले] जीव अनपवर्त्तनीय आयु वाले होते हैं और शेष जीव अपवर्तनीय और अनपवर्त्तनीय इन दोनों प्रकार की आयु वाले होते हैं* ।

आयुष्कर्म के चार भेद—

आयुष्कर्म का विवेचन करते हुए जैन-दर्शन ने उस के चार भेद बताए हैं। जैसे कि-१-**नरकायुष्कर्म**—नारकी जीवों का आयुष्कर्म, २-**तिर्यञ्चायुष्कर्म**-तिर्यञ्च जीवों का आयुष्कर्म, ३-**मनुष्यायुष्कर्म**-मनुष्यों का आयुष्कर्म और ४-**देवायुष्कर्म**—देवों का आयुष्कर्म। विश्व के जितने भी संसारी जीव हैं उन्हें नारक, तिर्यञ्च, मनुष्य और देव इन चार विभागों में बांटा गया है। तथा सभी संसारी जीव आयुष्कर्म से सहित होते हैं, परिणामस्वरूप आयुष्कर्म के भी चार भेद सम्पन्न हो जाते हैं।

---

*तत्त्वार्थसूत्र, अध्याय २, सूत्र ५२

जैन-दर्शन की मान्यतानुसार संसारी जीवों के उत्कृष्ट ५६३ भेद होते हैं। नरक सात होते हैं, इन में अवस्थित जीवों के पर्याप्तक और अपर्याप्तक ये दो-दो भेद कर लेने से इन के १४ प्रकार हो जाते हैं। तिर्यञ्चों के ४८ भेद होते हैं। एकेन्द्रिय जीव २२ प्रकार के होते हैं। जैसेकि—पृथ्वीकाय, अप्काय, तेजस्काय और वायुकाय के-१-सूक्ष्म, २-बादर, ३-पर्याप्तक और ४-अपर्याप्तक ये चार-चार भेद होते हैं। वनस्पति-काय के जीव-१-सूक्ष्म पर्याप्तक, २-सूक्ष्म अपर्याप्तक, ३-प्रत्येक पर्याप्तक, ४-प्रत्येक अपर्याप्तक, ५-साधारण पर्याप्तक और ६-साधारण अपर्याप्तक। इस तरह ६ प्रकार के होते हैं। द्वीन्द्रिय, त्रीन्द्रिय और चतुरिन्द्रिय इन जीवों के पर्याप्तक और अपर्याप्तक ये दो-दो भेद होते हैं। तिर्यंच पंचेन्द्रिय जीव-१-जलचर, २-स्थलचर, ३-खेचर, ४-उरपुर, और ५-भुजपुर ये पांचों संज्ञी और असंज्ञी होने से दशविध, पुनः इनके पर्याप्तक और अपर्याप्तक ये दो-दो भेद कर लेने पर २० प्रकार के हो जाते हैं। इस प्रकार तिर्यञ्च जीवों के ४८ भेद सम्पन्न होते हैं। मनुष्य तीन सौ तीन प्रकार के होते हैं। जैसेकि—१५ कर्मभूमिज, ३० अकर्मभूमिज और छप्पन अन्तर्द्वीपज ये १०१ होते हैं, इनके पर्याप्तक और अपर्याप्तक ये दो-दो भेद हो जाने से ये २०२ होते हैं, इन २०२ में १०१ अपर्याप्त सम्मूर्च्छिम मनुष्य मिल जाने से इन की संख्या ३०३ हो जाती है। देव १९८ प्रकार के होते हैं। जैसेकि-१० भवनपति, १५ परमाधार्मिक, १६ व्यन्तर, १० जृम्भक, १० ज्योतिष्क, ३ किल्विषिक, ९ लोकान्तिक, १२ कल्पवासी, ९ ग्रैवेयक और ५ अनुत्तर-वैमानिक ये सब ९९ होते हैं, इन के पर्याप्तक और अपर्याप्तक ये दो-दो भेद कर लेने पर इन की संख्या १९८ बन जाती है। १४ नारकी, ४८ तिर्यञ्च ३०३ मनुष्य और १९८ देव, ये सब मिल कर ५६३ *जीव-भेद बन

*जीवों के इन ५६३ भेदों की अर्थसम्बन्धी विचारणा के लिए पण्डितरत्न प्रवर्तक श्री शुक्लचंदजी म० के हिन्दी विवेचन-सहित नव-तत्त्व का जीवतत्त्व देखना चाहिए।

जाते हैं, ये सब जीव आयुष्कर्म से सहित होते हैं। नरक-गति के जीवों के आयुष्कर्म को नरकायुष्कर्म, तिर्यञ्च गति के आयुष्कर्म को तिर्यञ्चायुष्कर्म, मनुष्यगति के आयुष्कर्म को मनुष्यायुष्कर्म और देवगति के जीवों के आयुष्कर्म को देवायुष्कर्म कहा जाता है। आयुष्कर्म का अस्तित्व केवल सिद्ध जीवों में नहीं मिलता, अवशिष्ट सब जीवों में इस का कहीं गत्यवरोध नहीं होने पाता।

आयुबन्ध के ६ प्रकार–

आगामी भव में उत्पन्न होने के लिए जाति और गति आदि का बान्धना आयुबन्ध कहलाता है। इसके ६ प्रकार होते हैं। जैसेकि १-'जाति'। एकेन्द्रिय आदि ५ जातियां होती हैं। जीव ने जिस जाति में पैदा होना होता है, मरने से पहले उस का बन्ध कर लेता है। २-'गति'। नरकादि गतियां चार होती हैं। मरने से पहले जीव प्राप्तव्य गति का बन्ध कर लेता है। ३-'स्थिति'। भव में ठहरने की जितनी काल-मर्यादा है, वह मरने से पहले जीव बान्ध लेता है। ४-'अवगाहना'। शरीर की ऊँचाई-नीचाई अवगाहना होती है। मरने से पहले जीव इस का बन्ध कर लेता है। ५-'प्रदेश'। जिन-जिन आत्म-प्रदेशों पर जीव ने सुख दुःख का भोग करना होता है, उस का बन्ध मरने से पहले हो जाता है और ६-'अनुभाग'। अनुभाग फल का नाम है। फल तीव्र भोगना है या तीव्रतर या तीव्रतम या मन्द, मन्दतर या मन्दतम, यह सब मरने से पहले जीव बान्ध लेता है।

आयुष्कर्म कैसे बान्धा जाता है ?—

कहा जा चुका है कि आयुष्कर्म नरकायुष्कर्म आदि भेदों से चार प्रकार का होता है। प्रश्न हो सकता है कि नरकायुष्कर्म का बन्ध कैसे पड़ता है ? जैन-दर्शन इस प्रश्न का समाधान करता हुआ कहता है कि नरकायुष्कर्म चार कारणों से बान्धा जाता है। जैसेकि १-'महारम्भ'-बहुत प्राणियों की हिंसा हो, इस प्रकार के तीव्र परिणामों से कषाय-पूर्वक प्रवृत्ति करना। उठते, बैठते, जागते-सोते, हिंसा की

भावना बनाए रखना। २-'महापरिग्रह'-वस्तुओं पर अत्यन्त मूर्च्छाभाव रखना। ३-'पञ्चेन्द्रियवध'-पञ्चेन्द्रिय जीवों की हिंसा करना और ४-'मांसाहार'-मांस खाना, अण्डे चबाना। तिर्यञ्चायुष्कर्म कैसे बान्धा जाता है ? इस प्रश्न का समाधान करता हुआ जैन-दर्शन कहता है कि तिर्यञ्चायुष्कर्म बन्ध के चार कारण होते हैं। जैसेकि १-'माया' कुटिल परिणाम रखना, मन में कुछ और रखना और बाहिर कुछ और दिखलाना, विषकुंभ-पयोमुख की भांति ऊपर से मिठास, दिल से अनिष्ट चाहना, २-'माया में माया'—छल में छल करना। ३-'झूठ बोलना' और ४-'झूठे तोल तथा झूठे माप रखना–खरीदने के लिये बड़े और बेचने के लिए छोटे तोल और माप रखना। आयुष्कर्म का तीसरा भेद मनुष्यायुष्कर्म है, इस के बन्ध के भी चार कारण होते हैं। जैसेकि १-प्रकृति-स्वभाव का भद्र-सरल होना, २-'स्वभाव से विनीत'-निरभिमान होना, ३-दया और अनुकम्पा के भाव रखना और ४-ईर्षा, डाह न करना। आयुष्कम के चतुर्थ भेद देवायुष्कर्म के बन्ध के भी चार प्रकार होते है। जैसेकि-१-'सराग-सयम' राग-सहित संयम का पालन करना, २-'श्रावक धर्म' का पालन करना, ३-'अकामनिर्जरा, अनिच्छापूर्वक विवशता या पराधीनता से कर्मों की निजरा करना, भाव यह है कि एक मनुष्य तप का आराधन करना नही चाहता, ब्रह्मचर्य की पालना से दूर भागना चाहता है, परन्तु विवशता से उसे भूख सहन करनी पड़ती है, और ब्रह्मचर्य की पालना करनी होती है। जैन-दर्शन कहता है कि विवशता या पराधीनता की दृष्टि से जो भी कष्ट झेला जाता है और उस से जो कर्म-निर्जरा होती है, उसे अकाम-निर्जरा कहते हैं। ४-'अज्ञान तप'-बिना सम्यग् ज्ञान के जो तप किया जाता है। धूनी रमाना, वृक्षों के साथ अपने आप को उलटा बांध देना, पानी में खड़े रहना, महीना-महीना भोरे में वन्द रहना, काशी में आरे से अपने आप को चिरवाना आदि सब बातें अज्ञान-तप के अन्तर्गत मानी जाती हैं।

आयुष्कर्म कैसे भोगा जाता है ?—

आयुष्कर्म किन कारणों से बान्धा जाता है ? यह ऊपर बताया जा चुका है, अब प्रश्न यह उपस्थित होता है कि आयुष्कर्म का भुगतान किस तरह होता है ? इस का समाधान करता हुआ जैन-दर्शन कहता है कि यह कर्म जीव को अपना फल चार प्रकार से प्रदान करता है। जैसेकि-१-नरकायुष्कर्म का जब उदय होता है तो जीव नरकगति को प्राप्त करता है, वहां नाना प्रकार के दुःखों का उपभोग करता है। २-तिर्यञ्चायुष्कर्म का जब उदय होता है तो जीव पशुगति को उपलब्ध होता है, वहां पूर्वकृत कर्म का शुभाशुभ फल भोगता है। ३-मनुष्यायुष्कर्म का उदय होने पर जीव मनुष्य बनता है। मनुष्य जीवन एक ऐसा जंक्शन है, जहां से जीव नरक, तिर्यञ्च मनुष्य और देव इन में से किसी भी लोक में जा सकता है। कृत कर्मों के अनुसार सुख और दुख का उपभोग करता है, और ४-देवायुष्कर्म का उदय होने पर जीव देव-दशा को प्राप्त करता है। *देवगति भोगभूमि मानी जाती है, यहां अधिकतया सुखों का ही चक्र चलता है, जन्मजात अवधिज्ञान की प्राप्ति के अलावा, स्वर्गीय विमान, देव, देवियां, वैक्रियशक्ति आदि

---

*तत्काल उत्पन्न देव चार कारणों से इच्छा करने पर भी मनुष्य-लोक में नहीं आ सकता। जैसेकि-१-तत्काल उत्पन्न देव दिव्य काम-भोगों में अत्यधिक मोहित और गृद्ध हो जाता है, अतः मनुष्य-भव-सम्बन्धी काम-भोगों की चाह नहीं करता, २-वह देव दैविक काम-भोगो में इतना अधिक मोहित हो जाता है कि उसका मनुष्य-सम्बन्धी प्रेम दैविक प्रेम के रूप में परिणत हो जाता है। ३-वह देव—"मैं मनुष्य-लोक में जाऊं, अभी जाऊं" यह सोचने पर भी दैविक सुखों को छोड़ नहीं पाता, उधर पूर्व-भव के सम्बंधी अल्पायु वाले होने से अपनी आयु पूर्ण कर लेते है। और ४-देव को मनुष्य-लोक की गन्ध बुरी लगती है। मनुष्य-लोक की गन्ध पहले, दूसरे आरे में चार सौ योजन और अवशिष्ट आरों में पांच सौ योजन ऊपर आती है।—स्थानांग सूत्र स्थान ४, उ० ३।

अनेकविध ऐश्वर्य अधिगत होता है।

ऊपर की पंक्तियों में आयुष्कर्म के सम्बन्ध में चिन्तन प्रस्तुत किया गया है। इस से स्पष्ट हो जाता है कि इस कर्म के आधार पर स्वर्ग और नरक की दुनिया तैयार होती है, यही कर्म जीव को मनुष्य और पशु बनाता है। आयुष्कर्म के बन्धकारणों को देखने से पता चलता है कि मनुष्य अपने भविष्य की स्वयं ही रचना करता है, अपने आचार से ही यह स्वर्गीय जगत को प्राप्त करता है, और इसी के अशुभ कर्म इसे नरक की दुःख-ज्वालाओं में जलाते हैं। इसलिए जैन-दर्शन कहता है कि अयि मनुष्य! यदि नरक की भीषण यातनाओं से बचना चाहता है तो नरक के दुःखद मार्ग पर मत पांव धर, मांसाहार, पञ्चेन्द्रियवध आदि हिंसापूर्ण प्रवृत्तियों की छाया का भी स्पर्श मत कर, नरक-जन्य भीषण दुःख-ज्वालाओं से बचने का यही सर्वोत्तम मार्ग है। पशु-गति से बचने के लिए छल, फरेब, धोखा छोड़ना होगा, खाने-पीने की वस्तुओं में मिलावट करना, वस्तु के शुद्ध रूप को बिगाड़ देना, ये सब अनर्थोत्पादक कार्यों से विरत रहना होगा। जैन-दर्शन कहता है कि अयि मानव! जीवन की वाटिका में गुरुजनों, वृद्धजनों का मान, झुक कर रहने की वृत्ति, हसद का परित्याग, दीनदुःखियों पर दया-भाव आदि के सुगन्धित पुष्पों को पैदा कर, जिन से तेरा अपना जीवन भी महक सके और दूसरों के जीवन को भी महकाया जा सके। संक्षेप में अपनी बात कहें तो—

जगती में आयुष्कर्म, सब गतियों का मूल,
"ज्ञानमुनी" शुभ कर्म से, खिलें सुखों के फूल।

नाम कर्म

कहा जा चुका है कि द्रव्य कर्म के ज्ञानावरणीय आदि आठ भेद होते हैं, इन में छठा नाम कर्म है। यह कर्म जीव को विभिन्न अवस्थाओं में परिवर्तित करता रहता है। यह कभी जीव को नारकी बनाता है, कभी पशु, कभी मनुष्य और कभी उसे देवता बना डालता है। जैसे चित्रकार अनेक प्रकार के रंगों से विभिन्न प्रकार के अच्छे और बुरे चित्र बना देता है, वैसे नाम कर्म भी जीव के अच्छे और बुरे विभिन्न प्रकार के रूप बना डालता है। देखा जाता है कि किसी मनुष्य का शरीर कोयले जैसा काला और भद्दी आकृति वाला होता है, और कोई मनुष्य गुलाब के फूल जैसा सुन्दर और चित्ताकर्षक होता है, यह सब नाम कर्म का ही प्रभाव होता है। उत्तराध्ययन सूत्र के चाण्डाल-पुत्र श्री हरिकेशिबल जी महाराज के बीभत्स शरीर का और वैदिक-जगत के जाने-माने ऋषिवर श्री अष्टावक्र जी महाराज की शरीर-गत वक्रिमा का कारण नाम कर्म ही था। इसी कर्म के कारण जीवन में सुन्दरता और असुन्दरता के दर्शन होते हैं।

नाम कर्म के भेद—

जिस कर्म के कारण जीवन में लोगों की ओर से प्यार मिलता है, बिना कुछ किए कराए लोग उसे आदरास्पद मान कर चलते हैं, आवाज़ में कोयल जैसा मिठास उपलब्ध होती है, उसे नाम कर्म कहते हैं। इस कर्म के मूल ४२ भेद होते हैं। जैसेकि-१४ पिण्ड प्रकृतियां [प्रकृतियों के पिण्ड-समूह], आठ प्रत्येक-प्रकृतियां, त्रसदशक और स्थावरदशक। गति, जाति, शरीर, अङ्गोपाङ्ग, बन्धन, संघात, संहनन, संस्थान, वर्ण, गन्ध, रस, स्पर्श, आनुपूर्वी और विहायोगति ये १४ पिण्ड-प्रकृतियां हैं, प्रकृतियों के समूह हैं। पराघात, उच्छ्वास, आतप, उद्योत, अगुरुलघु, तीर्थंकर, निर्माण और आघात ये आठ प्रत्येक,

प्रकृतियां हैं। त्रस, बादर, पर्याप्त, प्रत्येक, स्थिर, शुभ, सुभग, सुस्वर, आदेय और यशःकीर्ति ये त्रस-दशक हैं। स्थावर, सूक्ष्म, अपर्याप्तक, साधारण, अस्थिर, अशुभ, दुर्भग, दुःस्वर, अनादेय और अयशःकीर्ति ये स्थावर-दशक हैं। चौदह पिण्ड-प्रकृतियों के उत्तर भेद ६५ होते हैं। जैसेकि—

१-'गतिनाम कर्म'-जिस कर्म के उदय से जीव को नरक आदि की गति की प्राप्ति होती है, वह गति-नाम कर्म होता है। गति शब्द का अर्थ है—गति नामक नाम-कर्म के उदय से प्रा-त होने वाली पर्याय। अथवा जिस स्थान पर जीव जाते हैं, वह स्थान। गतियां-१-'नरक' २-'तिर्यञ्च' ३-'मनुष्य' और ४-'देव' इन भेदों से चार प्रकार की होती हैं। इसीलिए गति-नाम के-१-'नरक-गति-नाम कर्म', २-तिर्यञ्च-गति-नाम कर्म', ३-'मनुष्य-गति-नाम कर्म' और ४-'देवगति-नाम कर्म' ये चार भेद हो जाते हैं। जिस नाम-कर्म के कारण जीव को नरक-गति की प्राप्ति हो, वह नरक-गति-नामकर्म, जिस नामकर्म के कारण जीव को तिर्यञ्च-गति मिले, वह तिर्यञ्च-गति-नामकर्म, जिस नामकर्म के प्रभाव से जीव को मनुष्य-गति की उपलब्धि हो, वह मनुष्य-गति-नामकर्म और जिस नाम-कर्म के प्रताप से जीव को देवगति अधिगत हो, वह देवगति-नामकर्म कहलाता है। स्थानांग सूत्र में गतिया पाच भी मानी गई है। चार उपर्युक्त और पांचवीं सिद्धगति है। जिस क्षेत्र में सिद्ध भगवान विराजमान हों, वह सिद्धगति कहलाती है। सिद्धगति, नाम-कर्म के उदय से प्राप्त नहीं होती, क्योंकि सिद्ध जीवों के कर्मों का सर्वथा अभाव होता है। अतः सिद्धगति का नाम-कर्म के साथ कोई सम्बन्ध नहीं है।

२-'जाति-नाम कर्म'-जिस कर्म के उदय से जीव एकेन्द्रिय और द्वीन्द्रिय आदि कहे जाते हैं, वह कर्म जाति-नाम कर्म कहलाता है। अनेक व्यक्तियों में एकता की प्रतीति कराने वाले समान धर्म को जाति कहते हैं। जैसे गोत्व [गायपना] सभी विभिन्न वर्ण की गौओं में

एकता का बोध कराता है। इसी प्रकार एकेन्द्रिय जाति एक *इन्द्रिय (स्पर्शनेन्द्रिय) वाले जीवों में तथा द्वीन्द्रिय जाति दो इन्द्रिय [स्पर्शना और रसना] वाले जीवों में एकता का बोध कराती है, इसलिए एकेन्द्रिय और द्वीन्द्रिय आदि जीवों के भेद भी जाति कहलाते हैं। ये जातियां पांच होती हैं। जैसेकि-एकेन्द्रिय, द्वीन्द्रिय, त्रीन्द्रिय, चतुरिन्द्रिय और पञ्चेन्द्रिय। पृथ्वी और जल आदि जिन स्थावर जीवों के केवल स्पर्शन नामक एक ही इन्द्रिय होती है, वे एकेन्द्रिय, लट, सीप, अलसिया आदि जिन जीवों के स्पर्शन और रसना ये दो इन्द्रियां होती है, वे द्वीन्द्रिय, चींटी, मकोड़ा आदि जिन जीवों के स्पर्शन, रसना और घ्राण ये तीन इन्द्रियां पाई जाती हैं, वे त्रीन्द्रिय, मक्खी, मच्छर, भंवरी और भंवर आदि जिन जीवों के स्पर्शन, रसना, घ्राण और चक्षु: [नेत्र] ये चार इन्द्रियां उपलब्ध होती है, वे चतुरिन्द्रिय और गाय, भैंस, घोड़ा, सर्प, पक्षी, मनुष्य आदि जिन जीवों के स्पर्शन, रसना, घ्राण, चक्षु: और श्रोत्र ये पांच इन्द्रियां होती हैं वे पञ्चेन्द्रिय कहलाते हैं। एकेन्द्रिय आदि जातियां पांच होती है फलतः जाति-नाम कर्म भी पांच प्रकार का होता हैं। जैसेकि-१-'एकेन्द्रियजाति-नामकर्म' इस नामकर्म के उदय से जीव एकेन्द्रिय जाति प्राप्त करता है, २-'द्वीन्द्रिय-जाति-नामकर्म'-इस कर्म के कारण जीव द्वीन्द्रिय जाति को उपलब्ध करता है, ३-'त्रीन्द्रियजाति-नामकर्म'-इस कर्म के द्वारा जीव को त्रीन्द्रियजाति मिलती है, ४-'चतुरिन्द्रियजाति-नामकर्म'-इस कर्म के प्रभाव से जीव चतुरिन्द्रिय बनता है और ५-'पञ्चेन्द्रिय-जाति-नामकर्म' यह कर्म जीव को १पञ्चेन्द्रिय बनाता है।

---

*जिस से इन्द्र-आत्मा पहचाना जाए उसे इन्द्रिय कहते हैं. जैसे एकेन्द्रिय जीव स्पर्शनेन्द्रिय से पहचाने जाते हैं।

१एकेन्द्रिय जीव की उत्कृष्ट अवगाहना कुछ अधिक हजार योजन की होती है, द्वीन्द्रिय की उत्कृष्ट अवगाहना १२ योजन है, त्रीन्द्रिय की उत्कृष्ट अवगाहना तीन कोस है, चतुरिन्द्रिय की उत्कृष्ट अवगाहना चार कोस है, और पञ्चेन्द्रिय की उत्कृष्ट अवगाहना हजार योजन है।—प्रज्ञापना सूत्र पद २१, उद्देशक २।

३-'शरीर-नाम कर्म'। जिस कर्म के उदय से जीव औदारिक आदि शरीर प्राप्त करता है, उसे शरीर-नाम कर्म कहते हैं। जो उत्पत्ति समय से लेकर प्रतिक्षण जीर्ण-शीर्ण होता रहता है, अथवा शरीर-नाम कर्म के उदय से जो उत्पन्न होता है, वह शरीर है। शरीर पांच होते हैं। जैसेकि-'औदारिक', 'वैक्रिय', 'आहारक', 'तैजस' और 'कार्मण'। उदार-प्रधान या स्थूल पुद्गलों से बना हुआ शरीर औदारिक है। तीर्थंकर, गणधर आदि महापुरुषों का शरीर प्रधान-उत्तम पुद्गलों से बना होता है जबकि सर्वसाधारण जीवों का शरीर स्थूल और असार पुद्गलों से। अथवा अन्य शरीरों की अपेक्षा अवस्थित रूप से जो शरीर बड़े परिमाण वाला हो वह औदारिक है। वनस्पति-काय का औदारिक शरीर १ हज़ार योजन की अवस्थित अवगाहना वाला होता है, अन्य सभी शरीरों की अवस्थित अवगाहना इस से कम होती है। वैक्रिय शक्ति वाला भले ही लाख योजन का शरीर बना सकता है, परन्तु वह उसकी अनवस्थित अवगाहना है, भवधारणीय वैक्रिय शरीर की अवगाहना तो पांच सौ धनुष से अधिक नहीं होती। अथवा मांस, रुधिर और अस्थि से बना हुआ शरीर औदारिक कहलाता है। जिस शरीर से विविध या विशिष्ट प्रकार की क्रियाएं होती हैं, वह वैक्रिय शरीर है। इस शरीर वाला व्यक्ति अनेक रूप धारण कर सकता है। छोटा, बड़ा, दृश्य, अदृश्य, पृथ्वी पर चलने योग्य और आकाश में चलने योग्य इस प्रकार अनेक रूप बना सकता है। वैक्रिय शरीर के-'औपपातिक' और 'लब्धिप्रत्यय' ये दो भेद होते हैं। जन्म से मिलने वाला वैक्रिय-शरीर औपपातिक और तपस्या आदि अध्यात्म अनुष्ठानों द्वारा प्राप्त होने वाला वैक्रिय-शरीर लब्धिप्रत्यय होता है। औपपातिक-वैक्रिय-शरीर देव और नारकी का होता है, जबकि लब्धिप्रत्यय वैक्रिय शरीर मनुष्यों और तिर्यञ्चों में पाया जाता है। प्राणि-दया, तीर्थंकर भगवान का ऋद्धि-दर्शन, तथा संशयनिवारण आदि प्रयोजनों से चौदह पूर्वधारी मुनि महाविदेह क्षेत्र में विराजमान तीर्थंकर भगवान के समीप भेजने के लिए लब्धि-विशेष से अति विशुद्ध

स्फटिक के समान एक हाथ का जो पुतला निकालते हैं, वह आहारक-शरीर है। उक्त प्रयोजनों के सिद्ध हो जाने पर वे मुनिराज इस शरीर को छोड़ देते हैं। तेजःपुद्गलों से बना हुआ शरीर तैजस है। प्राणियों के शरीर में जो उष्णता है, आहार का पाचन होता है, यह इसी शरीर के कारण है। तपविशेष से प्राप्त तैजस-लब्धि का कारण भी यही शरीर होता है। कर्मों से बना हुआ शरीर कार्मण कहलाता है। पांचों शरीरों के इस क्रम का कारण यह है कि आगे-आगे के शरीर पिछले शरीर की अपेक्षा अधिक प्रदेश वाले होते हैं, और परिमाण में सूक्ष्मतर हैं। तैजस और कार्मण शरीर सभी संसारी जीवों में पाया जाता है, मृत्यु के बाद भी ये जीव के साथ रहते हैं। शरीर पांच होते हैं, फलतः शरीर-नाम कर्म भी पाँच प्रकार का होता है। जैसेकि-१-'औदारिक-शरीर-नाम कर्म'-वह कर्म जिस के कारण जीव को औदारिक शरीर मिलता है, २-'वैक्रिय-शरीर-नाम कर्म'-इस कर्म के द्वारा जीव वैक्रिय-शरीर को प्राप्त करता है। ३-'आहारक-शरीर-नाम कर्म'-जो कर्म आहारक शरीर की प्राप्ति में निमित्त बनता है, ४-'तैजस-शरीर-नाम कर्म'-तैजस-शरीर को प्राप्त कराने वाला नाम-कर्म और ५-'कार्मण शरीर-नाम कर्म'-इस कर्म के द्वारा जीव कार्मण-शरीर की उपलब्धि करता है।

४-"अङ्गोपाङ्गनामकर्म"-जिस कर्म के उदय से जीव के अङ्ग और उपाङ्ग के आकार में पुद्गलों का परिणमन होता है उसे अङ्गोपाङ्गनामकर्म कहते हैं। औदारिक, वैक्रिय और आहारक शरीर के ही अङ्ग और उपाङ्ग होते हैं, अतः इन शरीरों के भेद से अङ्गोपाङ्ग-नामकर्म के तीन भेद होते हैं। जैसे कि-१-"औदारिक-अंगोपाङ्ग-नाम-कर्म"-इस कर्म के उदय से औदारिक-शरीर-रूप-परिणत पुद्गलों से अंगोपांगरूप अवयव बनते हैं। २-वैक्रिय अंगोपांगनामकर्म"-इस कर्म के उदय से वैक्रियशरीररूप—परिणत पुद्गलों से अंगोपांगरूप अवयव बनते हैं। और ३-"आहारक-अंगोपांग-नामकर्म"-इस कर्म के

उदय से आहारक-शरीर-रूप-परिणत पुद्गलों से अंगोपांगरूप अवयव बनते हैं।

५--बन्धन-नामकर्म"--जिस प्रकार लाख, गोंद आदि चिकने पदार्थों से दो वस्तुएं आपस में जोड़ दी जाती हैं, उसी प्रकार जिस नामकर्म से प्रथम ग्रहण किए हुए शरीर-पुद्गलों के साथ वर्तमान में ग्रहण किए जाने वाले शरीर-पुद्गल परस्पर बन्धन को प्राप्त होते हैं, वह बन्धननामकर्म कहा जाता है। बन्धन-नामकर्म के पांच भेद होते हैं। जैसे कि-"१--औदारिक-शरीर-बन्धन-नामकर्म"--इस कर्म के उदय से पूर्वगृहीत एवं गृह्यमाण [वर्तमान में ग्रहण किये जाने वाले] औदारिक पुद्गलों का परस्पर व तैजस, कार्मण शरीर-पुद्गलों के साथ सम्बन्ध होता है। "२--वैक्रिय-शरीर-बन्धन-नामकर्म"--इस कर्म के उदय से पूर्व-गृहीत एवं गृह्यमाण वैक्रिय पुद्गलों का परस्पर व तैजस-कार्मण-शरीर के पुद्गलों के साथ सम्बन्ध होता है। ३--"आहारक-शरीर-बन्धन-नामकर्म"--इस कर्म के उदय से पूर्वगृहीत एवं गृह्यमाण आहारक पुद्गलों का परस्पर एवं तैजस-कार्मण शरीर के पुद्गलों के साथ सम्बन्ध होता है। ४--तैजस-शरीर-बन्धन-नामकर्म"--इस कर्म के उदय से पूर्वगृहीत एवं गृह्यमाण तैजस पुद्गलों का परस्पर एवं कार्मणशरीर पुद्गलों के साथ सम्बन्ध होता है। और ५-कार्मण-शरीर-बन्धन-नामकर्म"--इस कर्म के उदय से पूर्वगृहीत एवं गृह्यमाण कर्म-पुद्गलों का परस्पर सम्बन्ध होता है।

६--संघातनाकर्म-पूर्वगृहीत औदारिक शरीर आदि पुद्गलों का गृह्यमाण औदारिक आदि पुद्गलों के साथ सम्बन्ध होना बन्ध है। परन्तु यह बन्ध तभी हो सकता है जबकि वे पुद्गल एकत्रित हो कर सन्निहित हों। संघात-नामकर्म का यही कार्य है कि यह गृहीत और गृह्यमाण शरीर-पुद्गलों को परस्पर सन्निहित करके व्यवस्था से स्थापित करता है, इसके बाद बन्धन-नामकर्म से वे सम्बद्ध हो जाते हैं। जैसे दरान्ती से इधर-उधर बिखरी हुई घास इकट्ठी की जा कर व्यव-

स्थित की जाती है, तभी बाद में वह गट्ठे के रूप में बान्धी जाती है ऐसे ही जिस कर्म के उदय से गृह्यमाण नवीन शरीर-पुद्गल पूर्वगृहीत शरीर-पुद्गलों के समीप व्यवस्थापूर्वक स्थापित किए जाते हैं उसे संघात-नामकर्म कहा जाता है। इसके पांच भेद हैं। जैसेकि-"१--औदारिक-शरीर-संघात-नामकर्म" '२--वैक्रियशरीर-संघातनामकर्म" "३--आहारक-शरीर-संघात-नामकर्म" "४--तैजस-शरीर-संघात-नामकर्म" और "५--कार्मण-शरीर-संघात-नामकर्म"। जिस कर्म के उदय से औदारिक शरीरके रूप से परिणत पूर्व-गृहीत एवं गृह्यमाण पुद्गलों का परस्पर सान्निध्य हो अर्थात् एकत्रित हो कर वे एक दूसरे के साथ व्यवस्थापूर्वक अवस्थित हों वह औदारिक-शरीर-संघात-नामकर्म होता है। इसी प्रकार जिस कर्म के द्वारा वैक्रिय-शरीर-रूप से परिणत पूर्व-गृहीत एवं गृह्यमाण पुद्गलों का परस्पर सान्निध्य हो वह वैक्रिय-शरीर-संघातनाम-कर्म कहलाता है। इसी भांति आहारक-शरीर-संघात-नामकर्म, तैजस-शरीर-संघात-नामकर्म और कार्मणशरीर-सघात-नामकर्म के सम्वन्ध में भी समझ लेना चाहिए।

"७--संहनन-नामकर्म" जिस कर्म के उदय से वज्र-ऋषभ-नाराच आदि संहनन प्राप्त होते हैं वह संहनन-नामकर्म होता है। हड्डियों की रचना-विशेष को संहनन कहते हैं। इस के ६ भेद होते हैं। जैसेकि— "१--वजर्षभनाराच-संहनन" वज्र कील का नाम है, ऋषभ वेष्टनपट्ट और नाराच दोनों ओर के मर्कटबन्ध को कहते हैं। जिस संहनन में दोनों ओर से मर्कटबन्ध द्वारा जुड़ी हुई दो हड्डिओं पर तीसरी पट्ट की आकृति वाली हड्डी का चारों ओर से वेष्टन हो और जिसमें तीनों हड्डियों को भेदने वाली वज्र नामक हड्डी की कील लग रही हो उसे वजर्षभनाराच-संहनन कहते हैं। "२--ऋषभ-नाराचसंहनन" जिस संहनन में दोनों ओर से मर्कटबन्ध द्वारा जुड़ी हुई दो हड्डियों पर तीसरी पट्ट की आकृति वाली हड्डी का चारों ओर से वेष्टन हो परन्तु तीनों हड्डियों का भेदन करने वाली वज्र नामक हड्डी की

कील न लग रही हो वह ऋषभ-नाराच-संहनन कहलाता है। "३--नाराच-संहनन" इस संहनन में दोनों ओर से मर्कट-बन्ध द्वारा जुड़ी हुई हड्डियाँ हों, परन्तु इनके चारों ओर वेष्टनपट्ट और वज्रनामक कील न हो वह नाराच-संहनन है। "४--अर्धनाराचसंहनन"--वह संहनन जिस में एक ओर तो मर्कटबन्ध हो और दूसरी ओर कील हो। ५--कीलिका-संहनन-वह संहनन जिस में हड्डियां केवल कील से जुड़ी हुई हों। और "६--सेवार्त्तक-संहनन" वह संहनन जिसमें हड्डियाँ पर्यन्त भाग में एक दूसरे का स्पर्श करती हुई रहती हैं तथा सदा चिकने पदार्थों के प्रयोग एवं तैलादि की मालिश की अपेक्षा रखती हैं। संहनन ६ प्रकार के होते हैं, फलत: संहनन-नामकर्म भी ६ प्रकार का होता है। जैसे कि-"१--वज्रर्षभनाराच-संहनन-नामकर्म"--वह नामकर्म जिसके द्वारा वज्रर्षभनाराच-संहनन की प्राप्ति होती है। "२--ऋषभ-नाराचसंहनन-नामकर्म"--इस नामकर्म से ऋषभनाराच-संहनन की प्राप्ति होती है। "३--नाराचसंहनन-नामकर्म"--जो नामकर्म नाराच-संहनन की प्राप्ति का कारण होता है। "४--अर्धनाराचसंहनन-नामकर्म"--वह नामकर्म जो अर्धनाराच-संहनन प्राप्त कराता है। "५--कीलिका-संहनन-नामकर्म"--जिस नामकर्म के प्रभाव से कीलिका-संहनन उपलब्ध होता है, और "६--सेवार्त्तक-संहनन-नामकर्म"--वह नामकर्म जिस के द्वारा जीव को सेवार्त्तक-संहनन मिलता है।

"८--संस्थाननामकर्म"--जिस कर्म के प्रताप से जीव को समचतुरस्र आदि संस्थानों की प्राप्ति होती है, उसे संस्थाननामकर्म कहते हैं। शरीर के आकार को संस्थान कहते हैं। इसके ६ भेद होते हैं। जैसेकि-"१--समचतुरस्र-संस्थान"। सम का अर्थ है-समान। चतुर् चार और अस्र कोण को कहते हैं। पालथी मार कर बैठने पर जिस शरीर के चारों कोण समान हों, दोनों जानुओं का अन्तर, वाम स्कन्ध और दक्षिणजानु का अन्तर, दक्षिण स्कन्ध और वाम जानु का अन्तर समान हो उसे समचतुरस्र-संस्थान कहते हैं। या सामुद्रिक शास्त्र के

अनुसार जिस शरीर के सम्पूर्ण अवयव ठीक प्रमाण वाले हों उसे सम-चतुरस्र-संस्थान कहा जाता है। "२--न्यग्रोधपरिमण्डलसंस्थान"--न्यग्रोध वटवृक्ष का नाम है, जैसे वटवृक्ष ऊपर के भाग में फैला हुआ होता है और नीचे के भाग में संकुचित, उसी प्रकार जिस शरीर में नाभि के ऊपर का भाग विस्तार वाला अर्थात्-शास्त्र के अनुसार उचित प्रमाण वाला हो और नीचे का भाग हीन अवयव वाला हो उसे न्यग्रोधपरिमण्डल संस्थान कहते हैं। "३--सादिसंस्थान"--यहाँ सादि शब्द का अर्थ नाभि से नीचे के भाग का है। जिस शरीर में नाभि के नीचे का भाग पूर्ण और ऊपर का भाग हीन हो वह सादि-संस्थान कहलाता है, कहीं पर सादि-संस्थान के स्थान पर "साची-संस्थान" भी लिखा है। साची शाल्मली वृक्ष का नाम है। शाल्मली वृक्ष का धड़ जैसा पुष्ट होता है, वैसा ऊपर का भाग नहीं होता। अतः जिस शरीर में नाभि के नीचे का भाग परिपूर्ण होता है और ऊपर का भाग हीन होता है वह साचीसंस्थान है। "४--कुब्जसंस्थान" जिस शरीर में हाथ, पैर, सिर, गरदन आदि अवयव ठीक हों परन्तु छाती, पेट आदि अवयव टेढ़े हों उसे कुब्जसंस्थान कहा जाता है। "५--वामन-संस्थान"--जिस शरीर में छाती, पेट और पीठ आदि अव-यव पूर्ण हों, परन्तु हाथ और पांव आदि अवयव छोटे हों उसे वामन-संस्थान कहते हैं और "६--हुण्डक-सस्थान"--जिस शरीर के समस्त अवयव बेढ़ब हों, एक भी अवयव शास्त्रोक्त प्रमाण के अनुसार न हो, वह हुण्डकसंस्थान होता है। संस्थान ६ प्रकार के होते हैं, फलतः संस्थाननामकर्म भी ६ प्रकार का ही होता है। जैसे कि-"१--समच-तुरस्र-संस्थान-नामकर्म"--इस नामकर्म के उदय से समचतुरस्र नामक संस्थान की प्राप्ति होती है "२--न्यग्रोध-परिमण्डल-संस्थान-नामकर्म-जिस कर्म के प्रताप से जीव को न्यग्रोधपरिमण्डल नामक संस्थान की उपलब्धि हो, "३--सादिसंस्थाननामकर्म"--जिस कर्म से जीव को सादिसंस्थान मिलता है, "४--कुब्जसंस्थान-नामकर्म"--जो कर्म जीव को

कुब्ज नामक संस्थान प्राप्त कराता है। ५-"वामनसंस्थान-नामकर्म"-- वह नामकर्म जो जीव को वामनसंस्थान की प्राप्ति करवाता है। और "६--हुण्डक-संस्थाननामकर्म"--वह कर्म जो जीव को हुण्डकसंस्थान वाला बनाता है।

"९--वर्णनामकर्म"--जिस कर्म के उदय से जीव का शरीर कृष्ण आदि वर्णों वाला बनता है, इसे वर्ण-नामकर्म कहते हैं। कृष्ण और नील आदि वर्ण *पांच होते हैं, फलतः वर्णनामकर्म भी पांच प्रकार का होता है। जैसे कि-"१--कृष्णवर्णनाम"--इस नामकर्म के कारण जीव का शरीर कोयले जैसा काला होता है। "२--नीलवर्णनामकर्म"- इस कर्म से जीव का शरीर तोते के पंख जैसा हरा होता है। "३-- लोहित-वर्ण-नामकर्म"--इस कर्म के उदय से जीव का शरीर सिन्धूर जैसा लाल होता है, "४--हारिद्रवर्णनामकर्म"--इस कर्म से जीव का शरीर हल्दी जैसा पीला होता है। और ५--"श्वेतवर्ण-नामकर्म"-- इस कर्म के उदय से जीव का शरीर शंख जैसा सफेद होता है।

"१०--गन्धनामकर्म"--जिस कर्म के उदय से शरीर की अच्छी या बुरी गन्ध होती है, उसे गन्धनामकर्म कहते हैं। इस के "१--सुरभि- गन्ध-नामकर्म"- और "२--दुरभिगन्ध-नामकर्म" ये दो भेद होते हैं। जिस कर्म के उदय से जीव के शरीर की कपूर, कस्तूरी आदि पदार्थों जैसी सुगन्ध होती है, वह सुरभिगन्ध-नामकर्म होता है, और जिस कर्म के उदय से जीव के शरीर की गन्ध बुरी होती है, उसे दुरभिगन्ध- नाम कर्म कहते हैं।

११--'रस-नामकर्म' जिस कर्म के उदय से जीव का शरीर तीक्ष्ण आदि रसों वाला होता है. उसे रसनामकर्म कहते हैं। रस पांच होते हैं, फलतः रसनामकर्म के भी पांच भेद होते हैं। जैसेकि--१-- तिक्तरसनाम-कर्म-इस कर्म के कारण जीव के शरीर का रस सोंठ और काली मिरच जैसा चरचरा होता है। २--'कटुरस-नामकर्म'--

* मूलरूप से तो वर्ण पांच ही होते हैं किन्तु इन के अतिरिक्त अन्य वर्ण भी होते हैं जो इन्हीं के संयोग से बन जाते हैं।

इस कर्म से जीव के शरीर का रस नीम या चरायते जैसा कडुवा होता है। ३—कषायरस—नामकर्म—इस कर्म के कारण जीव के शरीर का रस आंवले या बहेड़े जैसे कसायला होता है, ४—अम्लरस-नामकर्म—इस कर्म से जीव के शरीर का रस नींनू, इमली जैसा खट्टा होता है। और ५—"मधुररस-नामकर्म"—इस कर्म से जीव के शरीर का रस गन्ने जैसा मीठा होता है। रसों के संयोग से अन्य रस भी बनाएं जा सकते हैं किन्तु मूलरूप से रस पांच ही होते हैं, इसीलिए रसनाम-कर्म के पांच ही भेद होते हैं, अधिक नहीं।

१२—'स्पर्शनामकर्म'—जिस कर्म के उदय से शरीर में कोमल और रूक्ष आदि स्पर्श उत्पन्न होते हैं उसे स्पर्शनामकर्म कहते हैं। स्पर्श आठ होते हैं, परिणामस्वरूप स्पर्शनामकर्म भी आठ प्रकार का होता है। जैसे कि-१—'गुरुस्पर्श-नामकर्म'—इस कर्म के उदय से जीव का शरीर लोहे जैसा भारी होता है। २-'लघुस्पर्श-नामकर्म' इस कर्म के उदय से जीव का शरीर आक की रूई जैसा हलका होता है। ३—मृदुस्पर्शनामकर्म—इस कर्म के उदय से जीव का शरीर मक्खन जैसा कोमल होता है। ४—'कर्कशस्पर्शनाम-कर्म'—इस कर्म के उदय से जीव का शरीर कर्कश, खुरदरा होता है। ५—शीतस्पर्श-नामकर्म'—इस कर्म के उदय से जीव का शरीर कमलदण्ड जैसा ठण्डा होता है। ६—'उष्णस्पर्शनामकर्म'—इस कर्म के उदय से जीव का शरीर अग्नि जैसा गरम होता है। ७—'स्निग्धस्पर्शनाम-कर्म'—इस कर्म से जीव का शरीर घृत के समान चिकना होता है, और ८—रूक्षस्पर्शनामकर्म—इस कर्म के उदय से जीव का शरीर राख के समान रूखा होता है।

१३—'आनुपूर्वीनामकर्म'—जिस कर्म के उदय से जीव विग्रहगति से अपने उत्पत्तिस्थान पर पहुंचता है उसे आनुपूर्वी-नामकर्म कहते हैं। आनुपूर्वी-नामकर्म के लिए नासा-रज्जु का दृष्टान्त दिया जाता है। जैसे इधर-उधर भटकता हुआ बैल नासारज्जु के द्वारा इष्ट स्थान-

पर ले जाया जाता है। इसी प्रकार जीव जब समश्रेणी से जाने लगता है तब आनुपूर्वी-नामकर्म द्वारा विश्रेणी में रहे हुए उत्पत्ति-स्थान पर पहुंचाया जाता है, यदि उत्पत्तिस्थान समश्रेणी में हो तो वहां आनुपूर्वी-नामकर्म का उदय नहीं होता, वक्रगति में ही इसका उदय हो पाता है। गति के नरकादि चार भेद होते हैं, फलतः आनुपूर्वी-नामकर्म के भी चार भेद हो जाते हैं। जैसेकि—१—'नरकानुपूर्वी-नामकर्म'—इस कर्म के कारण समश्रेणी में चलता हुआ जीव विश्रेणी में अवस्थित अपने उत्पत्तिस्थान नरक-गति को प्राप्त करता है। २—'तिर्यञ्चानुपूर्वी-नामकर्म'—इस कर्म के उदय से समश्रेणी में चलता हुआ जीव विश्रेणी में अवस्थित अपने उत्पत्तिस्थान तिर्यञ्च-गति को प्राप्त करता है। ३—'मनुष्यानुपूर्वी-नामकर्म'—इस कर्म से समश्रेणी में चलता हुआ जीव विश्रेणी में अवस्थित मनुष्यगति को उपलब्ध करता है और ४—'देवानुपूर्वीनामकर्म'—इस कर्म से समश्रेणी में प्रस्थित जीव विश्रेणी में अवस्थित अपने उत्पत्तिस्थान देवगति को सम्प्राप्त करता है।

१४—'विहायोगति-नामकर्म—जिस कर्म के उदय से जीव की गति [गमनक्रिया] हाथी या बैल के समान शुभ अथवा ऊंट या गधे के समान अशुभ होती है, उसे विहायोगति-नामकर्म कहते हैं। इसके १—शुभ-विहायोगति-नामकर्म' और २—'अशुभ-विहायोगति-नामकर्म' ये दो भेद होते हैं। जिस कर्म के उदय से जीव की गति हाथी या हंस के समान शुभ हो वह शुभविहायोगति-नामकर्म और जिस कर्म के उदय से जीव की गति ऊंट या गधे के समान अशुभ हो वह अशुभविहायोगति-नामकर्म कहलाता है।

ऊपर की पंक्तियों में १४ पिण्डप्रकृतियों के उत्तर-भेदों का निर्देश किया गया है। इससे यह स्पष्ट हो जाता है कि गति ४, जाति ५, शरीर ५, अङ्गोपाङ्ग ३, बन्धन ५, संघात ५, संहनन ६, संस्थान ६, वर्ण ५, गन्ध २. रस ५, स्पर्श ८, आनुपूर्वी ४ और विहायोगति २, ये

सब मिलाकर ६५ भेद सम्पन्न होते हैं। इसके अतिरिक्त, यह भ समझ लेना चाहिये कि एक शरीर के पुदगलों के साथ उसी शरीर के पुद्गलों के बन्ध की अपेक्षा से बन्धन-नामकर्म के ५ भेद बताए गए हैं परन्तु एक शरीर के साथ जैसे उसी शरीर के पुद्गलों का बन्ध होता है, वैसे दूसरे शरीरों के पुद्गलों का भी बन्ध पाया जाता है, इस अपेक्षा से बन्धननामकर्म के १५ भेद बन जाते हैं। वे भेद इस प्रकार हैं—

१—'औदारिक-औदारिक-बन्धन-नामकर्म'—इस कर्म के उदय से पूर्वगृहीत औदारिक पुद्गलों के साथ ग्रहण किए जाने वाले औदारिक पुद्गलों का सम्बन्ध जुड़ता है। २—'औदारिक-तैजस-बन्धननामकर्म'—इस कर्म से पूर्वगृहीत औदारिक पुद्गलों के साथ ग्रहण किए जाने वाले तैजस पुद्गलों का सम्बन्ध जुड़ता है। ३—'औदारिक-कार्मण-बन्धन-नामकर्म'—इस कर्म से पूर्वगृहीत औदारिक पुद्गलों के साथ गृह्यमाण कार्मणशरीर के पुद्गलों के साथ सम्बन्ध जुड़ता है। ४—'वैक्रिय-वैक्रिय-बन्धननामकर्म'—इस कर्म से पूर्व-गृहीत वैक्रियपुद्गलों के साथ गृह्यमाण वैक्रियपुद्गलों का सम्बन्ध जुड़ता है ५—'वैक्रिय-तैजस-बन्धन-नामकर्म'—इस कर्म से पूर्वगृहीत वैक्रिय-पुद्गलों के साथ गृह्यमाण तैजसपुद्गलों का सम्बन्ध जुड़ता है। ६—'वैक्रिय-कार्मण-बन्धन-नामकर्म'—इस कर्म से गृहीत वैक्रिय-शरीर के पुद्गलों के साथ गृह्यमाण कार्मण शरीर के पुद्गलों का संबंध जुड़ता है। ७—'आहारक-आहारक-बन्धननामकर्म'—इस कर्म से गृहीत आहारक-शरीर के पुद्गलों के साथ गृह्यमाण आहारक-शरीर के पुद्गलों का सम्बन्ध जुड़ता है। ८—'आहारक-तैजस-बन्धन-नामकर्म'—इस कर्म से पूर्वगृहीत आहारक-पुद्गलों के साथ गृह्यमाण तैजस-पुद्गलों का सम्बन्ध जुड़ता है। ९—'आहारक-कार्मण-बन्धन-नामकर्म'—इस कर्म से पूर्व गृहीत आहारक-पुद्गलों के साथ गृह्यमाण कार्मण-पुद्गलों का सम्बन्ध जुड़ता है। १०—'औदारिक-तैजस-

कार्मण-बन्धननामकर्म'—इस कर्म के उदय से पूर्वगृहीत औदारिक पुद्गलों के साथ ग्रहण किए जाने वाले तैजस और कार्मण शरीर के पुद्गलों का सम्बन्ध जुड़ता है। ११—'वैक्रिय-तैजस-कार्मण-बन्धन-नामकर्म'—इस कर्म के उदय से पूर्वगृहीत वैक्रिय—शरीर के पुद्गलों के साथ गृह्यमाण तैजस और कार्मण शरीर के पुद्गलों का सम्बन्ध जुड़ता है। १२—'आहारक-तैजस-कार्मण-बन्धननामकर्म'—इस कर्म से पूर्व-गृहीत आहारक शरीर के पुद्गलों के साथ तैजस-और कार्मण शरीर के पुद्गलों का सम्बन्ध जुडता है। १३—'तैजस-तैजस-बन्धन-नामकर्म'—इस कर्म से पूर्वगृहीत तैजस शरीर के पुद्गलों के साथ गृह्यमाण तैजस शरीर के पुद्गलों का सम्बन्ध जुड़ता है। १४—'तैजस-कार्मण-बन्धन-नामकर्म'—इस कर्म से पूर्व-गृहीत तैजस-शरीर के पुद्गलों के साथ गृह्यमाण कार्मण-पुद्गलों का सम्बन्ध जुडता है। और १५—'कार्मण-कार्मण-बन्धननामकर्म'—इस कर्म के उदय से पूर्वगृहीत कार्मण शरीर के पुद्गलों के साथ ग्रहण किए जाने वाले कार्मण शरीर के पुद्गलों का सम्बन्ध जुडता है यहां। एक बात और समझ लेनो चाहिए कि औदारिक, वैक्रिय और आहारक शरीरों के पुद्गलों का आपस में सम्बन्ध नहीं होता, क्योंकि इन का आपस में कोई मेल नहीं है, इसलिए इनका सम्बन्ध कराने वाले नामकर्म भी नही हैं। इस तरह बन्धन-नामकर्म के १५ भेद मान लेने पर पिण्डप्रकृतियों के १० उत्तर-भेद और बढ़ जाते हैं।

आठ प्रत्येक-प्रकृतियां—

१४ पिण्डप्रकृतियों के उत्तरभेदों का वर्णन ऊपर किया जा चुका है। अब आठ प्रत्येक प्रकृतियों का वर्णन किया जा रहा है। जैसे कि १—'पराघातनामकर्म'—इस कर्म के उदय से जीव बलवानों के लिये भी अजेय होता है। २—'उच्छ्वासनामकर्म'—इस कर्म के उदय से जीव श्वासोच्छ्वास नामक लब्धि से युक्त होता है। बाहिर की वायु को नासिका द्वारा अन्दर खींचना श्वास है, और शरीर के अन्दर की वायु को नासिका के द्वारा बाहर निकालना उच्छ्वास है। इन दोनों

क्रियाओं को सम्पन्न करने की शक्ति जीव उच्छ्वास-नाम-कर्म से प्राप्त करता है। ३—'आतपनामकर्म'। इस कर्म से जीव का शरीर स्वयं उष्ण न होकर भी उष्ण प्रकाश करता है। सूर्यमण्डल के बाहर एकेन्द्रिय पृथ्वीकाय के जीवों का शरीर ठण्डा होता है परन्तु आतपनाम कर्म के उदय से वे उष्ण प्रकाश करते हैं। सूर्यमण्डल के बाहर एकेन्द्रिय पृथ्वीकाय से जीवों के सिवाय अन्य जीवों के आतपनामकर्म का उदय नहीं होता। अग्निकाय का शरीर भी उष्ण प्रकाश करता है। परन्तु वहां आतपनामकर्म का उदय नहीं समझना चाहिये। उष्णस्पर्शनामकर्म के उदय से उन का शरीर उष्ण होता है और लोहित-वर्णनामकर्म के उदय से प्रकाश करता है। ४—'उद्योतनामकर्म'—इस कर्म के उदय से जीव का शरीर शीतल प्रकाश फैलाता है। लब्धिधारी मुनि जब वैक्रिय-शरीर धारण करते हैं। तथा देव जब अपने मूलशरीर की अपेक्षा उत्तरवैक्रिय-शरीर धारण करते हैं, उस समय उन के शरीर से शीतल प्रकाश निकलता है। यह उद्योतनामकर्म के उदय से समझना चाहिए। इसी तरह चन्द्र, नक्षत्र और तारामण्डल के पृथ्वीकायिक जीवों के शरीर से जो शीतल प्रकाश निकलता है, रत्न तथा प्रकाशवाली औषधियां जो शीतल प्रकाश प्रदान कर हैं, यह सब उद्योतनामकर्म के फलस्वरूप ही सम्पन्न होता है। ५—'अगुरुलघुनामकर्म'—इस कर्म के उदय से जीव का शरीर न भारी होता है और न हलका ही होता है। भाव यह है कि जीवों का शरीर न इतना भारी होता है कि संभाला ही न जा सके और न इतना हलका कि हवा से उड़ जाए किन्तु अगुरुलघु-परिणाम वाला होता है। यह अगुरुलघुनामकर्म का ही फल समझना चाहिए। ६—'तीर्थंकरनामकर्म'—'इस कर्म से जीव तीर्थंकर पद पाता है। ७—'निर्माणनामकर्म'—इस कर्म से जीव के अङ्ग और उपाङ्ग यथास्थान व्यवस्थित होते हैं। यह कर्म कारीगर के तुल्य होता है। जैसे कारीगर मूर्ति में हाथ, पांव आदि अवयवों को उचित स्थान पर

बना देता है। वैसे यह कर्म भी शरीर के अवयवों को अपने-अपने नियत स्थान पर व्यवस्थित करता है, जैसे मक्के आदि के दाने एक ही पंक्ति में व्यवस्थित होते हैं, वैसे यह नामकर्म शारीरिक अवयवों की यथास्थान रचना करता है। ८—'उपघात-नाम कर्म'—इस कर्म के उदय से जीव अपने ही अवयवों से स्वयं क्लेश पाता है। जैसे-प्रति जिह्वा, चोर-दान्त, छठी अंगुली सरीखे अवयवों से उनके स्वामी को कष्ट होता है। यह आबाल-वृद्ध प्रसिद्ध है।

त्रस-दशक की १० प्रकृतियां—

१—'त्रसनामकर्म'—जिस कर्म के उदय से जीवों को त्रसकाय की प्राप्ति होती हो वह त्रसनामकर्म कहलाता है। जो जीव सर्दी और गरमी से अपना संरक्षण-बचाव करने के लिए एक स्थान से दूसरे स्थान पर जा सकते हैं, चल तथा फिर सकते हैं वे त्रस कहलाते हैं। द्वीन्द्रिय, त्रीन्द्रिय, चतुरिन्द्रिय और पञ्चेन्द्रिय ये सब जीव त्रस माने जाते हैं। २— 'बादरनाकर्म—इस कर्म से जीव बादर होते हैं। जो चक्षु का विषय हो वह बादर कहलाता है किन्तु यहां बादर का यह अर्थ अभीष्ट नहीं है। क्योंकि प्रत्येक-पृथ्वीकाय आदि का शरीर बादर होते हुये भी आंखों से नहीं देखा जाता, यह प्रकृति जीव-विपाकिनी है और जीवों में बादर-परिणाम उत्पन्न करती है। इस का शरीर पर इतना असर अवश्य होता है कि बहुत से जीवों का समुदाय दृष्टिगोचर हो जाता है। जिन्हें इस कर्म का उदय नहीं होता, ऐसे सूक्ष्म जीव समुदाय-दशा में भी दिखाई नहीं देते। ३—पर्याप्तनामकर्म'—इस कर्म के उदय से जीव अपने योग्य पर्याप्तियों से युक्त होते हैं। पर्याप्तियों का स्वरूप पीछे पृष्ठ २२१ पर लिखा जा चुका है। मृत्यु के बाद जब जीव पैदा होता है तो उत्पत्तिस्थान में पहुंच कर कार्मण-शरीर के द्वारा यथायोग्य सभी पर्याप्तियों को बनाना प्रारम्भ कर देता है। औदारिक-शरीरधारी जीवके आहार-पर्याप्ति एक समय में और शेष पर्याप्तियां अन्तर्मुहूर्त्त में क्रमशः पूर्ण

होती है। वैक्रिय-शरीरधारी-जीव के शरीर पर्याप्ति पूर्ण होने में अन्तमु' हूर्त लगता है और अन्य पर्याप्तियां एक समय में पूर्ण हो जाती हैं। ४—'प्रत्येकनामकर्म'—इस कर्म के उदय से जीव में पृथक्-पृथक् शरीर होता है। ५—'स्थिरनाम' इस कर्म के उदय से दान्त. हड्डी, ग्रीवा आदि शरीर के अवयव स्थिर-निश्चल होते हैं। ६—'शुभनामकर्म'—इस कर्म के उदय से नाभि से ऊपर के अवयव शुभ होते हैं। सिर आदि शरीर के अवयवों का स्पर्श पाने पर किसी भी व्यक्ति को अप्रीति नहीं होती है, जैसेकि पाँव के स्पर्श से होती है। यही नाभि से ऊपर के अवयवों का शुभत्व समझना चाहिए। ७—'शुभनामकर्म'—इस कर्म के उदय से जीव किसी प्रकार का उपकार किए बिना या किसी तरह के सम्बन्ध बिना भी सब का प्रीतिपात्र होता है। ८—'सुस्वर-नामकर्म'—इस कर्म से जीव का स्वर मधुर और प्रीतिकारी होता है। ९—'आदेयनामकर्म'—इस कर्म से जीव का वचन सर्वमान्य होता है। १०—'यश:कीर्तिनामकर्म'—इस कर्म के उदय से जीव संसार में यश और कीर्ति प्राप्त करता है। किसी एक दिशा में जो ख्याति या प्रशंसा होती है वह कीर्ति है और सब दिशाओं में जो ख्याति या प्रशंसा होती है वह यश है। अथवा दान,तप आदि से जो नाम होता है वह कीर्ति है और पराक्रम -वीरता से जो नाम फैलता है उसे यश कहते हैं।

स्थावरदशक की १० प्रकृतियां—

१—'स्थावरनामकर्म'—इस कर्म के उदय से जीव स्थिर रहते हैं, सर्दी-गर्मी आदि से बचने का उपाय नहीं कर सकते। पृथ्वीकाय अप्काय, तेजस्काय, वायुकाय और वनस्पतिकाय ये सब स्थावर जीव हैं। तेजस्काय और वायुकाय के जीवों में स्वाभाविक गति तो होती है किन्तु द्वीन्द्रिय आदि त्रस जीवों की तरह सर्दी-गर्मी से बचने को विशिष्ट गति उनमें नहीं पाई जाती। २. 'सूक्ष्मनामकर्म'—इस कर्म के उदय से जीव को सूक्ष्म-चक्षु से अग्राह्य शरीर

की प्राप्ति होती है, सूक्ष्म शरीर न किसी वस्तु से रोका जाता है और न वह स्वयं किसी वस्तु को रोकता है। इस कर्म के उदय से समुदाय-दशा में रहे हुए भी सूक्ष्म प्राणी दिखाई नहीं देते। इस नामकर्म वाले जीव पांच स्थावर ही हैं और सारे लोकाकाश में व्याप्त हैं। ३—'अपर्याप्तनामकर्म'—इस कर्म के उदय से जीव अपने योग्य पर्याप्तियां पूर्ण नहीं कर पाते। अपर्याप्त जीव दो प्रकार के होते हैं -१-'लब्धि-अपर्याप्त'—जो जीव अपनी पर्याप्तियां पूर्ण किए बिना ही मरते हैं। ये जीव आहार, शरीर और इन्द्रिय ये तीन पर्याप्तियां तो पूर्ण करके ही मरते हैं। क्योंकि इन्हें पूर्ण किए बिना जीव आगामी भव की आयु नहीं बान्ध सकता। २—'करणअपर्याप्त'—जिन्होंने अपनी पर्याप्तियां अभी पूर्ण नहीं की हैं किन्तु भविष्य में करने वाले हैं। ४—'साधारणनामकर्म'— इस कर्म के उदय से अनन्त जीवों का एक ही शरीर होता है। ५—'अस्थिरनामकर्म'—इस कर्म के उदय से कान, भौंह और जीभ आदि अवयव अस्थिर-अचपल होते हैं। ६—'अशुभनामकर्म'— इस कर्म के उदय से नाभि से नीचे के पांव आदि अवयव अशुभ होते हैं। ७–'दुर्भगनामकर्म' इस कर्म के उदय से उपकारी होते हुए या सम्बन्धी होते हुए भी जीव लोगों को अप्रिय लगता है। ८—'दुःस्वरनामकर्म'—इस कर्म के उदयसे जीव का स्वर कर्कश, सुनने में अप्रिय लगता है। ९—'अनादेयनाम कर्म'—इस कर्म से जीव का वचन युक्तियुक्त होते हुए भी ग्राह्य नहीं होता। और १०—अयश कीर्तिनामकर्म—इस कर्म के उदय से जीव को संसार में अपयश और अपकीर्ति की प्राप्ति होती है।

इस तरह नामकर्म की ६५ पिण्डप्रकृतियां, ८ प्रत्येकप्रकृतियां, १० त्रसदशक और १० स्थावरदशक ये सब मिलाकर ९३ प्रकृतियां बन जाती हैं। इनमें बन्धन-नामकर्म की १० प्रकृतियां और संकलित कर ली जाएं तो नामकर्म की १०३ प्रकृतियां हो जाती हैं। यदि बन्धन और संघात नामकर्म की १० प्रकृतियों का समावेश शरीर-नामकर्म की प्रकृतियों में कर लिया जाए तथा वर्ण, गन्ध, रस और स्पर्श की

२० प्रकृतियाँ न गिन कर सामान्य रूप से चार प्रकृतियाँ ही मान ली जाएं तो बन्ध की अपेक्षा से नामकर्म की ६७ प्रकृतियाँ ही रह जाती हैं। क्योंकि वर्ण, गन्ध, रस और स्पर्श आदि की एक समय में एक ही प्रकृति बन्धती है।

नामकर्म शुभ और अशुभ इन भेदों से दो प्रकार का भी होता है। शुभ नाम की ३७ प्रकृतियाँ मानी जाती हैं। जैसेकि—१—गति—नाम-कर्म के—मनुष्यगति और देवगति ये दो भेद, २—शरीरनामकर्म के औदारिक, वैक्रिय और आहारक आदि पाँचों भेद, ३—जातिनाकर्म का संज्ञी-पञ्चेन्द्रिय एक भेद, ४—अङ्गोपाङ्ग—नामकर्म के—औदारिक-अङ्गोपाङ्ग, वैक्रिय-शरीर-अङ्गोपाङ्ग और आहारक-शरीर-अंगोपांग ये तीन भेद, ५—संहनननामकर्म का वज्रर्षभनाराचसंहनन यह एक भेद, ६—संस्थान—नामकर्म का समचतुरस्रसंस्थान नामक यह एक भेद, ७—वर्णनाम-कर्म का एक भेद शुभवर्ण—नाम कर्म, ८—रसनामकर्म काएक भेद शुभरस—नाम-कर्म,९—गन्ध—नामकर्म का एक भेद—शुभगन्ध, १०—स्पर्शनामकर्म का एक भेद शुभस्पर्श, ११—आनुपूर्वीनामकर्म के—देवानुपूर्वी और मनुष्यानुपूर्वी ये दो भेद, १२—विहायोगति-नामकर्म का एक भेद,—शुभचाल, १३—प्रत्येकनामकर्म की सात प्रकृतियाँ, जैसे कि १—पराघात, २—उच्छ्वास, ३—आतप, ४—उद्योत, ५—अगुरुलघु, ६ -निर्माण और ७—तीर्थंकर। तथा १४—त्रसदशक की १०—प्रकृतियाँ। ये सब मिलकर ३७ प्रकृतियाँ होती हैं। अशुभनामकर्म की ३४ प्रकृतियाँ पाई जाती हैं, वे इस प्रकार हैं—

१—गतिनामकर्म के नरक, और तिर्यञ्च ये दो भेद, २—जाति-नामकर्म के-एकेन्द्रिय, द्वीन्द्रिय त्रीन्द्रिय और चतुरिन्द्रिय ये चार भेद, ३—संहनननामकर्म के वज्रर्षभनाराचसंहनन को छोड़कर शेष ५ भेद, ४—संस्थान-नामकर्म के समचतुरस्र-संस्थान को छोड़कर शेष ५ भेद, ५—वर्णनामकर्म का अशुभवर्ण नामक एक भेद, ६—गन्धनाम-कर्म का अशुभगन्ध नामक एक भेद, ७—रसनामकर्म का अशुभरस

नामक एक भेद, ८—स्पर्शनामकर्म का अशुभस्पर्श नामक एक भेद, ९—आनुपूर्वीनाम-कर्म के नरक और तिर्यञ्च ये दो भेद, १०—विहायोगति-नामकर्म का एक भेद-अशुभ चाल, ११—उपघात-नामकर्म का एक भेद-उपघात, १२—स्थावर-दशक के १० भेद। ये सब मिलाकर ३४ भेद होते हैं। शुभनामकर्म के ३७ और अशुभ-नामकर्म के ३४ ये सब मिलाकर ७१ भेद बनते हैं। किन्तु बन्धन-नामकर्म के ५ भेद, संघातनामकर्म के ५ भेद, वर्णनामकर्म के ५ भेद, गन्धनामकर्म के दो भेद, रसनामकर्म के ५ भेद, और स्पर्शनामकर्म के ८ भेद, इन ३० भेदों में से वर्णादि-नामकर्मों के आठ भेद [चार शुभ और चार अशुभ] निकाल देने पर २२ भेद शेष रह जाते हैं। पहले ७१ भेदों में ये २२ भेद मिल जाने पर इनकी संख्या ९३ हो जाती है।

नामकर्म कैसे बान्धा जाता है ?—

ऊपर की पंक्तियों में बताया जा चुका है कि नामकर्म शुभ और अशुभ इन भेदों से दो प्रकार का होता है, और इसके उत्तर-भेद १०३ बनते हैं, परन्तु अब यहां एक प्रश्न यह उपस्थित होता है कि शुभनामकर्म और अशुभनामकर्म कैसे बान्धा जाता है ? इस प्रश्न का समाधान करता हुआ जैनदर्शन कहता है कि शुभनामकर्म चार कारणों से बान्धा जाता है। जैसेकि—१—'काया की सरलता' काया के द्वारा कोई कपटपूर्ण प्रवृत्ति न करना, २—'भाषा की सरलता' बोलते समय कपट का आश्रयण न करना, ३—'भाव की सरलता'—भावना को छलकपट से दूर रखना और ४—अविसंवाद-नयोग'—कहना कुछ और करना कुछ इस प्रकार का व्यापार विसंवा-दनयोग कहलाता है, इस का अभाव अर्थात् मन, वचन, काया में एकता का होना अविसंवादनयोग होता है। भगवतीसूत्र के टीका-कार मन, वचन, और काया की सरलता तथा अविसंवादनयोग में इतना ही अन्तर बतलाते हैं कि मन, वचन, और काया की सरलता

वर्तमानकालीन होती है और अविसंवादनयोग वर्तमान और अतीत-काल की अपेक्षा से है। बृहत्‌हिन्दीकोषकार विसंवाद शब्द के-"झूठा कथन, धोखा, प्रतिज्ञा भंग करना, निराश करना-"आदि अर्थ करते हैं। यदि अविसंवादन को अविसंवाद का समानार्थक मानकर चलें तो यह "प्रतिज्ञा भंग न करना, सत्य बोलना, निराश न करना तथा किसी को धोखा न देना" इन अर्थों का भी बोधक हो जाता है। प्राकृतशब्दमहार्णव-कोषकार विसंवादना का अर्थ-असत्य कथन भी करते हैं, फलतः अविसंवादन का "सत्यकथन" यह अर्थ भी कोष-सम्मत ही समझना चाहिये। तत्त्वार्थसूत्र में पण्डित सुखलाल जी विसंवाद का अर्थ-अन्यथा प्रवृत्ति कराना या दो स्नेहियों के बीच भेद डालना।" ऐसा करते हैं। कर्म-ग्रन्थ में-"शुभनामकर्म को १—'सरल'—मायारहित, जिस का मन-वाणी-शरीर का व्यापार एक जैसा हो, तथा २—'गौरवरहित'—ऋद्धि, रस और साता इन गौरवों से रहित, जीव बांधता है"—ऐसा लिखा है।

शुभनामकर्म के अन्तर्गत तीर्थंकरनामकर्म भी है, तीर्थंकरगोत्र बान्धने के २० बोल माने जाते हैं। वे इस प्रकार हैं—१-७—अरिहन्त सिद्ध, प्रवचन, गुरु, स्थविर, बहुश्रुत और तपस्वी इन सब में भक्ति रखना, इनके गुणों का कीर्तन करना, इनकी सेवा करना, ८—निरन्तर ज्ञान में उपयोग रखना, ९—निरतिचार सम्यक्त्व धारण करना, १०—अतिचार दोष न लगाते हुए ज्ञानादि विनय का सेवन करना, ११—निर्दोष आवश्यक क्रियाएं करना, १२—मूलगुणों और उत्तरगुणों में अतिचार न लगाना, १३—सदा सम्वेग—भाव और शुभ ध्यान में लगे रहना, १४—तप करना, १५—सुपात्रदान देना, १६—दश प्रकार की * वैयावृत्य करना १७—गुरुदेव आदि को

---

* दशविध वैयावत्य इस प्रकार होते हैं "—१—आचार्य, २—उपाध्याय-सूत्र-दाता, ३—स्थविर ४—तपस्वी, ५—ग्लानसाधु की ग्लानिरहित, बहुमानपूर्वक सेवा करना, ६. नवदीक्षित—थोड़े समय का बना साधु, ७. कुल—एक

समाधि प्राप्त हो, वैसा कार्य करना, १८—नया-नया ज्ञान सीखना १९—श्रुत की भक्ति, बहुमान रखना, और २०—प्रवचन की प्रभावना करना।

तत्त्वार्थसूत्र में पण्डित सुखलाल जी तीर्थंकरनामकर्म के बन्ध-कारणों की व्याख्या करते हुए लिखते हैं–१—'दर्शनविशुद्धि'-वीत-राग के कहे हुए तत्त्वों पर निर्मल और दृढ़ रुचि रखना २—'विनयसम्पन्नता'-ज्ञानादि मोक्षमार्ग और उसके साधनों के प्रति योग्य-रीति से बहुमान रखना। ३'—शीलव्रतानतिचार'-अहिंसा, सत्यादि मूलगुणरूप व्रत हैं और इन व्रतों के पालन में उपयोगी होने वाले जो अभिग्रह आदि दूसरे नियम हैं, वे शील हैं, इन दोनों के पालन में कुछ भी प्रमाद न करना। ४—'अभीक्ष्ण ज्ञानोपयोग'—तत्त्वविषयक् ज्ञान में सदा जागरित रहना। ५—'अभीक्ष्णसंवेग'—सांसारिक भोग जो वास्तव में सुख के बदले दुःख के ही साधन बनते हैं, उनसे डरते रहना अर्थात् कभी भी लालच में न पड़ना। ६—'यथाशक्ति-त्याग'—थोड़ी भी शक्ति को बिना छिपाए हुए आहारदान, अभयदान ज्ञानदान आदि दानों को विवेकपूर्वक देना, ७—'यथाशक्तितप'—कुछ भी शक्ति छुपाए बिना विवेकपूर्वक हर तरह की सहनशीलता का अभ्यास करना, ८—'संघसाधु-समाधिकरण'—चतुर्विध संघ और विशेषकर साधुओं को समाधि पहुंचाना अर्थात् वैसा ही करना जिस से कि वे स्वस्थ रहें, ९—'वैयावृत्यकरण'—कोई भी गुणी यदि कठिनाई में आ पडे तो उस समय योग्यरीति से उसकी कठिनाई को दूर करने का यत्न करना। १०-११-१२-१३—'अरिहन्त-भक्ति, आचार्यभक्ति, बहुश्रुत-भक्ति और शास्त्रभक्ति'—अरिहन्त, आचार्य,

---

आचार्य की सन्तति अथवा साधुसमुदायविशेष, ८—गण-कुल का समुदाय, अथवा तीन कुलों का समुदाय, ९—संघ-गणों का समुदाय, और १०—साधर्मिक-लिंग और प्रवचन की अपेक्षा से समान धर्म वाले साधु की ग्लानिरहित, बहुमान-पूर्वक सेवा करना। इससे साधक महानिर्जरा वाला होता है।

बहुश्रुत और शास्त्र इन चारों में शुद्ध निष्ठापूर्वक अनुराग रखना। १४—'आवश्यकापरिहाणि'—सामायिक आदि षड् आवश्यकों के अनुष्ठान को भाव से न छोड़ना। १५—'मोक्षमार्गप्रभावना'—अभिमान को छोड़कर ज्ञानादि मोक्षमार्ग को जीवन में उतारना, तथा दूसरों को उसका उपदेश देकर प्रभाव बढ़ाना। १६—'प्रवचनवात्सल्य'—जैसे बछड़े पर गाय स्नेह रखती है, वैसे ही साधर्मिकों पर निष्काम स्नेह रखना।

नामकर्म का दूसरा भेद अशुभनामकर्म है। यह भी चार कारणों से बांधा जाता है। जैसे कि-१-'काया की वक्रता'। शारीरिक प्रवृत्तियों से धोखा देना, २-'भाषा की वक्रता'। छलपूर्ण भाषा का प्रयोग करना, ३—'भाव की वक्रता'। कपट-पूर्ण भावना बनाए रखना और ४—'विसंवादन-योग'। प्रतिज्ञाओं को भंग कर देना, असत्यमयी प्रवृत्तियां करना। भाव यह है कि मन, वचन और काया के द्वारा मायावी बनने से तथा प्रण-भंग करने से अशुभ नामकर्म को उपार्जना होती है।

अशुभ-नामकर्म के बन्धकारणों का जैनदर्शन ने जो निर्देश किया है, इससे चार बातों को जीवनाङ्गी बनाने की विशेषरूप से प्रेरणा सम्प्राप्त होती है। जैसेकि—१—हृदय के अन्दर कपट न रखकर अन्दर और बाहर से एक रहना चाहिये, जो लोग बगुला-भक्त बनकर लोगों के अरमानों के साथ खेलते हैं, वे अशुभ-नाम कर्म की दलदल में फंस जाते हैं। २—ज़बान से व्यक्ति को जो कुछ कहना अभीष्ट हो वह इतना साफसुथरा और स्पष्ट कहना चाहिये कि सुनने वाला उसे आसानी से समझ सके और किसी भी प्रकार के धोखे में न रहे। ऐसी बात कहना कि जिसके दोनों मतलब निकलते हों, ठीक नहीं है, यह प्रवृत्ति जीव को अशुभनाम कर्म की बेड़ियों में जकड़ देती है। ३—हाथ, पांव और आंख जितने भी शारीरिक अवयव हैं उन से किसी को धोखा नहीं देना चाहिए। शारीरिक अवयवों का धोखा

भी जीव को अशुभकर्म की क़ैद में डाल देता है। और ४—माया-वाद के शैतान के चंगुल में फंस कर जीवन का अनमोल धन बर्बाद नहीं करना चाहिए। जो प्रतीज्ञा कर रखी है, उसका पालन करना चाहिए, दो स्नेहियों के मध्य में वैरविरोध और आपसी वैमनस्य की धारा प्रवाहित नहीं करनी चाहिये। हो सके तो फटे दिलों को सीना चाहिये, परन्तु मिले दिलों को फाड़ना तो बिल्कुल नहीं चाहिये सत्य बोलना चाहिये, किसी को निराशा के गढ़हे में नहीं गिराना चाहिए। किसी की उन्नति देखकर जलना, सड़ना और कुढना भी नहीं चाहिए। ये बातें मनुष्य के समुज्ज्वल भविष्य को अन्धकारमय बना डालती हैं। जैनदर्शन के विश्वासानुसार जीवन को दुःखी बनाने की ये पगडण्डियां हैं। इसके विपरीत, जो मनुष्य इन पापमयी पग-डण्डियों को छोड़देता है और निष्कपता की पगडण्डी पर सच्चे दिल से चलता है, वह एक दिन कर्मों के बन्धनों को तोड़कर परम-धाम मुक्ति में जा विराजता है, और संसार की समस्त असुविधाओं से छुटकारा पाकर सुखों के पवित्र और विशुद्ध सिंहासन को उपलब्ध करने में सफल हो जाता है।

नामकर्म कैसे भोगा जाता है?—

नामकर्म का बन्ध कैसे पड़ता है? यह ऊपर बताया जा चुका है। अब प्रश्न उपस्थित होता है कि नामकर्म जीव को अपने फल का कैसे भुगतान कराता है? इस प्रश्न का समाधान करता हुआ जैनदर्शन कहता है कि नामकर्म शुभ और अशुभ भेदों से द्विविध होता है। शुभनामकर्म का फल कैसे भोगा जाता है? सर्वप्रथम यह समझ लेना आवश्यक है। कर्म-ग्रन्थों की मान्यतानुसार शुभनामकर्म चौदह प्रकार से भोगा जाता है। जैसेकि—१—'इष्ट-शब्द।' अनुकूल शब्द सुनने को मिलते हैं। २—'इष्टरूप।' अनुकूल रूप-वर्ण की प्राप्ति का होना। ३—'इष्ट-गन्ध'। अनुकूल सुगन्धित पदार्थों का प्राप्त करना। ४—'इष्टरस'। अनुकूल रसीले पदार्थों का उपभोग

करना । ५—'इष्टस्पर्श' । अनुकूल स्पर्श वाले पदार्थों का स्वामी बनना । ६—'इष्टगति' । मनचाही गति-गमनक्रिया का उपलब्ध होना । हाथी या हंस जैसी चाल का होना । ७—'इष्टस्थिति' । स्थिति के अनुकूल साधनों का मिलना । जहां कहीं भी ठहरना होता है वह स्थान सुखमय ही प्राप्त होता है । ८-'इष्ट-लावण्य' । अनुकूल सौन्दर्य को प्राप्ति का होना । ९—'इष्ट-यशःकीर्ति' । अनुकूल यश और कीर्ति का प्राप्त होना । यश और कीर्ति में क्या अन्तर होता है ? यह ऊपर पृष्ठ३३१ पर बताया जा चुका है । १०—'इष्ट-उत्थान, बल, वीर्य, पुरुषकार, पराक्रम' । अनुकूल शक्ति का प्राप्त होना । ११—'इष्टस्वरता' । अनुकूल स्वर का प्राप्त होना । १२—'कान्त-स्वरता' । सुन्दर स्वर की प्राप्ति का होना । १३—'प्रियस्वरता' । कोयल जैसे प्रिय स्वर की उपलब्धि का होना । और १४—'मनोज्ञ-स्वरता' । मनोज्ञ-मन के अनुकूल स्वर की प्राप्ति का होना ।

नामकर्म का दूसरा भेद अशुभनामकर्म है । इसका भोग भी १४ प्रकार से होता है । शुभनामकर्म के फल को लेकर जो १४ प्रकार लिखे हैं, उनसे बिल्कुल विपरीत १४ प्रकार अशुभ नामकर्म के फल भी समझने चाहियें । जैसे-अनिष्ट शब्द, और अनिष्ट रूप आदि । शुभ और अशुभ नामकर्म का यह फल स्वतः और परतः दोनों तरह से होता है । वीणा, वर्णक, पीठी, गन्ध, ताम्बूल, पट्ट-रेशमीवस्त्र, शिविका-पालकी, सिंहासन, कुंकुम-केसर, दान, आदि रूप से एक या अनेक पुद्गलों को प्राप्त करके जीव क्रमशः इष्ट शब्द, इष्ट रूप गन्ध, रस, स्पर्श, गति, स्थिति, लावण्य, यशःकीर्ति, इष्ट उत्थानादि एवं इष्ट स्वर आदि रूप से शुभनामकर्म का अनुभव करता है । इसी प्रकार ब्राह्मी औषधि आदि आहार के परिणामस्वरूप पुद्गल-परिणाम से तथा स्वाभाविक पुद्गलपरिणाम रूप बादल आदि का निमित्त पाकर जीव शुभनामकर्म का अनुभव करता है । इसके विपरीत, अशुभ-नामकर्म के अनुभाव-फल को पैदा करने वाले एक

या अनेक पुद्गल, पुद्गलपरिणाम और स्वाभाविक पुद्गल-परिणाम का निमित्त पाकर जीव अशुभनाम-कर्म को भोगता है। यह परतः अनुभाव समझना चाहिये। शुभ और अशुभ नामकर्म के उदय से इष्ट तथा अनिष्ट शब्दादि का जो अनुभव किया जाता है, वह स्वतः अनुभाव माना गया है।

ऊपर की पंक्तियों में नामकर्म के स्वरूप का दिग्दर्शन कराया गया है। चित्रकार जैसे विविध वर्णों से अनेक प्रकार के अच्छे और बुरे रूप बना डालता है, वैसे यह नामकर्म जीव को सुन्दर और असुन्दर आदि अनेकों रूपों में परिवर्तित कर देता है। इसी लिए इस के शुभ और अशुभ ये दो रूप माने गए हैं। अतः विवेकशील व्यक्ति को अशुभनामकर्म की समुत्पादक सामग्री से सदा दूर रहना चाहिये, और शुभनामकर्म की जनक सामग्री उपार्जित करके तथा अपने भविष्य को समुज्वल बनाकर आत्मकल्याण की ओर अग्रसर होना चाहिए।

नामकर्म के स्वरूप को यदि संक्षेप में कहें तो—

नामकर्म इस जगत में, चित्रकार-अनुरूप।
'ज्ञानमुनी' यह जीव के, बदले नाना रूप॥

गोत्रकर्म

कहा जा चुका है कि द्रव्य कर्म आठ प्रकार के होते हैं, इन में सातवां गोत्रकर्म है। यह कर्म जीव को उच्च और नीच कुल में पैदा करता है। कुम्हार जैसे छोटे-बड़े भाजन तैयार करता है वैसे यह कर्म कभी जीव को ऊंचा-आदरस्पद और कभी नीचा-अनादरस्पद बना देता है। देखा जाता है कि कोई व्यक्ति बहुत ऊंचे खानदान में जन्म लेता है और किसी को साधारण सा खानदान भी उपलब्ध

नहीं होता । किसी का कुलसम्बन्धी उच्चता के कारण प्रत्येक सत्कार और सम्मान किया जाता है और किसी को कुलगत-हीनता के कारण निकट भी बैठने नहीं दिया जाता । यह मान और अपमान के कारणभूत प्रशस्त और अप्रशस्त कुल की जो प्राप्ति होती है जैन-दर्शन इस का कारण गोत्रकर्म स्वीकार करता है। गोत्रकर्म ही जीव को जाने-माने और यशस्वी कुल में पैदा करता है और यही कर्म उसे घृणित और कलंकित कुल की प्राप्ति करवाता है।

गोत्रकर्म के दो भेद—

गोत्रकर्म जीवन में क्या कार्य करता है ? इस सम्बन्ध में ऊपर बताया जा चुका है। गोत्रकर्म कितने प्रकार का होता है ? यह समझ लेना भी आवश्यक है। गोत्र कर्मके १—उच्चगोत्र और २—नीचगोत्र ये दो भेद होते हैं। गोत्र कुल को कहते हैं। जिस कर्म के प्रभाव से जीव उच्च कुल में जन्म लेता है वह उच्चगोत्र होता है और जिस कर्म के मेहरबानी से यह जीव नीच कुल में पैदा होता है उसे नीच-गोत्र कहते हैं। आचार, विचार, धर्म तथा नीति की दृष्टि से जिस कुल ने प्रख्याति तथा प्रशंसा प्राप्त कर रखी है वह उच्चकुल कहलाता है तथा आचार, विचार की दुष्टता एवं नीचता से अधर्म और अनैतिकता के चंगुल में फंस कर जो कुल जनताजनार्दन की दृष्टि में अपमानित एवं घृणित समझा जाता है उसे नीचकुल कहते हैं। इक्ष्वाकुवंश, हरिवंश, चन्द्रवंश, सूर्यवंश आदि प्राचीन कुल धर्म और नीति के पूर्ण संरक्षक, सम्वर्धक और सम्पोषक होने के कारण उच्च कुल माने जाते हैं तथा वधिकवंश-कसाइयों का वंश मद्यविक्रेतृ-वंश-मदिरा बेचने वालों का वंश और चौरवंश-चोरों का वंश आदि नीचवंश हिंसक, भ्रष्टाचारी, अनीतिपोषक तथा अधर्मप्रधान होने के कारण नीच कुल माने गए हैं। जैन-दर्शन की मान्यतानुसार उच्चकुल की प्राप्ति का कारण उच्चगोत्रकर्म और नीचकुल की प्राप्ति का कारण नीचगोत्रकर्म माना जाता है।

गोत्र-कर्म कैसे बांधा जाता है ?—

गोत्रकर्म के स्वरूप का दिग्दर्शन ऊपर की पंक्तियों में करा दिया गया है। अब यह प्रश्न उपस्थित होता है कि गोत्रकर्म कैसे बान्धा जाता है ? इस प्रश्न का समाधान करता हुआ जैन-दर्शन कहता है कि गोत्रकर्म १६ कारणों से बान्धा जाता है। इनमें आठ कारण उच्चगोत्र बान्धने के हैं और आठ कारण नीचगोत्र बान्धने के माने गए हैं। इनमें से प्रथम उच्चगोत्रकर्म बांधने के आठ कारण समझ लेने चाहिएं। वे आठ कारण इस प्रकार हैं—

१- 'जाति का मद न करना'। कुछ लोगों को अपनी ब्राह्मण आदि जाति का बड़ा अभिमान होता है, जाति के अहंभाव में आकर वे लोग दूसरी जाति के व्यक्तियों को तुच्छ, नगण्य और हल्का समझने लग जाते हैं। तथा उपेक्षा और घृणा की दृष्टि से देखते हैं। जाति की दृष्टि से किसी को तुच्छ समझना, यह मनुष्य जीवन की बहुत बड़ी कमज़ोरी है। जैन-दर्शन का विश्वास है कि मनुष्य की जाति कोई भी हो, इस से कोई अन्तर नहीं पड़ता। मनुष्य का आचार-विचार ऊंचा होना चाहिए। इसीलिए कवि हरयशराय जी कहते हैं- जाति को काम नहीं जिनमारग', 'संयम को प्रभु आदर दीने'। अतः विवेकशील मनुष्य को भूलकर भी जाति का अभिमान नहीं करना चाहिए। जो व्यक्ति जाति-मद के शैतान से दूर रहता है, वही उच्चगोत्रकर्म का बन्ध करता है। जाति शब्द के-उत्पत्ति,वंश, वर्ण, भाषा,देश, इतिहास, संस्कृति आदि की समानता रखने वाला मानव-समुदाय, रोटी बेटी का सम्बन्ध रखने वाला जनसमुदाय आदि अनेकों अर्थ होते हैं। परन्तु अन्य अर्थ मान्य होने पर भी यहाँ जाति शब्द माता की पितृ-परम्परा का बोधक है। माता का वंश, माता की पितृ-परम्परा जाति कहलाती है। आचार-विचार की समुच्चता की दृष्टि से यदि मातृवंश सम्मानास्पद है तो यह जाति की उच्चता है। इस जातिगत उच्चता का मान न करने से जीव उच्चगोत्रकर्म को बान्धता है।

२—'कुल का मद न करना।' कुल शब्द, वंश, घराना, गोत्र, एक जाति वालों का समूह, समुदाय, जाति आदि अनेकों अर्थों में प्रयुक्त होता है परन्तु प्रस्तुत में यह पिता के वंश, खानदान का बोधक है। जाति शब्द से माता के खानदान का और कुल शब्द से पिता के वंश का परिग्रहण किया जाता है। कुछ लोगों को अपने खानदान का बड़ा नशा होता है, वे अपने वंश को सर्वोच्च मानकर दूसरों के वंश को नीच, हलका या घृणित समझने लग जाते हैं। वे लोग अपने बाप-दादों के गीत गाते हुए दूसरों के पूर्वजों की अवहेलना करते हुए नहीं थकते। अपने बुजुर्ग बड़े अच्छे थे, आचार-विचार की दृष्टि से वे सर्वजनप्रिय थे, 'महाजनो येन गतः स पन्था, आदि उक्तियां ऐसे पूज्य पुरुषों को लेकर ही प्रकट हुई थीं, यह सब सत्य है, परन्तु इनको लेकर अभिमान करना, अस्मिता-भाव के कारण दूसरों के पूर्व-पुरुषों या पूर्वजों के सम्बन्ध में अनाप-शनाप बोलना, उनकी अव-हेलना करना-यह मनुष्यता से गिरी हुई बात है। दूसरे शब्दों में, अपने पूर्व-पुरुषों का अपमान करना होता है। वस्तुतः दूसरों के सम्मान में ही अपना सम्मान सुरक्षित रहा करता है। जो लोग अपने पूर्वजों को सम्मानित और आदरास्पद देखना चाहते हैं उन्हें दूसरों के पूर्वपुरुषों के प्रति आदर-बुद्धि रखनी चाहिये। अपने कुल के अभिमान के शैतान से तो सदा दूर ही रहना चाहिये। अभिमान को छोड़ना मानों उच्चता की ओर प्रस्थान करना है। इसोलिए जैनदर्शन कहता है कि जो व्यक्ति अपने कुल का अभिमान नहीं करता वह उच्चगोत्रकर्म का बन्ध करता है।

३—'बल का मद न करना'। बल शक्ति या ताकत को कहते हैं। यह बल अनेक प्रकार का होता है। भ्रातृबल, पितृबल, मित्रबल, शारीरिकबल, वाचनिकबल, बौद्धिकबल, सामाजिकबल, प्रान्तीयबल, पारिवारिकबल, वैयक्तिकबल, गुरुबल, अधिकारबल, सेनाबल आदि बल के अनेकों प्रकार माने जाते हैं। बल किसी भी प्रकार का क्यों न हो, परन्तु जब मनुष्य को इसका अभिमान हो जाता है, बल के नशे में

जब मनुष्य का दिमाग चकरा जाता है तब यह बल वरदान न रहकर अभिशाप बन जाता है। बल का नशा देशजाति को वैयक्तिक, पारिवारिक, सामाजिक एवं राष्ट्रीय जीवन को कई बार इतना अधिक नुकसान पहुंचाता है कि उस की जड़ें हिला देता है, और मनुष्य का भविष्य कितना भी समुज्ज्वल दिखाई देता हो किन्तु अभिमान उसे भी अन्धकारमय बनाए बिना नहीं छोड़ता। दुर्योधन को अपने बल का अभिमान ही तो था, उसने इसी अभिमान के कारण महाभारत के भयंकर युद्ध को पैदा किया, द्रौपदी जैसी सन्नारी को भरी सभा में नग्न करने का दु:साहस किया। लंकेश रावण ने भी बल के नशे में आकर ही सीता भगवती को चुराने में ज़रा संकोच नहीं किया, और रावण का यह अभिमान ही लंकानाश तथा उसके जीवन-नाश का कारण बना। इससे स्पष्ट है कि बल ने जब भी कभी अपना सम्बन्ध अभिमान से जोड़ा, तभी इसने देश और जाति को सर्वनाश की ओर धकेल दिया। इसीलिए जैन-दर्शन कहता है कि बल का कभी अभिमान नहीं करना चाहिए। जैन-दर्शन की यह भी आस्था है कि जो व्यक्ति अपने बल का अभिमान नहीं करता वह उच्च गोत्रकर्म के शीतल, सुरम्य एवं मनोहर उपवन का स्वामी बन जाता है।

४- 'रूप का मद न करना'। रूप आकृति, सूरत, शकल का नाम है। रूप अनेकविध होते हैं, कोई सुन्दर, कोई बहुत सुन्दर और कोई खराब कोई बहुत खराब और कोई बहुत ही खराब। कई बार तो रूप इतना अधिक निखर उठता है कि कामदेव की याद ताज़ा हो जाती है और कई बार इतना अधिक बिगड़ जाता है कि चाण्डाल-पुत्र हरिकेशिबल जी या ऋषिवर अष्टावक्र का स्मरण हुए बिना नहीं रहता। ये सब रूप की भिन्न-भिन्न अवस्थाएं हैं! परन्तु अध्यात्म जगत में रूप का कोई मूल्य नहीं। अध्यात्म साधना जीवनगत सुन्दरता को ही प्रधानता देती है। वह बाहिर के आकार का निरीक्षण नहीं करती। यदि सौन्दर्य भ्रष्टाचारी है, काम क्रोधी

आदि विकारों का भण्डार बन रहा है तो क्या उस से जीवन का उत्थान एवं कल्याण संभव है? उत्तर स्पष्ट है कि कभी नहीं। मदिरा से भरी बोतल पर अमृत का लेबल लगाने से जैसे मदिरा अमृत का रूप नहीं ले सकती, वैसे बाहिर का सुन्दर रूप अन्दर के भ्रष्टाचार को छुपा नहीं सकता! जीवन की आन्तरिक सुन्दरता ही वास्तविक सुन्दरता होती है। हां, यह सत्य है कि यदि अन्दर और बाहिर दोनों तरह से मनुष्य सुन्दर हो फिर तो कहना ही क्या है, यह तो सोने में सुहागे वाली बात है।

रूप भी शरीर का शृंगार होता है, इस सत्य से भी इनकार नहीं किया जा सकता। परन्तु इसका मनुष्य को अभिमान नहीं करना चाहिए। रूप का अभिमान मनुष्य को पतनोन्मुख बना डालता है। आमतौर पर देखा जाता है कि प्रकृति-देवी ने जिनको रूप दिया है, वे अधिक समय शीशे को पीछे ही पड़े रहते हैं, जब देखो तब शीशा हाथ में लेकर उसमें मुंह को देखते ही मिलते हैं। और न जाने दिन में कितनी बार उन्हें कंघा सर पर फेरना पड़ता है। यदि कोई साधारण आकृति उनके सामने आ जाए तो उसे देख कर वे नाक चढ़ा लेते हैं और कई बार उस पर थूकने तक से संकोच नहीं करते। ये सब गलत बातें रूप के अभिमान के कारण होती हैं। इसीलिए जैन-दर्शन रूप-मद न करने की बात कहता है। इसके अतिरिक्त, जैन-दर्शन का यह भी मान्यता है कि जो व्यक्ति रूप का मद नहीं करता, उसका अन्तर्जगत उच्चगोत्रकर्म की ज्योति से ज्योतित हो उठता है।

५- 'तप का मद न करना'। तपस्या का अभिमान न करने से जीव उच्चगोत्रकर्म की उपार्जना कर लेता है। अतः विवेकशील मनुष्य को तपस्या के अभिमान से सदा दूर रहना चाहिए। तप का अर्थ है—इच्छानिरोध। तप अग्नि के तुल्य माना जाता है। जैसे अग्नि में पड़ा हुआ सोना निर्मल होकर शुद्ध हो जाता है, उसी प्रकार

तपरूपी अग्नि से तपा हुआ आत्मा कर्ममल से रहित होकर शुद्ध-स्वरूप हो जाता है। तप-आभ्यन्तर और बाह्य इन भेदों से दो प्रकार का होता है। केवल शरीर से सम्बन्ध रखने वाले तप को बाह्य तप कहते हैं। इसके ६ भेद होते हैं। जैसे कि—१-'अनशन'। आहार का त्याग करना अनशन है, इसके दो भेद होते हैं -१-'इत्वर' और २-'यावत्कालिक'। उपवास से लेकर ६मास तक ●का तप इत्वर तप है। आमरण अनशन को यावत्कालिक या यावत्कथिक तप कहते हैं। २-'ऊनोदरी'–जिस का जितना आहार है, उससे कम आहार करना। आहार की तरह आवश्यक उपकरणों से कम उपकरण रखना भी ऊनोदरी तप है। इसके द्रव्य और भाव से दो भेद होते हैं। आहार और उपकरण में कमी करना द्रव्य-ऊनोदरी है, क्रोधादि विकारों का त्याग करना भाव ऊनोदरी तप होता है। ३- भिक्षचर्या'-भिक्षा के द्वारा जीवन का निर्वाह करना या विविध अभिग्रह (प्रतिज्ञाविशेष) लेकर भिक्षा का संकोच करते हुए विचरना। अभिग्रह-पूर्वक भिक्षा करने से वृत्ति का संकोच होता है, अतः इसे वृत्ति-संक्षेप भी कहा जाता है। ४-रसपरित्याग-विकारजनक दूध, घृत और दही आदि स्निग्ध और गरिष्ठ खाद्य वस्तुओं का त्याग करना या रसनेन्द्रिय पर नियन्त्रण करना। ५- कायाक्लेश-शास्त्रसम्मत रीति से शरीर को क्लेश पहुंचाना अर्थात् शरीर को साधना, शीर्षासन आदि आसन लगाना, केशलोच करना, शरीर की शोभा व शुश्रूषा का परित्याग करना। और ६-'प्रतिसंलीनता'। इसके चार भेद होते हैं—१-'इन्द्रिय-प्रतिसंलीनता'- शुभाशुभ विषयों में रागद्वेष त्याग कर इन्द्रियों का वश में रखना। २- 'कषाय-प्रतिसंलीनता'- कषायों का उदय न होने देना, उदित कषायों को विफल कर देना। ३-'योग-

---

● भगवान ऋषभदेव के शासन में एक वर्ष, मध्य के बाइस तीर्थंकरो के शासनमें आठ मास और भगवान महावीर के शासन में ६ मास का तप माना जाता है।

प्रतिसंलीनता'- मन वचन और काया के अकुशल व्यापार को रोकना तथा मन और वचन आदि को कुशल व्यापार में लगाना और ४- विविक्तशय्यासनता'- स्त्री, पशु और नपुंसक के संसर्ग से रहित एकान्त स्थान में रहना। इन षड्विध तपों का अधिक प्रभाव शरीर पर पड़ता है, परिणाम-स्वरूप ये बाह्य तप कहे जाते हैं। तप का दूसरा भेद आभ्यन्तर तप है जिस तप का सम्बन्ध आत्मा के भावों से हो उसे आभ्यन्तर तप कहते हैं। इसके भी ६ भेद होते हैं। वे इस प्रकार हैं—

१- 'प्रायश्चित्त'- जिस अनुष्ठान के द्वारा मूल-गुण और उत्तर-गुण विषयक अतिचारों से मलिन आत्मा शुद्ध हो। प्रायः पाप का नाम है और चित्त शुद्धि को कहते हैं, अर्थात् जिस अनुष्ठान से पापों की शुद्धि हो उसे प्रायश्चित्त कहते हैं। २- विनय-नम्रता, निर. भिमानता, अहंभाव का परित्याग करना, सम्माननीय गुरुजनों के आने पर खड़े होना, हाथ जोड़ना, उन्हें आसन देना, उनकी सेवा करना। ३-वैयावृत्य - गुरु, तपस्वी, रोगी और नवदीक्षित आदि मुनिराजों को विधि- पूर्वक आहारादि लाकर देना, उन्हें संयम-साधना में यथाशक्ति सहायता देना, इनके पांव आदि दबाना। ४- 'स्वाध्याय'- अस्वाध्यायकाल टाल कर मर्यादापूर्वक शास्त्रों का पठन,पाठन करना। इसके पांच भेद होते हैं -१-'वाचना'- सूत्र, अर्थ का पढाना, २-'पृच्छना' -संशय होने पर पूछना ३-'परिवर्तना'-पठित पाठों को दोहराते रहना, ४--'अनुप्रेक्षा'— सीखे हुए सूत्र,अर्थ का बार-बार मनन एवं चिन्तन करना और ५—'धर्मकथा'—भव्य जीवों को सन्मार्ग पर लाने के लिये उन्हें शास्त्रों का व्याख्यान सुनाना। ५—'ध्यान'— आर्त्तध्यान और रौद्रध्यान को छोड़कर धर्म और शुक्ल-ध्यान की आराधना करना। एक लक्ष्य पर चित्त को एकाग्र करना ध्यान है। इसके चार भेद होते हैं —१— 'आर्त्तध्यान'—दु.ख में होने वाला ध्यान। २—'रौद्रध्यान'—हिंसा, झूठ, चोरी,धन आदि की रक्षा

में मन का एकाग्रतारूप ध्यान। ३—'धर्मध्यान'—धर्मसम्बन्धी ध्यान और ४—'शुक्लध्यान'-जो ध्यान आठ प्रकार के कर्ममल को दूर करता है या जो शोक को नष्ट करता है। आर्तध्यान के चार प्रकार होते हैं। जैसे कि १—'अनिष्ट-वियोग-चिन्ता'—अनिष्ट शब्द, गन्ध, रूप आदि विषयों तथा उनकी साधन-भूत वस्तुओं का संयोग होने पर उनके वियोग के लिए चिन्ता करते रहना। २'-अनिष्ट-संयोग-चिन्ता'—इष्ट वस्तुओं का वियोग न होने पावे, अतः उनके संयोग की चिन्ता करना। ३— 'रोगचिन्ता'—रोग या कोई बीमारी हो जाने पर उस को दूर करने की चिन्ता या भविष्य में रोग न हों इस सम्बन्ध में चिन्ता का होना और—४ —'निदान'—अपने तप-संयम को देवसम्बन्धी या मनुष्य-सम्बन्धी ऐश्वर्य को प्राप्त करने के लिए दाव पर लगा देना। आर्तध्यानके चार चिन्ह होते हैं—१ 'आक्रन्दन'—ऊंचे स्वर से रोना या चिल्लाना—२—'शोचन'—आखों में आंसु लाकर दीनभाव धारण करना ३—'परिदेवना'—बार-बार विलाप करना, जली सड़ी बातें करना और ४—'तेपनता'—आंसु गिराना, रोते रहना। रौद्रध्यान के चार प्रकार होते हैं, जैसेकि—१—हिंसा-नुबन्धी'—प्रतिक्षण हिंसामयी चिन्तना में रहना, २—'मृषानुबन्धी' प्रतिक्षण दूसरों को धोखा देने की विचारणा करते रहना, और सत्य की साक्षात् मूर्ति बन जाना, ३—'चौर्यानुबन्धी'—सदैव चौर्य-कर्म की साधना में ही जुटे रहना और ४—'संरक्षणानुबन्धी'—अपने वैभव के सम्बन्ध में दूसरों को चोर समझ कर आशंका की दृष्टि से देखना और उन का घात करने के लिये कषायमयी चित्तवृत्ति बनाए रखना। धर्मध्यान के चार प्रकार होते हैं। जैसेकि १—'आज्ञाविचय—भगवान की क्या आज्ञा है? यह विचार करना उसमें एकाग्रता ले आना, २—'अपायविचय'—दुःख का मूल कारण क्या है? यह एकाग्रतापूर्वक चिन्तन करना। दुःख का मूल अपना असाता—वेदनीय कर्म जानकर मन को धैर्यशाली बना लेना। ३—'विपाकविचय'—कर्म-फल के सम्बन्ध में तन्मयता के साथ विचार

करना। धर्मध्यान के चार चिन्ह होते हैं जैसेकि—१—'आज्ञारुचि'—सूत्रोक्त अर्थों पर रुचि रखना, २—'निसर्गरुचि'—बिना किसी उपदेश को स्वभाव से ही जिनभाषित तत्त्वों पर श्रद्धा करना, ३-'सूत्ररुचि'—वीतरागप्ररूपित द्रव्यादि पदार्थों पर श्रद्धा करना और ४—'अवगाढरुचि'—साधु के उपदेश सुनकर उपदेशानुसारी श्रद्धा रखना। धर्मध्यानरूपी प्रासाद पर चढ़ने के लिए चार आलम्बन-सहारे होते हैं। जैसेकि—१'वाचना'-पढ़ाना, २—'पृच्छना'-पूछना ३ -'परिवर्तना'—अपने पाठ को दोह-राते रहना और ४—'अनुप्रेक्षा' चिन्तन करना। धर्मध्यान की चार भावनाएं होती हैं। जैसेकि—१—'एकत्व भावना'—इस संसार में मैं अकेला हूं, मेरा कोई नहीं, और न मैं किसी का हूं, यह विचार करना, २—'अनित्यभावना'=जो जन्मा है, उसे एक दिन मरना है, सदा अवस्थित रहने वाला कोई नहीं है, यह चिन्तन करना, ३—अशरण भावना'—संसार का कोई पदार्थ जीव का शरण नहीं है, धर्म ही केवल शरणदाता है, ऐसी विचारणा करना और, ४—'संसार-भावना'—संसार के सब रिश्ते नाते परिवर्तित होते रहते हैं, जो आज माता है, वह अगले जन्म में पुत्री बन जाती है और पुत्री मां बन जाती है। यह संसार ऐसे ही चलता है। ऐसी चिन्तना करना। शुक्लध्यान भी चार प्रकार का होता है। जैसेकि—'पृथकत्व-वितर्क-सविचार'—जब कोई ध्यान करने वाला पूर्वधर हो, तब पूर्वगत श्रुत के आधार पर, और जब पूर्वधर न हो तब अपने में सम्भवित श्रुत के आधार पर किसी भी परमाणु आदि जड़ या आत्मरूप चेतन, ऐसे एक द्रव्य में उत्पत्ति, स्थिति, नाश, मूर्तत्व आदि अनेक पर्यायों का द्रव्यास्तिक, पर्याया-स्तिक आदि विविध नयों के द्वारा भेदन—प्रधान चिन्तन करता है और यथासंभवित श्रुतज्ञान के आधार पर किसी एक द्रव्यरूप अर्थ पर से, दूसरे द्रव्यरूप अर्थ पर या एक द्रव्यरूप अर्थ पर से, पर्यायरूप अन्य अर्थ पर किंवा एकपर्यायरूप अर्थ पर से अन्यपर्यायरूप अर्थ पर या एक पर्यायरूप अर्थ पर अन्य द्रव्यरूप अर्थ पर चिन्तन के

लिए प्रवृत्त होता है, इसी तरह अर्थ पर से शब्द पर और शब्द पर से अर्थ पर चिन्तनार्थ प्रवृत्ति करता है तथा मन आदि किसी भी योग को छोड़कर अन्य योग का अवलम्बन करता है, तब वह ध्यान पृथक्त्व-वितर्क-सविचार कहलाता है। कारण यह है कि इस में वितर्क-श्रुतज्ञान का अवलम्बन लेकर किसी भी एक द्रव्य में उसके पर्यायों का भेद-पृथक्त्व विविध दृष्टियों से चिन्तन किया जाता है। और श्रुतज्ञान को ही अवलम्बित कर के एक अर्थ पर से दूसरे अर्थ पर, एक शब्द पर से दूसरे शब्द पर, अर्थ पर से शब्द पर से और शब्द से पर अर्थ पर तथा एक योग से दूसरे योग पर संक्रम-संचार करना होता है। २—'एकत्व-वितर्क-अविचार'—उस कथन से विपरीत जब कोई ध्यान करने वाला अपने में सम्भवित श्रुत के आधार पर किसी भी एक ही पर्यायरूप अर्थ को लेकर उस पर एकत्व—अभेदप्रधान चिन्तन करता है और मन आदि तीन योगों में से किसी भी एक ही योग पर अटल रहकर शब्द और अर्थ के चिन्तन एवं भिन्न-भिन्न योगों में संचार का परिवर्तन नहीं करता है, तब वह ध्यान एकत्व-वितर्क-अविचार कहलाता है। कारण यह कि इस में वितर्क-श्रुतज्ञान का अवलंबन होने पर भी एकत्व-अभेद का प्रधानतया चिन्तन रहता है और अर्थ, शब्द किंवा योगों का परिवर्तन नहीं होता। उक्त दोनों में से पहले भेद-प्रधान का अभ्यास दृढ हो जाने के बाद ही दूसरे अभेदप्रधान ध्यान की योग्यता प्राप्त होती है। जैसे समग्र शरीर में व्याप्त सर्पादि के ज़हर को मन्त्र आदि उपायों से सिर्फ डंक की जगह में लाकर स्थापित किया जाता है, वैसे ही सारे जगत् में भिन्न-भिन्न विषयों में अस्थिर-रूप से भटकते हुये मन को ध्यान के द्वारा किसी भी एक विषय पर लगाकर स्थिर किया जाता है। इस स्थिरता के दृढ़ हो जाने पर जैसे बहुत से ईंधन के निकाल लेने और बचे हुए थोड़े से ईंधन के सुलगा देने से अथवा सभी ईंधन के हटा देने से अग्नि बुझ जाती है, वैसे ही उपर्युक्त क्रम से एक विषय पर स्थिरता प्राप्त होते ही आखिरकार मन भी सर्वथा शान्त हो

जाता है। अर्थात् उसकी चंचलता छूट कर वह निष्प्रकम्प बन जाता है। और परिणाम यह होता है कि ज्ञान के सकल आवरणों का विलय हो जाने पर सर्वज्ञता प्रकटित होती है। ३—सूक्ष्मक्रियाप्रति-पाती—जब सर्वज्ञ भगवान *योगनिरोध क्रम में अन्तत: सूक्ष्म-शरीर-योग का आश्रय लेकर दूसरे बाकी के योगों को रोक देते हैं तब वह सूक्ष्मक्रिया—प्रतिपाती ध्यान कहलाता है। कारण यह है कि उसमें श्वासोच्छ्वास सरीखी सूक्ष्मक्रिया ही बाकी रह जाती है और उसमें से पतन होने का संभव ही नहीं है। ४—समुच्छिन्नक्रियानिवृत्ति—जब शरीर की श्वासोच्छ्वास आदि सूक्ष्म क्रियाएं भी बन्द हो जाती हैं और आत्मप्रदेश सर्वथा निष्प्रकम्प हो जाते हैं तब वह समुच्छिन्नक्रियानिवृत्ति ध्यान कहलाता है। कारण यह है कि इसमें स्थूल या सूक्ष्म किसी किस्म की भी मानसिक, वाचिक और कायिक क्रिया ही नहीं होती और बाद में वह स्थिति जाती भी नहीं। इस चतुर्थध्यान के प्रभाव से सर्व आस्रव और बन्ध का निरोध होकर शेष सर्व कर्म क्षीण हो जाने से मोक्ष प्राप्त होता है। तीसरे और चौथे शुक्लध्यान में किसी किस्म के भी श्रुत का अवलंबन नहीं होता, अत: वे दोनों अनालंबन भी कहलाते हैं।★

शुक्लध्यान के चार लिंग—चिह्न होते हैं। जैसे कि—१—अव्यथ-उपसर्गों से डर कर ध्यान से चलित न होना। २—असम्मोह—देवादिकृत माया में सम्मोहित न होना, ३—विवेक—आत्मा को देह

---

* योगनिरोध का वह क्रम ऐसे माना जाता है—स्थूलकाय-योग के आश्रय से वचन और मन के स्थूल योग को सूक्ष्म बनाया जाता है, उसके बाद वचन और मन के सूक्ष्म योग को अवलंबित करके शरीर का स्थूल योग सूक्ष्म बनाया जाता है। फिर शरीर के सूक्ष्म योग को अवलंबित करके वचन और मन के सूक्ष्म योग का निरोध किया जाता है और अन्त में सूक्ष्म-शरीर के योग का भी निरोध किया जाता है।

पण्डित श्री सुखलाल जी के तत्त्वार्थसूत्र से साभार उद्धृत।

से भिन्न एवं सब संयोगों को आत्मा से भिन्न समझना, और ४—व्युत्सर्ग—निःसंगरूप से देह एवं उपाधि का त्याग करना। शुक्लध्यान के चार आलम्बन होते हैं। जैसेकि—१—क्षमा—क्रोध न करना, उदित क्रोध को दबाना, २—मार्दव—मान न करना, उदित मान को दबाना, ३—आर्जव—माया न करना, उदित माया को दबाना और ४—मुक्ति—लोभ न करना, उदित लोभ को दबाना। शुक्लध्यानी की चार भावनाएं होती हैं। जैसेकि—१—अनन्तवर्तितानुप्रेक्षा - भवपरम्परा की अनन्तता की भावना करना, जैसेकि--यह जीव अनादिकाल से संसार में चक्र लगा रहा है। २—विपरिणामानुप्रेक्षा—वस्तुओं के विपरिणमन पर विचार करना। जैसे यह सोचना कि देवलोक आदि सब स्थान अशाश्वत हैं। वहाँ के सुख अस्थायी हैं। ३-अशुभानुप्रेक्षा-ससार के अशुभ स्वरूप पर विचार करना। जैसेकि यह ससार क्या है ? जिसमें एक सुन्दर शरीर वाला व्यक्ति मरकर अपने ही मृत शरीर में कभी कीड़े के रूप में उत्पन्न हो जाता। और ४—अपायानुप्रेक्षा—जीवों को दुःख देने वाले विविध अपायों का चिन्तन करना, जैसे क्रोध आदि चारों कषाय संसार के मूल को सींचने वाले होते हैं।

ऊपर की पंक्तियों में ध्यान के स्वरूप का दिग्दर्शन कराया गया है, यह आभ्यन्तर तप का पांचवां भेद है। अभ्यन्तर तप का छठा भेद है-व्युत्सर्ग। ममता का परित्याग करना व्युत्सर्ग है। यह द्रव्य और भाव इन भेदों से दो प्रकार का होता है। गण, शरीर, उपाधि और आहार का त्याग करना द्रव्यव्युत्सर्ग है, कषाय, संसार और कर्म का त्याग करना भावव्युत्सर्ग है। तप चाहे आभ्यन्तर हो चाहे बाह्य किन्तु इसका कभी अभिमान नहीं करना चाहिए। अभिमान एक विष है, जो तप के अमृत-भोजन को दूषित कर देता है। अतः अभिमान से सदा बचना चाहिए। जैनदर्शन की मान्यता है कि जो व्यक्ति तप का मद नहीं करता, वह उच्चगोत्रकर्म का बन्ध करता है।

६—ज्ञान का मद न करना। जिस आत्मिक शक्ति से बोध प्राप्त होता है, उसे ज्ञान कहते हैं। ज्ञान के मति और श्रुत आदि पांच भेद होते हैं। इनका अर्थ पीछे पृष्ठ १५३ से लेकर २२६ पृष्ठों तक लिखा जा चुका है। कुछ व्यक्तियों के पास ज्ञान की विशिष्टता होती है और कइयों का ज्ञान साधारण होता है। जैनदर्शन कहता है कि ज्ञान का मान नहीं करना चाहिए। साधारण ज्ञान वाले व्यक्तियों को देखकर उन्हें उपेक्षा या घृणा की दृष्टि से नहीं देखना चाहिए। जो व्यक्ति ज्ञान का अभिमान नहीं करते, ज्ञान के क्षेत्र में जन-साधारण को तुच्छ समझ कर उनका अपमान नहीं करते वे उच्च-गोत्रकर्म का बन्ध कर लेते हैं, उच्चगोत्रकर्म के आभूषणों से उनका जीवन आभूषित हो जाता है।

७—लाभ का मद न करना। संसार में मनुष्य जो कुछ भी एश्वर्य या वैभव उपलब्ध करता है. वह सब पुण्य की मधुर कृपा से ही उपलब्ध करता है। जिन लोगों का पुण्य साथी होता है, वे जिधर भी जाते हैं, उधर ही सफलता उनके चरण चूमती है। यदि वे मिट्टी को भी हाथ लगा देते हैं, तो वह स्वर्ण का रूप धारण कर लेती है। देखा जाता है कि कुछ लोग सारा दिन दुकान पर बैठे रहते हैं, खूब परिश्रम करते हैं, ग्राहकों से बड़े स्नेह और आदर का व्यवहार करते हैं, दुकान पर माल भी साफ और सुथरा रखते हैं, कम नहीं तोलते, किसी को धोखा नहीं देते, चाहे कोई बूढा आ जाए, चाहे कोई बालक, सभी के साथ वे प्रामाणिकता का व्यवहार करते हैं। तथापि भाग्य उन का साथ नहीं देता, सारा दिन वे मक्खियां ही उड़ाते रहते हैं, दुकान का किराया निकालना भी कठिन हो जाता है। इसके विपरीत, कुछ लोगों का व्यापार बड़ा चलता है, सारा दिन ग्राहकों की भरमार रहती है, भोजन के खाने को भी उनको फुर्सत नहीं मिलती, बाजार का भाव भी उनका पूरा-पूरा साथ देता है। दुकान पर आकर बैठने की देर होती है कि मानों लक्ष्मी वर्षा करना आरम्भ कर देती

है। ये सब दृश्य अनुकूल और प्रतिकूल भाग्य के कारण ही दृष्टिगोचर होते हैं। जैनदर्शन कहता है कि भाग्य के अनुकूल या साथी होने के कारण यदि लाभ होता है, दुकान में, घर में, या राह चलते हुए पैसा ही पैसा हाथ आता है, तो मनुष्य को अभिमान नहीं करना चाहिए। यह नहीं सोचना चाहिए कि मेरे कारण ही दुकान चलती है, घर का सब सिलसिला मेरे से ही सम्पन्न होता है, मैं न होता तो सब भूखे मर जाते और सारा कारोबार ठप्प हो जाता। जैनदर्शन की आस्था है कि जो व्यक्ति लाभ का. अपनी पुण्यप्रकृति के वैभव या ऐश्वर्य का अभिमान नहीं करते वे उच्चगोत्रकर्म को बान्ध लेते हैं, उच्चगोत्रकर्म के महादेव का वरद हाथ उनके सर पर आ जाता है।

८—ऐश्वर्य का मद न करना। ऐश्वर्य शब्द शक्ति, प्रभुत्व, आधिपत्य, धन, वैभव, अणिमा महिमा, लघिमा, गरिमा, प्राप्ति और प्राकाम्य आदि आठ सिद्धियां, आदि अर्थों का बोधक है। जिससे योगी अणुरूप ग्रहण करके अदृश्य हो सकता है वह सिद्धि अणिमा है। अपनी देह का चाहे जितना विस्तार कर लेने की शक्ति महिमा है। जिसके प्रभाव से सिद्ध पुरुष यथेष्ट छोटा या हलका हो सकता है, उसे लघिमा कहते हैं, जिससे अपना देहभार चाहे जितना बढ़ाया जा सकता है, वह गरिमा है। जिस सिद्धि के द्वारा प्रत्येक अभीष्ट पदार्थ मिलता है, उस सिद्धि को प्राप्ति कहा जाता है। जिसके प्राप्त हो जाने पर मनुष्य जो चाहे वह हो सकता है, वह सिद्धि प्राकाम्य होती है। ऐश्वर्य का प्रसंग चल रहा है। उक्त ऋद्धिएं भी ऐश्वर्य रूप ही होती हैं। दुनिया में बड़े-बड़े ऐश्वर्यशाली व्यक्ति पाए जाते हैं। इस भूतल पर चक्रवर्ती का ऐश्वर्य सर्वोत्तम माना जाता है। चक्रवर्ती के चक्र आदि १४ रत्न होते हैं, जिनकी एक हज़ार यक्षदेव सेवा करते हैं। चक्रवर्ती का भोजन कुछ निराला ही होता है। रोगरहित एक लाख गायों का दूध निकाल कर, वह दूध पचास हज़ार गायों को पिला दिया जाए, फिर उन पचास

हजार गायों का दूध निकाल कर २५ हजार गायों को पिला दिया जाए। इस प्रकार क्रमशः करते हुए अन्त में वह दूध एक गाय को पिला दिया जाए। फिर उस गाय का दूध निकाल कर उत्तम जाति के चावल डाल कर उसकी खीर बनाई जाए और पिस्ता आदि उत्तमोत्तम पदार्थ डाल कर उसको संस्कारित किया जाए। ऐसी खीर का भोजन कल्याण-भोजन कहलाता है। यह कल्याण-भोजन चक्रवर्ती और उसकी पटरानी खाती है। इन दोनों के अलावा, अन्य कोई व्यक्ति इस भोजन को पचा नहीं सकता। ९६ करोड़ ग्राम चक्र वर्ती की अधीनता में होते हैं। इस प्रकार चक्रवर्ती का महान ऐश्वर्य होता है। परन्तु जैनदर्शन कहता है कि दुनिया में ऐसे-ऐसे ऐश्वर्य वाले अनेकों चक्रवर्ती हो गए हैं परन्तु वे भी एक दिन यहां से विदा हो गए। कोई यहाँ रहने नहीं पाया। जब चक्रवर्तियों की यह दशा है तो साधारण मनुष्य की क्या बात है ? अतः विवेकशील मनुष्य को कभी ऐश्वर्य का मान नहीं करना चाहिए। जैनदर्शन की मान्यता है कि जो व्यक्ति ऐश्वर्य का अभिमान नहीं करता, वह उच्चगोत्र कर्म का बन्ध करता है, उच्चगोत्रकर्म की सुखद सम्पदा से वह मालामाल हो जाता है।

कर्म—ग्रन्थ में उच्चगोत्रकर्म के बन्धकारण और भी लिखे हैं। वे ये हैं—१—किसी व्यक्ति में दोषों के रहते हुये भी उस के विषय में उदासीन होना, सिर्फ उस के गुणों को ही देखना, २—जातिमद आदि आठ प्रकार का मद न करना, ३—हमेशा पढने और पढाने में अनुराग रखना और ४—जिनेन्द्र भगवान, सिद्ध, आचार्य, उपाध्याय, साधु, माता, पिता तथा गुणवानों की भक्ति करना। तथा तत्त्वार्थ सूत्र में उच्चगोत्र कर्म को बान्धने के करण और ही लिखे हैं। जैसेकि-१—'आत्मनिन्दा'—अपने में अवस्थित दोषों को देखना, २—'परप्रशंसा'-दूसरे को गुणों को देखना, ३—'असद्गुणोद्भावन'—अपने दुर्गुणों को प्रकट करना, ४—स्वगुणाच्छादन-अपने में विद्यमान गुणों को छिपाना,

५—'नम्रवृत्ति'। पूज्य व्यक्तियों के प्रति नम्रवृत्ति धारण करना और ६— अनुत्सेक। ज्ञान-सम्पत्ति आदि में दूसरे से अधिक होने पर भी उसके कारण गर्व धारण न करना।

ऊपर की पंक्तियों में उच्चगोत्र-कर्म का बन्ध कैसे पड़ता है? इस प्रश्न का समाधान किया गया है। अब प्रश्न यह उपस्थित होता है कि नीचगोत्रकर्म का बन्ध किन कारणों से पड़ता है? इस प्रश्न का समाधान करता हुआ जैनदर्शन कहता है कि नीचगोत्रकर्म को बान्धने के आठ कारण होते हैं। जैसेकि— १ अपनी जाति का मद करना, २—अपने कुल का मद करना, ३—अपने बल का मद करना, ४—अपने रूप का मद करना, ५—अपने तप का मद करना, ६—अपने ज्ञान का मद करना, ७—अपने लाभ का मद करना और ८—अपने ऐश्वर्य का मद करना। जाति आदि शब्दों के अर्थों को लेकर उच्चगोत्रकर्म के बन्धकारणों के विवेचन में प्रकाश डाला चुका है। इससे स्पष्ट हो जाता है कि उच्चगोत्रकर्म का बन्ध जाति, बल, कुल, रूप और ज्ञान आदि का अभिमान न करने से पड़ता है जबकि नीच-गोत्रकर्म का बन्ध जाति और बल आदि का अभिमान करने से होता है। इन दोनों में यही अन्तर समझना चाहिए। शेष सब समानता है। तत्त्वार्थसूत्र में नीचगोत्र कर्म को बान्धने के कारण भिन्न पद्धति से लिखे हैं। जैसेकि—१-परनिन्दा -दूसरों की निन्दा, करना, निन्दा का अर्थ है-सच्चे या झूठे दोषों को दुर्बुद्धि से प्रकट करने की वृत्ति, २—'आत्मप्रशंसा'—अपनी बड़ाई करना, सच्चे या झुठे गुणों को प्रकट करने की वृत्ति का नाम प्रशंसा है। ३—सद्गुणाच्छादन—दूसरे में यदि गुण हों तो उन्हें छिपाना और उनके कहने का प्रसंग आने पर भी द्वेष से उन्हें न कहना, ४— असद्गुणोद्भावन —अपने में गुण न होने पर भी उनका प्रदर्शन करना।

गोत्र-कर्म कैसे भोगा जाता है?—

गोत्रकर्म कैसे बान्धा जाता है? यह ऊपर की पंक्तियों में बताया जा चुका है, अब प्रश्न यह उपस्थित होता है कि गोत्रकर्म

का भुगतान कैसे होता है ? इस सम्बन्ध में जैनदर्शन का यह फरमान है कि गोत्रकर्म के प्रथम भेद उच्चगोत्र का भुगतान आठ प्रकार से होता है। जैसेकि —१—'जाति की विशिष्टता'— जाति का अभिमान न करने से जीव को उच्च, श्रेष्ठ और लोकप्रिय जाति की प्राप्ति होती है, ऐसी जननी उपलब्ध होती है, कि जिसका पितृ-वंश आचार और विचार की दृष्टि से प्रामाणिक और आदरास्पद होता है। २—'कुल की विशिष्टता'—कुल का अभिमान न करने से प्रतिष्ठित और सम्मानित कुल मिलता है, ऐसे पिता की प्राप्ति होती है, जिस की पितृपरम्परा आचार और विचार की अपेक्षा से आध्यात्मिक और श्रेष्ठ होती है। ऐसे व्यक्ति को कलंकित और अप-मानित कुल की प्राप्ति नहीं होने पाती। ३—'बल की विशि-ष्टता' — बल का मद न करने से शरीर बलिष्ठ और नीरोगी सम्प्राप्त होता है। शरीर में दुर्बलता या बल-हीनता की गन्ध भी नहीं मिलती। ४—'रूप की विशिष्टता'—। रूप का अभिमा-न करने से जीव को उत्तम रूप की प्राप्ति होती है। देखने वालों को सुखविपाक के श्री सुबाहु कुमार की याद ताज़ा होने लगती है बड़ी सुन्दर आकृति उपलब्ध होती है। कुरूपता या आकृतिगत अशो-भनता का कोई प्रसंग उपस्थित नहीं होने पाता। ५—'तप की विशिष्टता'—तप का मद न करने से जीव को तपस्या करने का बड़ा सुन्दर अवसर हाथ लगता है। शरीर इतना क्षमतापूर्ण होता है कि जितनी जी चाहे उतनी तपस्या की आराधना की जा सक-ती है, तपस्या की होड़ [किसी विषय में एक दूसरे से आगे बढ़ जाने की चाह और प्रयत्न] में लज्जित होने की स्थिति कभी नहीं बनती, प्रत्युत तपस्या के क्षेत्र में ऐसे जीव को सदा अभिनन्दन पत्र ही सम्प्राप्त होते हैं। ६—'ज्ञान की विशिष्टता'। ज्ञान का अभिमान न करने से जीव को ज्ञान की सम्पदा खूब हाथ लगती है, जानकारी और वाकफ़ीयत की दृष्टि से ऐसा व्यक्ति बहुत ठोस और मार्मिक

विद्वान माना जाता है। सरस्वती मानों उसकी रसना पर सदा नृत्य करती हुई दिखाई देती है। ७—'लाभ की विशिष्टता'। लाभ का अभिमान न करने से मनुष्य को सदा लाभ ही लाभ मिलता रहता है, जहाँ भी वह जाता है, वहां से कभी रिक्तहस्त नहीं लौटता, स्वयं तो अपने कार्य सिद्ध करता ही है, किन्तु दूसरे के भी बिगड़े कार्य संवार देता है। ऐसे भाग्यशाली व्यक्तियों के लिए ही "काठ के संग लोहा भी तर जाता है" ऐसा आदरास्पद वाक्य प्रयोग में लाया जाता है। और ८—'ऐश्वर्य की विशिष्टता' ऐश्वर्य का अभिमान न करने से जीव को यथेच्छ और मन चाहे ऐश्वर्य की प्राप्ति होती है, अणिमा आदि अनेकों सिद्धियां मिलती है, बड़ी-बड़ी कोठियां और कारें आदि सुखोत्पादक सामग्री प्राप्त होती है।

उच्चगोत्र कर्म का भुगतान कैसे होता है? यह ऊपर बताया जा चुका है। नीचगोत्रकर्म का भुगतान कैसे होता है? अब यह समझ लेना भी आवश्यक है। जैन-दर्शन की आस्था है कि नीचगोत्रकर्म आठ प्रकार से अपने फल का भुगतान कराता है। जैसे कि-१-"जाति की हीनता"। जाति का अभिमान करने से जीव को खराब जाति मिलती है, उस का मातृवंश निष्कलंक नहीं होता, जाति के कारण ऐसे व्यक्ति को सर्वत्र अपमान और अपयश के विष-भरे प्याले पीने पड़ते हैं। २-"कुल की हीनता।" कुल का अभिमान करने से जीव को उच्च कुल की प्राप्ति नहीं होती, ऐसा जीव नीच कुल में जन्म लेता है, पिता का वंश इतना अप्रामाणिक और कलंकित मिलता है कि भरी सभा में वह सर ऊँचा नहीं कर सकता, सर्वत्र उसे लज्जित ही होना पड़ता है। ३-"बल की हीनता।" बल का अभिमान करने से जीव को बल की प्राप्ति नहीं होती, दुनिया भर की औषधिएं खा लेने पर भी उस के शरीर में बल का संचार नहीं हो पाता, ऐसा जीव निर्बलता और दुर्बलता से ही सदा घिरा रहता है। ४-"रूप की हीनता।" रूप का अभिमान करने से जीव रूप-हीन होता है, आकृति इतनी खराब और भद्दी मिलती है कि देखने वाले उपहास किये बिना नहीं रहते, ऐसे व्यक्ति

रूप की प्राप्ति के लिये चाहे जितने भी साधन उपयोग में ले आएं, तथापि सुन्दरता की उन को प्राप्ति नहीं होती। ५—"तप की हीनता"। तप का अभिमान करने की जीव इच्छा होने पर भी तपस्या नहीं कर पाता। लोगों की तपः-साधना का ठाठबाठ देखकर कई वार मन में तप करने की लालसा उठती है, तथा तप में स्थित कर्म-नाश की क्षमता की कहानियाँ सुनकर कभी-कभी तप के आराधन की भावना अंगड़ाई लेती है, परन्तु पूर्व-जन्म में तप का अभिमान करने के कारण तप की लालसा तथा भावना साकार नहीं हो पाती। ६—"ज्ञान की हीनता।" ज्ञान का अभिमान करने से जीव को ज्ञान की प्राप्ति नहीं होती है, ज्ञान-प्राप्ति के अनेक-विध प्रयत्न कर लेने पर भी ऐसा जीव ज्ञान की पवित्र ज्योति से वञ्चित ही रहता है, उसका अन्तर्जगत ज्ञान के आलोक से आलोकित नहीं हो पाता। ७—"लाभ की हीनता"। लाभ-आमदनी का अहंकार करने से जीव लाभ की सम्पदा से खाली ही रहता है। ऐसा जीव बड़ा यत्न करता है, सारा दिन कोल्हू के बैल की तरह भ्रमण करता है, घर से बे-घर होकर भी धन जुटाने का प्रयास करता है, परन्तु कहीं पर भी उसे सफलता नहीं मिलती। किसी भी व्यापार में उसे लाभ नहीं होता, हो सकता है उसकी सूझबूझ से अड़ोसी-पड़ोसियों को लाभ हो जाए, किन्तु जब वह स्वयं उस सूझबूझ से कोई काम करता है तो उसे हानि ही होती है, लाभ नहीं हो पाता। ८—"ऐश्वर्य की हीनता।" ऐश्वर्य का अभिमान करने से जीव ऐश्वर्य से हाथ धो बैठता है, सुख-सुविधाएं उसके निकट नहीं आती, पैसे-पैसे के लिए तरसता रहता है। किसी ऐश्वर्य-शाली व्यक्ति को जब निहारता है तो मन में सोचता है कि क्या कभी मुझे भी ऐसे कपड़े पहनने को मिल सकेंगे? ऐसा बूट मैं भी कभी ले सकूँगा?, इस तरह ऐश्वर्य की दृष्टि से सर्वत्र उसे निराशा का ही मुख देखना पड़ता है।

उच्चगोत्रकर्म और नीचगोत्रकर्म जीव को अपने फल का कैसे भुगतान कराता है? यह ऊपर की पंक्तियों में बताया जा चुका है, परन्तु इस कर्मों का यह फल स्वतः और परतः दोनों प्रकार से होता है। उच्चगोत्र

कर्म का फल स्वतः और परतः कैसे होता है? यह जान लेना भी आवश्यक है। श्री जैन-सिद्धान्त-बोल-संग्रह के तृतीय भाग में लिखा है कि एक या अनेक बाह्य द्रव्यादि रूप पुद्गलों का निमित्त पाकर जीव उच्चगोत्र कर्म भोगता है। राजा आदि विशिष्ट पुरुष द्वारा अपनाए जाने से नीच जाति और कुल में उत्पन्न हुआ पुरुष भी जाति-कुल-सम्पन्न की तरह माना जाता है। लाठी वगैरह घुमाने से कमजोर व्यक्ति भी बलशाली माना जाने लगता है। विशिष्ट वस्त्रालंकार धारण करने वाला व्यक्ति रूप-सम्पन्न मालूम होने लगता है। पर्वत के शिखर पर चढ़ कर आतापना लेने से तप-विशिष्टता प्राप्त होती है। मनोहर प्रदेश में स्वाध्याय आदि करने वाला श्रुतविशिष्ट हो जाता है। विशिष्ट रत्नादि की प्राप्ति द्वारा जीव लाभ-विशिष्टता का अनुभव करता है और धन, सुवर्ण आदि का सम्बन्ध पाकर ऐश्वर्य-विशिष्टता का भोग करता है। दिव्य फलादि के आहार रूप पुद्गल-परिणाम के निमित्त से भी जीव उच्चगोत्र कर्म का भोग करता है। इसी प्रकार स्वाभाविक पुद्गल-परिणाम के निमित्त से भी जीव उच्चगोत्र का अनुभव करता है। जैसे अकस्मात् बादलों के आने की बात कही और संयोग-वश बादल होने से बात मिल गई। यह परतः अनुभव होता है, उच्चगोत्र कर्म के उदय से विशिष्ट जाति, कुल आदि का भोग करना स्वतः अनुभाव माना जाता है।

नीचगोत्र कर्म का फल स्वतः और परतः कैसे भोगा जाता है? यह भी समझ लीजिए। नीचकर्म का आचरण, नीच पुरुष की संगति आदि रूप एक या अनेक पुद्गलों का सम्बन्ध पाकर जीव नीच-गोत्र-कर्म का वेदन करता है। जातिवन्त और कुलीन पुरुष भी अधम जीविका या दूसरा नीच कर्म करने लगे तो वह निन्दनीय हो जाता है। सुखशय्या आदि के सम्बन्ध से जीव बलहीन हो जाता है मैले, कुचैले वस्त्र पहनने से पुरुष रूपहीन मालूम देता है। कुशील और दुश्शील आदि की संगति से तपहीनता प्राप्त होती है, विकथा तथा कुसाधुओं के संसर्ग से श्रुत में न्यूनता होती है। देश, काल के अयोग्य

वस्तुओं के खरीदने से लाभ का अभाव होता है। कुग्रह, कुभार्या आदि के संसर्ग से पुरुष ऐश्वर्य-रहित होता है। बैंगन आदि के आहार रूप पुद्गल-परिणाम से खुजली आदि होती है और इससे जीव रूप-हीन हो जाता है। स्वाभाविक पुद्गल-परिणाम से भी जीव नीच-गोत्र का अनुभव करता है, जैसे बादलों के बारे कहा गई बात का सत्य न निकलना आदि। यह नीचगोत्रकर्म का परतः अनुभाव समझना चाहिये। नीचगोत्रकर्म के उदय से जाति-हीन होना और कुलहीन होना आदि स्वतः अनुभाव माना गया है।

गोत्र-कर्म किसे कहते हैं? इसके कितने भेद हैं? और यह कैसे बान्धा जाता है? और इस का भुगतान कैसे होता है? इन सब बातों को लेकर ऊपर की पंक्तियों में निवेदन किया जा चुका है। गोत्रकर्म की बन्ध-सामग्री का यदि गम्भीरता से अध्ययन करते हैं तो एक बहुत बड़ा सत्य हमारे सामने साकार हो कर खड़ा हो जाता है। वह यह कि मनुष्य को कभी अभिमान नहीं करना चाहिए। यह अभिमान का शैतान ही एक दिन इस जीव को नीचगोत्र कर्म की बेडियों में जकड़ देता है। इसीलिए जैनदर्शन का यह सार्वजनिक उद्घोष रहा है कि विवेक-शील मनुष्य को अहभाव से सदा दूर रहना चाहिये।

जितना मनुष्य अभिमान के निकट जाने का प्रयास करता है। वह सचाई से उतना ही दूर भागता है। इसके विपरीत; जितना वह अभिमान से दूर रहता है, उतना ही वह सचाई के निकट आता है। इस अभिमान से दूर रहने की प्रेरणा देना ही गोत्रकर्म की बन्ध-कारण-सामग्री का प्रधान उद्देश्य है। गोत्र कर्म के स्वरूप को यदि संक्षेप में व्यक्त करना चाहें तो कह सकते हैं—

गोत्रकर्म को जान लो, कुम्भकार-अनुरूप।
'ज्ञानमुनी, इस कर्म के, उच्च, नीच दो रूप॥

अन्तराय कर्म

गंभीर तथा सूक्ष्मदृष्टि से जब हम इस जगती का परिशीलन करते हैं तो इस जगती में नाना प्रकार की अवस्थाए' दृष्टि-गोचर होती हैं, कोई व्यक्ति हर्ष एवं प्रमोद के रंग में रंगा 'दिखाई देता है तो कोई आपदाओं और विपत्तियों के प्रहारों से मुरझाया हुआ दिखाई देता है, एक के यहां तो स्वर्गीय वातावरण देखने को मिलता है तो दूसरा नारकीय जीवन व्यतीत कररहा है। प्रश्न हो सकता है कि यह विभिन्नता या विषमता क्यों है ? भारतीय विचारकों ने इस सम्बन्ध में अपना-अपना दृष्टि-कोण प्रस्तुत किया है, कोई विचारक इस विभिन्नता का कारण परमपिता परमात्मा को मानता है, कोई इसका कारण सामाजिक व्यवस्था की खराबी बतलाता है, और कोई जीवन-गत विषमता का कारण देवी-देवताओं को स्वीकार करता है, किन्तु इस सम्बन्ध में जैन-दर्शन का अपना एक स्वतंत्र दृष्टि-कोण है। जैन-दर्शन से जब इस विचित्रता का कारण पूछा जाता है, तब वह तत्काल इस का कारण कर्म बतलाता है। जैन-दृष्टि के अनुसार जीव का अपना आचार-विचार ही उसके भविष्य की सृष्टि करता है। आचार-विचार से जो कर्म बनता है, वही जीवन में समय-समय पर अपना प्रभाव दिखलाता रहता है और जीव को कभी सुखी और कभी उसे दुःखी बना डालता है।

जैन-दर्शन की मान्यता के अनुसार द्रव्यकर्म आठ प्रकार का होता है, उन में आठवाँ अन्तराय कर्म है। अन्तराय शब्द का अर्थ होता है—विघ्न, बाधा अड़चन, रुकावट। जीव शुभाशुभ संकल्प-विकल्पों द्वारा अपने पार्श्ववर्ती कर्मयोग्य जिन परमाणुओं को आकर्षित करके आत्मप्रदेशों से आबद्ध करता है, जहां उन में ज्ञानादि आत्मगुणों को आवृत या आच्छादित करने की क्षमता पैदा होती है, वहां उन में

अन्तराय डालने का सामर्थ्य भी उत्पन्न होता है। फलतः जो कर्म-परमाणु जीवन में अन्तराय उपस्थित करते हैं, दान और भोग आदि कार्यों में सफलता का मुख देखने नहीं देते उन्हें अन्तराय कर्म कहा जाता है। यह अन्तराय कर्म बनते कार्य को बिगाड़ देता है जैसे चुगल-खोर चुगली करके बना-बनाया खेल खराब कर देता है, वैसे अन्तराय कर्म जीव की आशाओं पर पानी फेर देता है, उस का कोई स्वप्न पूरा नहीं होने देता।

अन्तराय कर्म के ५ भेद—

अन्तराय कर्म क्या होता है ? वह ऊपर बताया जा चुका है, अब प्रश्न यह उपस्थित होता है कि अन्तराय कर्म कितने प्रकार का होता है ? इस प्रश्न का समाधान करता हुआ जैन-दर्शन कहता है कि अन्त-राय कर्म पांच प्रकार का होता है। जैसेकि-१-'दानान्तराय। दान की सामग्री तैयार है, गुणवान पात्र आया हुआ है, दाता दान का फल भी जानता है, इस पर भी जिस कर्म के उदय से जीव को दान करने का उत्साह नहीं होता वह दानान्तराय कर्म है।

अपने अधिकार में रही हुई वस्तु दूसरे को देना दान है। श्री स्थानांग सूत्र में दान के दस भेद लिखे हैं। जैसेकि-१-अनुकम्पादान-किसी दुःखी, दीन, अनाथ प्राणी पर अनुकम्पा-दया करके जो दान दिया जाता है। २-संग्रहदान-संग्रह अर्थात् सहायता प्राप्त करना। आपत्ति आदि आने पर सहायता प्राप्त करने के लिए किसी को कुछ देना संग्रह-दान है। यह दान अपने स्वार्थ को पूरा करने के लिए दिया जाता है, अतः यह मोक्ष का कारण नहीं बनता, ३-भयदान-राजा, मंत्री आदि के भय से दान देना। ४-कारुण्यदान-पुत्र आदि के वियोग से होने वाला शोक कारुण्य है। शोक के समय पुत्रादि के नाम पर दान देना कारुण्य-दान है। ५-'लज्जादान'-लज्जा के कारण जो दान दिया जाता है। ६-'गौरव-दान'-यश, कीर्ति और प्रशंसा के लिए जो दान दिया जाता है। ७-'अधर्म-दान'—जो दान अधर्म की पुष्टि करने वाला होता

है। ८-'धर्मदान'-धर्म-कार्यों में और साधु सन्तों को दिया गया दान। ६-'करिष्यतिदान'-भविष्य में प्रत्युपकार की आशा से जो दान दिया जाता है। और १०-'कृतदान-पहले किए हुए उपकार के बदले में जो दान दिया जाता है।

दान के चार प्रकार और भी बताए जाते है। जैसेकि-१-'ज्ञानदान'-ज्ञान पढाना, पढने और पढाने वालों की सहायता करना, इसे विद्या-दान भी कहा जाता है। २-'अभयदान'-दुःखों से भयभीत जीवों को भयरहित करना, ३-'धर्मोपकरण-दान'-छह काया के आरम्भ से निवृत्त, पञ्च-महाव्रत-धारी साधुओं को आहार, पानी, वस्त्र, पात्र आदि धर्म-सहायक धर्मोपकरण देना और ४-'अनुकम्पादान'-अनुकम्पा के पात्र असहाय, अशरण, सकटग्रस्त तथा अनाथ व्यक्तियों को दया की भावना से दान देना।

कहा जा चुका है कि अन्तराय कर्म का पहला भेद दानान्तराय है, यह कर्म दान का प्रसंग उपस्थित होने पर भी उस में विघ्न डालकर दाता की भावना पर पानी फेर देता है। अन्तराय कर्म के अवशिष्ट चार भेद इस प्रकार हैं—२-'लाभान्तराय'-योग्य सामग्री के रहते हुए भी इस कर्म के उदय से अभीष्ट वस्तु की प्राप्ति नहीं होती। जैसे-दाता के उदार होते हुए, दान की सामग्री विद्यमान रहते हुए तथा माँगने की कला में कुशल होते हुए भी कोई याचक दान नहीं ले पाता यह लाभान्तराय कर्म का ही फल समझना चाहिये। देखा जाता है कि अमुक व्यक्ति जब दुकान पर बैठता है, तो लक्ष्मी की वर्षा होने लगती है, ग्राहकों की भीड़ लग जाती है, और जब दूसरा व्यक्ति वहां बैठता है, तो धीरे-धीरे दुकान नुकसान में आने लगती है, और सभी दुकान की चमक-दमक जाती रहती है। यह सब दृश्य लाभान्तराय कर्म के प्रताप से ही दिखाई देते है। एक जगह लाभान्तराय कर्म का क्षयोपशम है, और दूसरी जगह इस का उदय चल रहा है। ३-'भोगा-न्तराय कर्म'। त्याग, प्रत्याख्यान के न होते हुए तथा भोगने की इच्छा

रहते हुए भी इस कर्म के उदय से जीव विद्यमान स्वाधीन भोग-सामग्री का कृपणता वश भोग नहीं कर पाता। ४-'उपभोगान्तराय-कर्म'। इस कर्म के उदय से जीव त्याग, प्रत्याख्यान न होने पर तथा उपभोग की कामना रहने पर भी विद्यमान उपभोग्य सामग्री का कृपणतावश उपभोग नहीं कर पाता। फल और जल आदि जिन पदार्थों का एक बार उपभोग किया जाता है, दूसरी बार नहीं, ऐसे पदार्थों को भोग पदार्थ कहते हैं, तथा वस्त्र, पात्र, मकान और आभूषण आदि जिन पदार्थों का बार-बार सेवन किया जाए वे उपभोग पदार्थ कहे जाते हैं। ५-'वीर्यान्तराय कर्म'-शरीर नीरोग हो, तरुणावस्था हो, बलवान हो, फिर भी इस कम के उदय से जीव प्राण-शक्ति-रहित सा मालूम होता है, तथा सत्त्वहीन, वृद्ध और कमजोर व्यक्ति की तरह प्रवृत्ति करता है। साधारण से कार्य को भी अच्छी तरह नहीं कर पाता, इसकर्म के तीन भेद होते हैं। जैसेकि-१-'बाल-वीर्यान्तराय'-समर्थ होते हुए एवं चाहते हुए भी इस कर्म के उदय से जीव सांसारिक कार्य नहीं कर सकता। २-'पण्डितवीर्यान्तराय'-सम्यग्दृष्टि साधु मोक्ष की चाह रखता हुआ भी इस कर्म के उदय से मोक्ष-प्राप्ति-योग्य क्रियाओं का सम्पादन नहीं कर पाता और ३-'बालपण्डित-वीर्यान्तराय'-देश-विरति-रूप चारित्र को चाहता हुआ भी जीव इस कर्म के उदय से श्रावक-धर्म की क्रियाओं का पालन नहीं कर सकता।

अन्तराय-कर्म कैसे बान्धा जाता है ?—

अन्तराय कर्म उस दुष्ट भण्डारी या कोषाध्यक्ष के समान है जो मालिक की आज्ञा होने पर भी याचक को कुछ देने में विघ्न उपस्थित करता है, उस की इच्छा को सफल नहीं होने देता। यह अन्तराय कर्म कितने प्रकार का होता है ? यह ऊपर बताया जा चुका है। अब यहां प्रश्न यह उपस्थित होता है कि अन्तराय कर्म का बन्ध कैसे पड़ता है ? इस प्रश्न का समाधान करता हुआ जैन-दर्शन कहता है कि यह कर्म ५ कारणों से बान्धा जाता है। जैसे कि १-'दान देने में रुकावट डालना'।

देखा जाता है कि एक व्यक्ति दान देना चाहता है, और याचक उसे लेना चाहता है, परन्तु कुछ संकीर्ण-हृदय मनुष्य ऐसे होते हैं जो दाता के मन को बदल देते हैं। दान देने की उसकी भावना को समाप्त कर देते हैं, परिणाम-स्वरूप दाता दान दे नहीं पाता, और याचक के मनोरथ अपूर्ण रह जाते हैं। जैन-दर्शन कहता है कि जो व्यक्ति दान के प्रसंग में विघ्न डाल देते हैं, वे अन्तराय कर्म का बन्ध कर लेते हैं, भविष्य में उनके जीवन में जब दान देने का अवसर आता है, तो वे भी दान-धर्म की आराधना कर नहीं पाते, कोई ऐसी स्थिति बन जाती है कि उन की दान देने की भावना साकार रूप नहीं ले पाती। "२-लाभ में अन्तराय डालना"। किसी मनुष्य को यदि कहीं लाभ हो रहा है, उस का बिगड़ा काम बनता है, सरकारी कोटा, या एजेंसी की प्राप्ति होती है, अच्छे रिश्ते आने से पोजीशन बनती है, या बाप दादों की सम्पत्ति का लाभ होता है, तो ऐसी दशा में यदि कोई व्यक्ति विघ्न उपस्थित करता है, उसके लाभ को हानि पहुंचाता है तो जैन-दर्शन की मान्यता के अनुसार हानि पहुंचाने वाला वह व्यक्ति अन्तराय कर्म का बन्ध कर लेता है। "३-भोग्य पदार्थों में विघ्न डालना"। जिन वस्तुओं का एक बार ही प्रयोग हो सकता है, ऐसे फल, जल आदि पदार्थ भोग कहलाते हैं। किसी एक व्यक्ति को खाने-पीने के ये भोग पदार्थ खूब मिल रहे हैं, खाद्य और पेय पदार्थों की प्राप्ति की दृष्टि से उसको कोई दुविधा नहीं हैं, परन्तु दूसरा व्यक्ति उसकी भोग-पदार्थों की सुविधा में विघ्न उपस्थित कर देता है, उसको फल आदि की प्राप्ति नहीं होने देता तो जैन-दर्शन की दृष्टि के अनुसार वह दूसरा व्यक्ति अन्तराय कर्म का बन्ध करता है। देखा गया कि हस्पतालों में कई उदार व्यक्ति असहाय रोगियों की फलादि द्वारा सहायता करते हैं, डाक्टर रोगी को जिस फल को खाने का संकेत करता है, दानी व्यक्ति वह फल आदि बाज़ार आदि से लाकर उसे दे देता है परन्तु रोगी का प्रति-द्वन्द्वी व्यक्ति दाता के कान में ऐसी बात कह देता है कि जिस से वह फलादि की सहायता करना बन्द कर देता है, सहायता बन्द हो

आने की सूचना पाकर प्रतिद्वन्द्वी बड़ा खुश होता है। जैन-दर्शन कहता है कि प्रतिद्वन्द्वी की यह खुशी उसे अन्तराय कर्म की बेड़ियों में जकड़ लेती है। "४-उपभोग्य पदार्थों में अन्तराय डालना।" जिन पदार्थों का बार-बार उपयोग हो सकता है, ऐसे मकान, वस्त्र और पात्र के आदि पदार्थ उपभोग कहलाते हैं। कोई व्यक्ति किसी की निर्धनता पर दया लाकर उसे अपनी दुकान संभाल देता है, उस के लिए तथा उसके परिवार आदि के लिए वस्त्रों, पात्रों और आवश्यक खाद्य आदि पदार्थों का प्रबन्ध करता है, परन्तु कुछ भाग्यहीन व्यक्ति ऐसे परोकारपूर्ण शुभ कार्यों में भी दीवार बन कर खड़े हो जाते हैं, उन में विघ्न उपस्थित करते हैं। जैनदर्शन कहता है कि ऐसे विघ्नोत्पादक व्यक्ति अन्तराय कर्म का बन्ध कर लेते है। भविष्य में उन्हें भी उपभोग्य पदार्थों की प्राप्ति में विघ्नों का सामना करना पड़ता है। और "५-शक्ति में विघ्न डालना।" संसार में ऐसे हतभाग्य व्यक्ति भी मिल जाते हैं जो कि किसी मनुष्य की शारीरिक, वाचनिक या मानसिक आदि शक्तियों को देख कर सड़ते हैं, कुढते हैं, जलते हैं, हसद करते हैं। उस की शक्ति का ह्रास या नाश करने के लिए नानाविध योजनाएं बनाते हैं, और अवसर मिलने पर उसे कोई ऐसी ज़हरीली वस्तु खिला देते है। जिस से वह व्यक्ति शक्ति खो बैठता है, जवानी में बूढ़ा बन जाता है, शक्ति-साध्य कार्यों को सम्पन्न करने की क्षमता खो बैठता है, उसमें तिनके को टेढ़ा करने की भी शक्ति नहीं रह पाती। जैन-दर्शन कहता है कि किसी व्यक्ति की शक्ति को हानि पहुंचाना, उसे समाप्त करना या समाप्त करने के स्वप्न लेना, बड़ा भारी पाप है। पाप करने वाला ऐसा नीच तथा अधम व्यक्ति अन्तराय कर्म की उपार्जना कर लेता है।

अन्तरायकर्म कैसे भोगा जाता है ?—

अन्तराय कर्म कैसे बान्धा जाता है? यह ऊपर की पंक्तियों में बताया जा चुका है, अब प्रश्न यह उपस्थित होता है कि अन्तरायकर्म जीव को अपने फल का कैसे भुगतान कराता है ! इस प्रश्न का समा-

धान करता हुआ जैनदर्शन कहता है कि अन्तरायकर्म पांच प्रकार से जीव को अपने फल का भुगतान कराता है। जैसे कि-१-दान का अवसर हाथ न आना। जो व्यक्ति दानान्तराय कर्म का बन्ध करता है, वह व्यक्ति दान देने का स्वर्णिम अवसर उपलब्ध होने पर भी दान देने का लाभ नहीं ले सकता, दूसरों के दान में विघ्नभूत बनने के कारण स्वयं भी दानधर्म की आराधना से वञ्चित रह जाता है। "२-लाभ का अवसर न मिलना।" जिस व्यक्ति को लाभान्तरायकर्म का उदय होरहा है वह व्यक्ति लाभ-प्राप्ति का सुन्दर मौका हाथ लगने पर भी लाभ नहीं उठा पाता। कई व्यक्तियो को देखा है, जो लक्ष्यपूर्ति के बिल्कुल निकट आ जाने पर भी रिक्तहस्त ही वापिस लौटते हैं, यह लाभान्तराय कर्म का ही प्रकोप होता है। "३-भोग्य पदार्थों का सेवन न करना।" जिस व्यक्ति ने भोगान्तरायकर्म बान्ध रखा है, भले ही उस के भण्डार खाने-पीने की वस्तुओं से भरे पड़े है तथापि वह उनका उपभोग नहीं कर पाता। देखा जाता है कि दुनिया में ऐसे लोग भी हैं जो लाखों या करोड़ पति हैं, परन्तु उन को डाक्टरों ने कह रखा है कि मूंग की दाल के अतिरिक्त आप कुछ नहीं खा सकते। यह सब कुछ भोगान्तरायकर्म के कारण ही होता है। "४-उपभोग्य पदार्थों का सेवन न करना।" भोग और उपभोग पदार्थो में क्या अन्तर होता है? यह ऊपर बताया जा चुका है। भोगान्तरायकर्म के उदय से एक बार ही उपयोग में लाए जा सकने वाले जल और फल आदि भोग्य पदार्थो के सेवन करने में विघ्न उपस्थित होते हैं और उपभोगान्तराय कर्म का उदय होने पर बार-बार उपयोग में लाए जाने वाले मकान, दुकान, वस्त्र, पात्र आदि उपभोग्य पदार्थो के सेवन में बाधा पड़ती है। उपभोगान्तराय कर्म जब जीव को घेर लेता है तब ज़र, जोरु और ज़मीन [धन, स्त्री और भूमि] के विद्यमान होने पर भी वह इन का प्रयोग नहीं कर पाता। बड़े-बड़े पून्जीपति ऐसे-ऐसे फटे पुराने वस्त्र पहनते हैं, जिस से देखने वालों को वे कोई भिखारी या अत्यधिक ग़रीब मालूम दें. यह सब उपभोगान्तराय कर्म की कृपा का फल

ही होता है। और "५-शक्ति का प्राप्त न होना ।" जो व्यक्ति वीर्यान्तरायकर्म के उदय से आक्रान्त हो जाता है, शक्ति प्राप्त करने के सब साधन अवस्थित होने पर भी शक्ति प्राप्त नहीं कर पाता। देखा गया है कि कई व्यक्ति अपने शरीर को परिपुष्ट और शक्तिशाली बनाने के लिए दुनिया भर की औषधियां सेवन करते हैं, शक्तिवर्धक दवाइयों से अपने घर को एक छोटी सी डिस्पैंसरी ही बना लेते हैं, शक्ति को बढ़ाने वाले सैंकड़ों इन्जैक्शन का उपयोग करते हैं. तथापि उनके शरीर में बल का संचार नहीं होने पाता। कुछ लोग तो शक्ति-सम्वृद्धि के लिए मांसाहार भी करते हैं, अण्डे चबाते हैं और न जाने कितनी हिंसापूर्ण शक्तिप्रद चीजे खाते हैं। यह सब पापड़ बेलने पर भी उनको बलदेवता के दर्शन नही होते, उनका शरीर हृष्ट-पुष्ट दिखाई देने पर भी बिल्कुल सत्त्वहीन एवं शक्ति-हीन ही रहता है। इस तरह वीर्यान्तरायकर्म व्यक्ति के जीवन-गत शक्ति के रस को निचोड़कर जीव की ऐसी दुर्दशा कर डालता है कि स्वयं उस से उठना, बैठना भी कठिन हो जाता है।

ऊपर की पंक्तियों में बताया जा चुका है कि दान, लाभ, भोग, उपभोग और वीर्य में अन्तराय देने से जीव अन्तरायकर्म बान्धता है और दान, लाभ, भोग, उपभोग और वीर्य में विघ्न होने रूप इस कर्म का पांच प्रकार का अनुभाव-फल होता है। यह अनुभाव स्वतः भी होता है, और परतः भी। एक या अनेक पुद्गलों का सम्बन्ध पाकर जीव अन्तरायकर्म के उक्त अनुभाव का अनुभव करता है। विशिष्ट रत्नादि के सम्बन्ध से तद्विषयक मूर्च्छा हो जाने से तत्सम्बन्धी दानान्तराय का उदय होता है, तथा रत्नादि की सन्धि को छेदने वाले उपकरणों के सम्बन्ध से लाभान्तरायकर्म का उदय होता है। विशिष्ट आहार अथवा बहुमूल्य वस्तु का सम्बन्ध होने पर लोभवश उनका भोग नहीं किया जाता और इस तरह यह बहुमूल्य वस्तु भोगान्तराय कर्म के उदय में कारण बनती है। इसी प्रकार उपभोगान्तराय कर्म के विषय में भी समझना चाहिये। लाठी आदि की चोट से

मूर्च्छित होना वीर्यान्तरायकर्म का अनुभाव होता है। आहार, औषधि आदि के परिणामरूप पुद्गल-परिणाम से भी वीर्यान्तराय कर्म का उदय होता है। मन्त्रसंस्कारित गन्ध पुद्गलपरिणाम से भोगान्तराय कर्म का उदय होता है। स्वाभाविक पुद्गल-परिणाम भी अन्तरायकर्म के अनुभावों में निमित्त होता है। जैसे ठण्ड पड़ती देख कर दान देने की भावना होते हुए भी कोई व्यक्ति वस्त्रादि का दान नही दे पाता, शैत्य अधिक पड़ने लगेगा तो ये वस्त्र मेरे काम आयेगें, यह सोच कर दान न देने के कारण वह दानान्तरायकर्म का अनुभव करता है। यह परत: अनुभाव माना गया है। अन्तरायकर्म के उदय मे दान, भोग उपभोग आदि मे अन्तराय रूप फल का जो भोग होना है, वह स्वत: अनुभाव होता है।

सात कर्मों का बन्ध एक साथ कैसे?—

जैनसिद्धान्त की मान्यता है कि सामान्य रूप से आयुष्कर्म को छोड़ कर ज्ञानावरणीय आदि शेष सात कर्मों का बन्ध एक साथ होता है, इस के अनुसार जिस समय ज्ञानावरणीय कर्म के बन्ध-कारणो मे ज्ञानावरणीय कर्म का बन्ध होता है तो उसी समय शेष प्रकृतियो का भी बन्ध होता ही है। ऐसी दशा में अमुक बन्ध-कारणों से अमुक कर्म का बन्ध होता है? यह बात कैसे सगत बैठ सकती है? इस प्रश्न का समाधान पण्डित श्री सुखलाल जी ने बड़ा सुन्दर किया है। पण्डित जी अपने तत्त्वार्थ सूत्र में लिखते हैं कि—आठ कर्मों के बन्ध-कारणों का जो विभाग बताया गया है, वह अनुभाग-बन्ध की अपेक्षा समझना चाहिये। सामान्य रूप से आयुष्कर्म के सिवाय सातो कर्मो का बन्ध एक साथ होता है, शास्त्र का यह नियम प्रदेश-बन्ध की अपेक्षा से जानना चाहिये। प्रदेश-बन्ध की अपेक्षा एक साथ अनेक कर्म-प्रकृतियों का बन्ध माना जाए और नियत आश्रवों को विशेष कर्म के अनुभाग बन्ध में निमित्त माना जाए तो दोनों कथनों में सगति हो जाएगी और कोई विरोध नहीं रहेगा, फिर भी इतना और समझ लेना चाहिये कि अनु-

भाग-बन्ध की अपेक्षा जो बन्ध-कारणों का समर्थन किया गया है, वह भी मुख्यता की अपेक्षा से ही है, ज्ञानाबरणीय कर्म के सेवन के समय ज्ञानावरणीय कर्म का अनुभाग-बन्ध मुख्यता से होता है और उस समय बन्धने वाली अन्य कर्म-प्रकृतियों का अनुभाग-बन्ध गौण रूप से होता है। एक समय एक ही कर्म-प्रकृति का अनुभाग-बन्ध होता है। और दूसरी का न हो, यह तो माना नहीं जा सकता। कारण यह है कि जिस समय योग [मन, वचन और काया का व्यापार] द्वारा जितनी कर्म प्रकृतियों का प्रदेश-बन्ध संभव है, उसी समय कषाय के द्वारा उन के अनुभाग-बन्ध का भी सभव है। इस प्रकार अनुभाग-बन्ध की मुख्यता की अपेक्षा से ही कर्म-बन्ध के कारणों के विभाग की संगति होती है।

आठ कर्मों का क्रमगत सम्बन्ध—

जैन-दर्शन की मान्यता के अनुसार द्रव्य-कर्मों की संख्या आठ होती है, इन में पहला ज्ञानावरणीय कर्म है और आठवां अन्तराय कर्म। इन कर्मो का क्रमगत क्या सम्बन्ध है? कर्मो में ज्ञानावरणीय का पहला और दर्शनावरणीय को दूसरा, इसी प्रकार वेदनीय को तीसरा मोहनीय को चौथा, आयुष्कर्म को पांचवा, नामकर्म को छठा, गोत्रकर्म को सातवां और अन्तराय कर्म को आठवां स्थान क्यों दिया गया है? इनको इस क्रम में रखने का कोई विशेष कारण है? यह समझ लेना भी आवश्यक है। आठ कर्मो को उक्त क्रम में रखना निष्कारण नहीं है, श्री प्रज्ञापना सूत्र के २३ वें पद में आठ कर्मों के उक्त क्रम की सार्थकता का बड़ी सुन्दरता से निरूपण किया है। वहाँ लिखा है—ज्ञान और दर्शन जीव के स्व-तत्त्व-रूप हैं, इनके बिना जीवत्व की उपपत्ति-सिद्धि नहीं होती। जीव का लक्षण चेतना-उपयोग है, और उपयोग ज्ञान, दर्शन रूप होता है। फलतः ज्ञान-दर्शन के अभाव में जीव का अस्तित्व ही समाप्त हो जाता है। इसके अतिरिक्त, ज्ञान दर्शन में भी ज्ञान प्रधान है। ज्ञान से ही सम्पूर्ण शास्त्रादि-विषयक विचार-परम्परा

की प्रवृत्ति होती है। लब्धियां भी ज्ञानोपयोग वाले व्यक्ति के होती हैं, दशनोपयोग वाले के नहीं। जिस समय जीव सकल कर्मों से उन्मुक्त होता है, वह ज्ञानोपयोग वाला ही होता है। दर्शनोपयोग तो उसे दूसरे समय में होता है। इस प्रकार ज्ञानदर्शन में ज्ञान की मुख्यता रहती है। इसीलिए ज्ञान का आच्छादक ज्ञानावरणीय कर्म ही सर्व-प्रथम कहा गया है। ज्ञानोपयोग से गिरा हुआ जीव दर्शनोपयोग में अवस्थित होता है इसलिए ज्ञानावरणीयकर्म के वाद दर्शन को आवृत करने वाला दर्शनावरणीय कर्म अंगीकार किया गया है। ये ज्ञानाबरणीय और दर्शनावरणीयकर्म अपना फल देते हुए यथायोग्य सुख और दुःख रूप वेदनीयकर्म में निमित्त होते हैं। गाढ ज्ञानावरणीय कर्म भोगता हुआ जीव सूक्ष्म वस्तुओं के विचार मे अपने को असमर्थ पाता है और इसलिए वह खेदखिन्न होता है। ज्ञानावरणीय कर्म के क्षयोपशम की पटुता वाला जीव अपनी बुद्धि से सूक्ष्म और सूक्ष्मतर वस्तुओं का विचार करता है। दूसरों से अपने को ज्ञान में वढ़ा-चढ़ा देख हर्ष का अनुभव करता है। इसी प्रकार प्रगाढ दर्शनावरणीयकर्म के उदय से जीव जन्मान्ध होता है, और महान दु खानुभूति करता है। दर्शनावरणीय कर्म के क्षयोपशम की पटुता से जीव निर्मल, स्वस्थ चक्षु द्वारा वस्तुओं को यथार्थरूप से देखता हुआ प्रसन्न होता है। इसलिए ज्ञानावरणीय और दर्शनावरणीय कर्म के अनन्तर तीसरा वेदनीय कर्म कहा गया है। वेदनीय कर्म इष्ट वस्तुओं के संयोग में सुख और अनिष्ट वस्तुओं के संयोग में दुःख उत्पन्न करता है। इस से संसारी जीवो के राग और द्वेष का उत्पन्न होना स्वाभाविक है। राग और द्वेष मोह के कारण है। इसलिए वेदनीय कर्म के पश्चात् मोहनीय कर्म कहा गया है। मोहनीय कर्म मे मूढ हुए प्राणी महारंभ और महापरिग्रह आदि कार्यो में आसक्त होकर नरकादि की आयु बान्धते हैं, इसलिए मोहनीय कर्म के बाद आयुष्कर्म कहा गया है। नरकादि आयुष्कर्म के उदित होने पर अवश्य ही नरक-गति आदि नामकर्म की प्रकृतियों का उदय होता है। अतएव आयुष्कर्म के अनन्तर नाम-कर्म कहा गया है। नाम-कर्म का उदय

होने पर जीव उच्च या नीच जाति आदि में से किसी एक का अवश्य भोग करता है। फलत: नामकर्म के अनन्तर गोत्र कर्म का आश्रयण किया गया है। गोत्रकर्म का उदय होने पर उच्चकुल में उत्पन्न जीव के दानान्तराय या लाभान्तराय आदि रूप अन्तराय कर्म का क्षयोपशम होता है तथा नीच कुल में उत्पन्न हुए जीवों के दानान्तराय आदि का उदय होता है, इसलिए गोत्र कर्म के अनन्तर अन्तराय कर्म को स्वीकार किया गया है।

अन्तराय कर्म से बचो--

कहा जा चुका है कि आठवां कर्म अन्तराय कर्म है। इस कर्म का जब गभीरता के साथ अध्ययन करते हैं तो एक बहुत बड़ा सत्य हमारे सामने साकार होकर खड़ा हो जाता है, वह यह कि-"किसी को हानि पहुंचाना, अपने को हानि पहुंचाना है। और किसी का भला करना, अपना भला करना होता है"। वास्तव में देखा जाए तो जो व्यक्ति किसी को नुकसान पहुचाता है, किसी के बनते कार्य को बिगाड़ता है, किसी की उन्नति में बाधा डालता है, दूसरो के मार्ग में काण्टें बिखेरता है, वह अपना ही नुकसान करता है, अपना ही परलोक बिगाडता है, अपने हाथों से अपने ही जीवन की जड़ों को खोखला बनाता है। इसी लिए जैन-दर्शन कहता है कि अन्तराय कर्म के स्वरूप को समझो, और इसके स्वरूप को अवगत कर लेने पर किसी के मार्ग में रुकावट बनने की कभी कोशिश मत करो, यदि आज आप किसी के मार्ग में रुकावटें डालते है तो वह समय दूर नहीं हैं कि जब रुकावटों की आग आपके जीवन की वाटिका को भी जलाकर राख बना डालेगी परिणाम-स्वरूप किसी के मार्ग में बाधक नहीं बनना चाहिये और जहाँ तक हो सके दूसरों के मार्ग में आई रुकावटों को दूर करने में सहयोग देना चाहिये। जैन-दर्शन की इस प्रेरणा को यदि कविता की भाषा में व्यक्त करें तो कह सकते हैं—

यदि भला किसी का कर न सको,
तो बुरा किसी का मत करना।
अमृत न पिलाने को घर में,
तो ज़हर पिलाने से डरना।

वैसे तो भारतवर्ष के प्रत्येक महापुरुष ने अपने-अपने ढ़ग से कर्मवाद को समझने और समझाने की कोशिश की है, परन्तु जब हम भारतीय-दर्शन का गम्भीरता के साथ अध्ययन करते हैं तो यह बिना किसी झिझक के स्वीकार करना होता है कि जैन-दर्शन ने कर्म सिद्धान्त को लेकर जो जानकारी प्रस्तुत की है, जो प्रकाश डाला है, गम्भीरता और सहृदयता के साथ कर्म-सिद्धांत की गुत्थियों को सुलझाने का प्रयास किया है वह कहीं अन्यत्र दृष्टि-गोचर नहीं होता। पाठक विस्मित होंगे कि जैनसाहित्य के बहुत-बड़े भाग को तो कर्मवाद के विवेचन ने ही घेर रखा है, यदि उस पर विस्तार के साथ विवेचन लिखा जाए तो केवल एक कर्म के विवेचन पर सैकड़ों और हज़ारों पृष्ठ लिखे जा सकते हैं, इस से स्पष्ट हो जाता है कि कर्मवाद की समस्त मान्यताओं पर यदि लिखा जाए तो कितना बड़ा विशाल ग्रन्थ तैयार हो सकता है ? प्रस्तुत पुस्तक में जैन-दर्शन के कर्मवाद का ही संक्षेप में परिचय कराया गया है। इस में बताया जा चुका है कि जैन-दर्शन ने कर्मों के-द्रव्य और भाव ये दो रूप स्वीकार किए हैं। द्रव्य कर्म के ज्ञानावरणीय, दर्शनावरणीय आदि आठ भेद होते हैं। इन में आठवाँ भेद अन्तराय कर्म है। प्रस्तुत में अन्तराय कम के स्वरूप का दिग्-दर्शन कराया जा रहा है। अन्तराय कर्म मानवी जगत को विघ्नोत्पादक न बनने की बड़ी सुन्दर और पवित्र प्रेरणा प्रदान करता है। अन्तराय कर्म कहता है कि सुख-सुविधा की छाया तले अपने जीवन की घड़ियां व्यतीत करने की कामना रखने वाले अयि मनुष्य ! यदि अपनी जीवन-वाटिका को सदा पल्लवित एवं पुष्पित देखना चाहता

हैं तो दूसरों की जीवन-वाटिका के मुख रूप पौधों को हानि मत पहुंचा। अन्तराय या विघ्न बन कर उन के अरमानों के साथ खिलावड़ मत कर, हो सके किसी को बिगड़ी बना, रो रही आंखों के आंसू पूंछ, मुंह के भार गिर रहे प्राणी को हाथों का सहारा देकर संभाल, उजड़ रहे जीवनोपवन को आबाद कर, बेसहारों का सहारा बन, अनाथों का नाथ बन, विधवाओं और असहाय व्यक्तियों के बुझ रहे जीवन-दीपकों में स्नेह, प्यार, साहाय्य और समवेदना का तेल डाल कर उन्हें प्रकाशमान बना। यदि ऐसा नही कर सकता, तो कोई चिन्ता की बात नही, परन्तु किसी का बना-बनाया खेल मत बिगाड़, हंस रही आंखों को मत रुला, आबाद घरों को बर्बाद मत कर, किसी के प्रकाशमान जीवन-दीपक को अन्धकारमय न बना। अन्तराय कर्म के स्वरूप को संक्षेप में यदि कविता की भाषा मे कहे तो—

> विघ्नभूत इस कर्म का, अन्तराय है नाम,
> "ज्ञानमुनी" इस से बचो, जीवन हो सुखधाम।

नौ ब्रह्मचर्य-गुप्तियां—

ब्रह्म अर्थात् आत्मा में चर्या अर्थात् लीन होने को ब्रह्मचर्य कहते हैं। सांसारिक विषय-वासनाएं जीव को आत्मचिन्तन से हटा कर बाह्य विषयों की ओर खींचती हैं। उनसे बचने का नाम ब्रह्मचर्य-गुप्ति है, अथवा वीर्य के धारण और रक्षण को ब्रह्मचर्य कहते हैं। शारीरिक और आध्यात्मिक सभी शक्तियों का आधार वीर्य है। वीर्य-रहित पुरुष लौकिक या आध्यात्मिक किसी भी तरह की सफलता प्राप्त नहीं कर सकता। ब्रह्मचर्य की रक्षा के लिये नौ बातें आवश्यक हैं। इनके बिना ब्रह्मचर्य का पालन नहीं हो सकता। वे इस प्रकार हैं—

१—ब्रह्मचारी को स्त्री, पशु और नपुंसक से अलग स्थान में रहना चाहिये। जिस स्थान में मानुषी, तिर्यञ्च या नपुंसक का वास हो, वहां न रहे। उनके पास रहने से विकार होने का डर है।

२—स्त्रियों की कथा वार्ता न करें। अर्थात् अमुक स्त्री सुन्दर है या अमुक देश वाली ऐसी होती है, इत्यादि बातें न करे।

३—स्त्री के साथ एक आसन पर न बैठे, उन के उठ जाने पर भी एक मुहूर्त तक उस आसन पर न बैठे, अथवा स्त्रियों में अधिक न आवे जावे। उनसे सम्पर्क न रक्खे।

४—स्त्रियों के मनोहर और मनोरम अङ्गों को न देखे। यदि अकस्मात् दृष्टि पड़ जाये तो उनका ध्यान न करे और शीघ्र ही उन्हें भूल जाये।

५—जिसमें घी वगैरह टपक रहा हो ऐसा पक्वान्न या गरिष्ठ भोजन न करे, क्योंकि गरिष्ठ भोजन विकार उत्पन्न करता है।

६—रूखा, सूखा भोजन भी अधिक न करे। आधा पेट अन्न से भरे, आधे में से दो हिस्से पानी से तथा एक हिस्सा हवा के लिये छोड़ दे। इससे मन स्वस्थ रहता है।

७—पहिले भोगे हुए भोगों का स्मरण न करे।

८—स्त्रियों के शब्द, रूप या ख्याति वगैरह पर ध्यान न दे, क्योंकि इ से चित्त में चंचलता पैदा होती है।

९—पुण्योदय के कारण प्राप्त हुए अनुकूल वर्ण, गन्ध, रस, स्पर्श वगैरह के सुखों में आसक्त न हो।

*